प्राचीन भारत की सस्कृति और सभ्यता
एक ऐतिहासिक रूपरेखा

प्राचीन भारत की संस्कृति और सभ्यता

एक ऐतिहासिक रूपरेखा

दामोदर धर्मानन्द कोसम्बी

अनुवाद
गुणाकर मुले

राजकमल प्रकाशन

नयी दिल्ली • पटना

मूल्य रु० ३० ००

द्वितीय पुनरनुवादित सस्करण १९७७

प्रकाशक राजकमल प्रकाशन प्राइवट लिमिटेड
८, नेताजी सुभाष मार्ग नयी दिल्ली ११०००२

मुद्रक गजेन्द्र प्रिंटिंग प्रेस
नवीन शाहदरा दिल्ली ११००३२

प्राक्कथन

निस्सन्देह इतिहास लिखने की बजाय इसे बदलना कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण है ठीक उसी प्रकार जैसे मौसम के बारे में केवल बातें करने की बजाय उसके बारे में कुछ करना बेहतर है। स्वतन्त्र संसदीय लोकतन्त्र में प्रत्येक नागरिक यह अनुभव करता माना जा सकता है कि वह, उसकी ओर से बातें करनेवाले और चुनाव के विशेषाधिकार के लिए उस पर टैक्स लगानेवाले प्रतिनिधियों का चुनाव करके स्वयं इतिहास रच रहा है। किन्तु कुछ लोगों को अब सन्देह होने लगा है कि इतने से ही काम नहीं चल सकेगा, कि यदि शीघ्र ही कुछ और न किया जाय तो परमाणु युग के साथ समूचा इतिहास ही अचानक समाप्त हो जा सकता है।

भारत के गौरवशाली अतीत के बारे में, तथ्य अथवा सहज बुद्धि की परवाह किये बिना जो कुछ कहा गया है उसमें से बहुत-सा भारतीय चुनावों से भी अधिक स्वेच्छापूर्ण है। अनिश्चित तिथियों और राजाओं तथा पैगम्बरों की उचित ही संदिग्ध जीवनियों की ही अधिकतर चर्चा होती है। मुझे लगता है कि ऐसी स्रोत सामग्री के अभाव में भी, जो दूसरे देशों में इतिहासकारों के लिए अनिवार्य समझी जायेगी भारतीय इतिहास की प्रमुख धाराओं को अंकित करने की दिशा में कुछ अधिक सफलता प्राप्त की जा सकती है। कम-से कम यह पुस्तक, पण्डिताऊ प्रदर्शन के बिना यही करने का प्रयास करती है।

पुस्तक को इसके घोषित उद्देश्य के उपयुक्त बनाने में, चित्रों का चयन करने में तथा इसकी छपाई में श्री जोन इरविन का जो सहयोग मिला है उसके लिए मैं उनका विशेष कृतज्ञ हूँ। उनका और प्रोफेसर आर्थर एल० बाशम का मैं इसलिए कृतज्ञ हूँ कि उन्होंने इसके लिए एक अंगरेज प्रकाशक खोज निकाला। श्री सुनील जाना की कृपा रही कि उन्होंने भारतीय कबीलाई एवं ग्रामीण जीवन से सम्बन्धित अपने कुछ बढ़िया चित्रों का समावेश करने की अनुमति दी। मान चित्रों और रेखाचित्रों की परिश्रमपूर्वक जाँच करने के लिए कुमारी मार्गरेट हाल को और सोवियत संघ की चित्र-सामग्री की अनुकृतियाँ तैयार करने तथा छायाचित्र उतारने के लिए श्री सम्योन त्युलायव को भी मैं धन्यवाद देना चाहता हूँ।

इस पुस्तक म यदि कुछ मौलिकता है तो वह स्वतन्त्र रूप से किये गये मेरे क्षेत्र अनुसन्धान पर आधारित है। जिन मित्रो और छात्रो ने मेरी पद्धतियो म आस्था प्रकट की है और बडे उत्साह से उनका समथन किया है, उनके प्रति चन्द पक्तियो म कृतज्ञता व्यक्त करना सम्भव नही है।

—दामोदर धर्मानन्द कोसम्बी

मकान न० ८०३
पुणे ४
३१ जुलाई १९६४

विषय-सूची

चित्र-सूची

रेखाचित्र

मानचित्र

छायाचित्र

(पष्ठ १६० और १६१ बीच)

प्रथम अध्याय

ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य

१ १ भारत की झाकी

भारत का तटस्थता और सूक्ष्मता से अवलोकन करनेवाले किसी भी निष्पक्ष व्यक्ति को दो परस्पर विरोधी विशेषताएँ अवश्य दिखायी देंगी अनेकरूपता के साथ-साथ एकता भी ।

यहाँ की अन्तहीन विविधता आश्चयजनक, प्राय बेमेल जान पडती है । वेश भूषा भाषा, लोगा का शारीरिक रग रूप, रीति रिवाज जीवन-स्तर, भोजन, जलवायु भौगोलिक विशेषताए —सभी मे अधिक से-अधिक भिन्नताएँ दिखायी देती हैं । धनी भारतीय लोग या तो यूरोपीय पोशाक म दिखायी देंगे या मुस्लिम प्रभाववाले पोशाक मे अथवा भारतीय ढग के रग बिरगे और ढीले ढाले कीमती परिधान मे । सामाजिक अवस्था के निम्न छोर पर ऐसे भी भारतीय हैं जो चिथडे पहनत हैं और कमर स घुटनो तक की धोती के अलावा प्राय नगे बदन ही रहते हैं । सारे देश की कोई एक राष्ट्रभाषा नही, राष्ट्रलिपि नही । दस रुपये के नाट पर दजन भर भाषाए और लिपियाँ दिखायी दती हैं । भारतीय जाति जसी भी कोई चीज नही है । भारत म गोर वण और नीली आँखावाले लोग हैं तो श्याम वण और काली आखावाले भी हैं । इन दोना के बीच हर सम्भव मध्यवर्ती प्रकार के लोग भी हमें देखने को मिलत हैं यद्यपि आमतौर पर बाल सभी के काले होते हैं । विशिष्ट प्रकार का कोई भारतीय भोजन भी नही है यद्यपि यूरोप की अपेक्षा यहा भात, मसाले तथा साग सब्जियाँ अधिक खायी जाती हैं । उत्तर भारत के निवासी को दक्षिण भारत का भोजन अस्वादिप्ट लगता है, तो दक्षिण भारतीय को उत्तर भारत का भोजन । कुछ लोग माम मछली और अण्डो को छूते तक नही। बहुत-से लोग मर जायेंगे,

लेकिन गोमांस खाना पसन्द नहीं करते। पर ऐसे भी लोग हैं जो इन पाबन्दियों को नहीं मानते। भोजन-सम्बन्धी ये रिवाज रुचि पर नहीं बल्कि धार्मिक भावना पर आधारित हैं। देश का जलवायु भी सतरंगी है हिमालय में सदा बर्फ जमी रहती है, कश्मीर में उसका यूरोप-जैसा मौसम रहता है राजस्थान में तप्त रेगिस्तान हैं दक्षिणी प्रायद्वीप में बैसाल्ट की पवन-श्रेणियाँ और ग्रेनाइट के पहाड़ हैं दक्षिणी छोर पर उष्णकटिबन्धीय गरमी और पश्चिमी घाट की कंकरीली मिट्टी में घने जंगल हैं। दो हजार मील लम्बा समुद्रतट जलोढ़ मिट्टी की चौड़ी और उपजाऊ घाटी में महान गंगा और उसकी सहायक नदियों का समूह छोटे समूहवाली अन्य बड़ी नदियाँ कुछ प्रमुख झीलें कच्छ और उड़ीसा के दलदल – इन सबसे इस उपमहाद्वीप का मानचित्र पूरा हो जाता है।

एक ही प्रान्त के यहाँ तक कि एक ही जिले अथवा नगर के भारतीय निवासियों में उतनी ही अधिक सांस्कृतिक असमानता है जितनी कि भारत के विभिन्न भागों में प्राकृतिक असमानता है। विश्व-साहित्य में गौरव का स्थान पानेवाले रवीन्द्रनाथ ठाकुर का जन्म आधुनिक भारत में हुआ परन्तु ठाकुर के अंतिम निवास (शांतिनिकेतन) से थोड़ी ही दूर पर रहनेवाले ऐसे भी संथाल और अन्य अनपढ़ आदिवासी लोग मिलेंगे जो रवीन्द्र के बारे में आज भी कुछ नहीं जानते। इनमें से कुछ आदिवासी आज भी अन्न संग्रह की अवस्था से विशेष आगे नहीं बढ़े हैं। किसी भव्य आधुनिक शहरी इमारत का जैसे बैंक *सरकारी कार्यालय कारखाने अथवा वणिज्य संस्थान का डिजाइन किसी* यूरोपीय वास्तुविद् अथवा उसके भारतीय शिष्य ने भले ही तैयार किया हो, परन्तु इमारत खड़ी करनेवाले दरिद्र मजदूर आमतौर पर पुराने किस्म के अनपढ़ औजारों का ही इस्तेमाल करते हैं। उनकी मजदूरी का एकमुश्त भुगतान उस फोरमैन अथवा चौधरी को भी किया जा सकता है जो उनकी छोटी-सी श्रेणी का प्रधान होने के साथ-साथ उनकी जमात का मुखिया भी होता है। निश्चय ही ये मजदूर उन लोगों की गतिविधियों के बारे में कुछ भी नहीं जानते जिनके लिए ये इमारतें खड़ी की गयी हैं। वित्त व्यवस्था, नौकरशाही, कारखानों में पचासों मशीनों से होनेवाला उत्पादन और विज्ञान की मूलभूत मान्यताएँ उन इन्सानों की समझ से परे की चीजें हैं जो सीमान्त तक अतिकर्षित भूमि अथवा जंगलों में बसकर तंगहाली का जीवन व्यतीत करते रहे। जंगल में भुखमरी की हालत पैदा होने से इनमें से अधिकांश लोग विवश होकर शहरों में चले आये हैं और कोल्हू के बैल की तरह कड़ी मेहनत करनेवाले सबसे सस्ते मजदूर बन गये हैं।

परन्तु इस प्रत्यक्ष अनेकरूपता के बावजूद यहाँ दोहरी एकता भी मौजूद है। शासक वर्ग के कारण ऊपरी स्तर में कुछ समान विशेषताएँ हैं। भारतीय

पूजीपतिया का यह वग भाषा, प्रादेशिक इतिहास आदि के मामले म विभक्त होने पर भी समान स्वार्थो के कारण दो समूहा मे एकत्र है। पूजी और कारखाना का यान्त्रिक उत्पादन असली उद्योगपतिया पूजीपतिया के हाथा म है और उत्पादन के वितरण पर मुख्यत उन दूकानदार निम्न-पूजीपतिया का प्रभुत्व है जो अपनी बडी सख्या के कारण बडे शक्तिशाली बन गय हैं। अनाज का उत्पादन अधिकतर छाट छोटे खेता मे होता है। करो और कारखाना म उत्पादित वस्तुआ की कीमत का भुगतान नक्द पैसा मे करना जरूरी है, इसलिए किसान को निम्न-पूजीपतिया के एक अनिच्छुक और पिछडे हुए पक्ष की शरण म जाने के लिए विवश होना पडता है। खेती की सामान्य अतिरिक्त उपज पर भी उन आढतिया और महाजनो का कब्जा रहता है जो आमतौर पर बड पूजीपति नही बन पात। सबस धनी किसाना म और महाजना म कोई खास अन्तर नही है। चाय काफी कपास तम्बाकू, पटसन, काजू मूगफली गन्ना नारियल आदि की नक्दी पदावार अन्तर्राष्ट्रीय बाजार अथवा कारखाना म होनवाल उत्पादन से जुडी हुई है। कभी-कभी आधुनिक पूजीपति भी बडे बडे भूखण्डा म मशीना की सहायता से इन चीजो का उत्पादन करते हैं। इनम लगायी जानेवाली पूजी से जो अक्सर विदेशी होती है, इन वस्तुआ का मूल्य निर्धारित होता है और मुख्य लाभाश भी वही पूजीपति हथिया लेत हैं। दूसरी ओर दनिक आवश्यक्ता की बहुत सी चीजें मुख्यत भाड बतन आर वस्त्र, आज भी दस्तकारी के तरीको मे तयार होती हैं और कारखाना मे हानेवाले उत्पादन के साथ प्रतिस्पर्धा होन पर भी ये उद्योग जीवित हैं। देश की राजनीतिक परिस्थितिया पर पूजीपति वग के इन दो समुदाया का पूण प्रभुत्व है, और पेशवर (वकील आदि) तथा बाबू लोगा का वग इन्हे विधान-मण्डला और शासन-तन्त्र के साथ जोडन का काम करता है।

यह ध्यान देने की बात है कि भारत म, ऐतिहासिक कारणा से, सरकार ही एकमात्र सबसे बडी व्यवसायी-ठेकेदार भी है। एक बडे पूजीपति जसी इसकी सम्पत्ति भारत के सारे स्वतन्त्र पूजीपतिया की सम्पत्ति के बराबर है यद्यपि यह खास प्रकार के विनियोगा मे लगी हुई है। रेलें, हवाई सेवाए, डाक-तार, रेडियो और टेलीफोन कुछ बकें, जीवन बीमा और सुरक्षा उद्योग तो पूरी तरह राज्य के हाथ म है ही, कुछ हद तक बिजली और कोयले का उत्पादन भी राज्य द्वारा ही होता है। तल के कुआ पर राज्य का अधिकार है। बड बड तल शाधक कारखाने आज भी विदेशी कम्पनियो के हाथो मे है, परन्तु सरकारी तल शोधक कारखाने जल्दी ही अपनी पूरी क्षमता म उत्पादन करने लग जायग। इस्पात का उत्पादन अधिकतर निजी अधिकार क्षेत्र म होता था, परन्तु अब सरकार ने भी बडे पमाने पर लोहे और इस्पात का उत्पादन शुरू कर दिया है।

इसके विपरीत, सरकार अनाज का उत्पादन नहीं करती। जब अनाज की दुलभता (प्राय दुकानदारो और दलालो द्वारा पदा किये गये नकली अभाव) के कारण सस्ते मजदूरो के शहर छोडकर चल जाने की स्थिति पदा होती है, तो सरकार विदेश से मँगाये गये अनाज का प्रमुख औद्योगिक केन्द्रो मे राशन-व्यवस्था द्वारा वितरण करती है। इस व्यवस्था से बडे और छोटे दोनो वर्गों के पूजीपति खुश रहते हैं क्योकि इसस दोनो म से किसी के भी मुनाफे पर कोई आच नही आती। अनाज की इस अस्थिर स्थिति को सुस्थिर बनाने का स्पष्ट उपाय यही है कि कृषि-कर जिन्सो म लिए जायें और अनाज भण्डार तथा वितरण की कारगर व्यवस्था सरकार अपने हाथ मे ले ले। यह सुझाव कई बार दिया गया है—और प्राचीन भारत मे भी यही प्रथा थी—परन्तु इस दिशा मे कुछ भी नही हुआ है। आयात किये हुए अनाज को न ही कारगर चूषण पम्पो द्वारा जहाजो स उतारा जाता है न ही आधुनिक ढग के उत्थापित भण्डारो मे जमा रखा जाता है और न ही इस यान्त्रिक तरीका से साफ भी किया जाता है। उपभोग की वस्तुओ का उत्पादन निजी क्षेत्र म होता है। इस क्षेत्र म भी दो कारणो से सरकारी हस्तक्षप जरूरी है। एक, इसके बिना अथ-व्यवस्था, असयत लोभ और अनियन्त्रित उत्पादन के कारण छिन्न भिन्न हो जायगी, विशेषत इसलिए भी कि बहुत-सा कच्चा माल और प्राय सारी मशीनें विदेशो स मँगानी पडती हैं जिसके लिए विदेशी मुद्रा की बडी कमी है। दूसरे पूजीपति वग ने दोनो महायुद्धो से जनित अभावो के दिनो मे वस्तुओ की दुलभता नियन्त्रित उत्पादन और काले बाजार के अथशास्त्र का पूण ज्ञान हासिल किया और इसी के बल पर सत्ता हथिया ली। दरअसल इन्ही महायुद्धो और अभावो के कारण पूँजी का सचय हुआ और अन्तत अग्रेजो के हाथो से सत्ता भारतीयो के हाथो म आ गयी। सरकार का उदाहरण के तौर पर प्रतिजविक पदार्थों (एन्टीबायोटिक्स) और औषधियो का एकाधिकारी उत्पादक बनने के लिए विवश होना पडा है क्योकि इस क्षेत्र मे भी निजी उद्योग ने अपने लोभ और मानव कल्याण के प्रति अतिघातक अवहेलना का परिचय दिया है। नियन्त्रण का काम सँभालनेवाली और भविष्य के विकास की योजनाए बनानेवाली सरकार सभी वर्गों स पर जान पडती है। अग्रेजो स उत्तराधिकार म मिले हुए प्रशासन तथा उच्च अधिकारी-तन्त्र की यह खबी है कि वह सदा स ही अपन को भारतीय स्तर स ऊपर समझता रहा है और वसा आचरण करता रहा है। निस्सन्देह अन्तिम विश्लेषण म सरकार का सचालन पूणत एक ही वग के हाथ म है। अत सरकार किसको और कसे नियन्त्रित करती है यह इस बात पर भी निभर है कि सरकार पर किसका नियन्त्रण है। हाल मे चीन के साथ हुई सीमा-सम्बन्धी झडपो के कारण केन्द्रीय राजसत्ता को विशेष तानाशाही अधिकार ग्रहण करने का मौका मिला है जिसके

फलस्वरूप समाजवाद अथवा अन्य किसी लक्ष्य तक जल्दी से पहुचा जा सकता है। यदि तब भी देश पहले की तरह ही समाजवाद से कोसो दूर रहता है, तो फिर इस व्यग्योक्ति मे कुछ सचाई अवश्य होगी कि हमने सही दिशावाला माग नही पकडा है। इसके बावजूद, कट्टर-से-कट्टर आलोचक को भी यह स्वीकार करना होगा कि स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद प्रगति हुई है फिर वह जितनी अधिक होनी चाहिए थी या हो सकती थी उतनी भले ही न हुई हो। ब्रिटिश शासन के अन्तिम दिनो म जिन अनावश्यक मानव निर्मित अकालो के कारण बगाल और उडीसा म लाखो लोगो की जानें गयी, वे आज उतने ही अयथाथ लगत हैं जितने कि औपनिवेशिक कुशासन के जमाने के अन्य भयावह दु स्वप्न।

१ २ आधुनिक शासक-वग

शहरो म आबाद भारतीय पूजीपति वग की सबस स्पष्ट विशेषता है—विदेशी प्रभाव। आजादी के बाद चौदह साल गुजर गय, फिर भी भारत मे प्रशासन बडे व्यवसाय और उच्च शिक्षा की भाषा आज भी अग्रेजी ही है। इस स्थिति को बदलने के ठोस प्रयास नही हुए, यद्यपि असमय समितिया ने नेक इरादे के प्रस्ताव पास किय हैं। बुद्धिजीवी, न केवल अपने वस्त्रो मे, बल्कि उससे भी बढकर साहित्य और कला मे नवीनतम ब्रिटिश फशन की नकल करता है। आधुनिक उपन्यासो और कथाओ की रचना देशी भाषाओ म भी, विदेशी नमूना अथवा विदेशी प्रेरणा पर आधारित है। भारतीय नाटक दो हजार साल से भी अधिक पुराना है किन्तु आज के भारत का शिक्षित रगमच, और उसस भी बढकर भारतीय सिनेमा, दूसरे देशो के रगमच और सिनेमा की नकल करता है। भारतीय काव्य मे यह विदेशीपन कुछ कम है, यद्यपि विषय-वस्तु और मुक्तछन्दो के चुनाव म यह विदेशी प्रभाव स्पष्ट दिखायी देता है।

इस बुद्धिजीवी वग ने यूरोपीय महाखण्ड की साहित्यिक और सास्कृतिक परम्परा के रत्नकोष की प्राय उपेक्षा ही की है। इस निधि से इनका सम्पक अग्रजी माध्यम की घटिया पुस्तको तक ही सीमित रहा है। दरअसल, भारत मे पूजीपति-वग के सम्पूण ढाचे का विकास बाह्य शक्तियो से प्रभावित हुआ है। देश म सामन्ती और सामन्ती पूव काल की सम्पत्ति का अपार सचय था, जो सीधा आधुनिक पूजी म नही बदला। इसके काफी बडे अश को अग्रेज अठारहवी और उन्नीसवी सदी म लूट ले गये। यह धन जब इग्लण्ड पहुचा तभी उस देश मे महान औद्योगिक क्रान्ति हुई और तभी यह धन यान्त्रिक उत्पादन से जुडकर सही अथ मे आधुनिक पूजी म रूपान्तरित हुआ। इस परिवतन के कारण भारत का अधिक शोषण होने लगा क्योकि प्रशासन और सनिक प्रबन्ध का बोझ लगातार बढता ही गया। पेंशन, लाभाश तथा ब्याज का पसा अधिकतर इग्लण्ड को ही जाता था। विजेता ही भारत के कच्चे माल की कीमत निर्धारित करत थ। नील
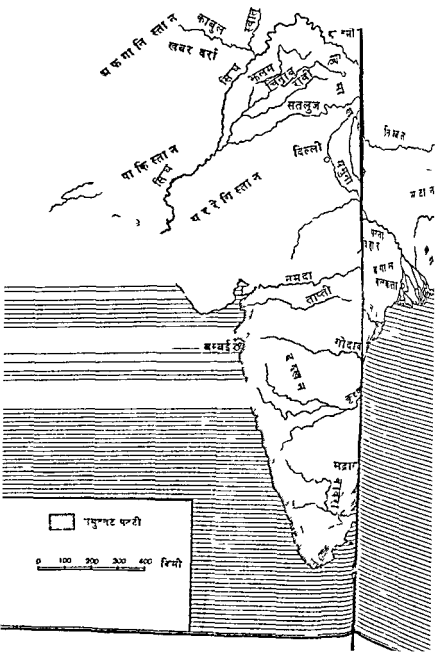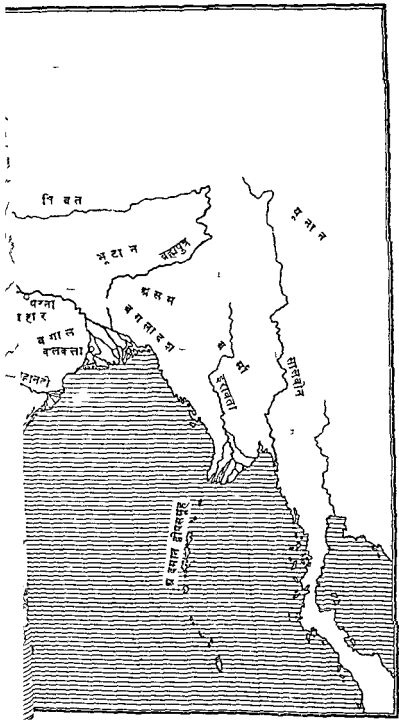
अफगानिस्तान
काबुल
स्वात
खबर दर्रा
सिंध
झेलम
चिनाब
रावी
सतलुज
तिब्बत
दिल्ली
यमुना
पाकिस्तान
सिंध
थरपारकर
नर्मदा
ताप्ती
बम्बई
गोदावरी
मद्रास
रेगिस्तान

तिबत
भूटान
ब्रह्मपुत्र
पटना
कलकत्ता
इरावती
सालवीन

यदि भाष्य न साथ लिया तो मोटे तौर पर यह मालूम हो सकता है कि रचना किस सदी की है, अथवा, अधिकतर यही कहा जा सकता है कि रचनाकार अवश्य हुआ है। कभी-कभी तो यह भी संदिग्ध होता है, बहुत-सी कृतियाँ जो एक लेखक के नाम से प्रसिद्ध हैं सम्भवत एक ही लेखक की रचनाएँ नहीं हो सकतीं।

इन सब कारणों से बुद्धिमान पण्डित भी यह कहने लगे हैं कि भारत का कोई इतिहास नहीं है। निश्चय ही, रोम या यूनान के इतिहास की तरह प्राचीन भारत का तथ्यपूर्ण एवं ब्योरेवार इतिहास प्रस्तुत करना सम्भव नहीं है। लेकिन इतिहास क्या है? यदि इतिहास का अर्थ केवल बड़ी-बड़ी लड़ाइयों और कुछ खास अहंकारी नामों का सिलसिला ही है तो भारत का इतिहास लिखना कठिन है। परन्तु यदि किसी राजा के नाम की बजाय यह जानना अधिक महत्त्वपूर्ण है कि उसके राज्य के किसान हल का इस्तेमाल करते थे या नहीं, तो भारत का इतिहास मौजूद है। इस ग्रन्थ में मैं इस परिभाषा को लेकर चलूंगा उत्पादन के साधनों और सम्बन्धों में होनेवाले क्रमिक परिवर्तनों का कालक्रम से प्रस्तुत किया गया विवरण ही इतिहास है। इस परिभाषा का लाभ यह है कि ऐतिहासिक घटनाओं के सिलसिले को प्रस्तुत किये बिना ही इतिहास लिखा जा सकता है। तब हम समस्त जन-समुदाय की रोजमर्रा जीवन-पद्धति का विवरण प्रस्तुत करने के लिए संस्कृति शब्द को भी मानवजातिवेत्ता के अर्थ में ही ग्रहण करना होगा। यहाँ इन परिभाषाओं पर अधिक सूक्ष्मता से विचार करना जरूरी है।

कुछ लोग संस्कृति को धर्म दर्शन कानून-व्यवस्था साहित्य कला संगीत आदि के साथ जोड़कर नितान्त बौद्धिक तथा आध्यात्मिक मूल्यों के रूप में ही ग्रहण करते हैं। कभी कभी इसका विस्तार करके शासक वर्ग के शिष्टाचारों को भी इसमें समावेश कर लिया जाता है। इन पण्डितों के मतानुसार, इतिहास ऐसी ही 'संस्कृति' पर आधारित है और इतिहास में केवल इसी 'संस्कृति' का विवरण होना चाहिए अन्य बातों का कोई महत्त्व नहीं। परन्तु इस प्रकार की संस्कृति को इतिहास का प्रेरणास्रोत मानने में अनेक कठिनाइयाँ हैं। ऐसी ही शानदार तीन महानतम संस्कृतियों—भारतीय चीनी और यूनानी—का मध्य एशिया में सम्मिलन हुआ और साथ ही दो बड़े धर्मों—बौद्ध धर्म और ईसाई धर्म—का भी मिलन हुआ। व्यापार की दृष्टि से इस केन्द्रीय क्षेत्र का विशेष महत्त्व था और कुषाण साम्राज्य के अन्तर्गत इसका राजनीतिक महत्त्व भी बढ़ गया था। मध्य एशिया की खुदाई में आज भी खूबसूरत पुरावशेष प्राप्त हो रहे हैं। परन्तु मानव-संस्कृति और मानव इतिहास को इस सुविकसित मध्य एशिया का मौलिक योगदान काफी कम रहा। अरबों का उत्थान निश्चय ही कम संस्कृत परिवेश में हुआ परन्तु उन्होंने यूनानी और भारतीय विज्ञान के महान आविष्कारों को

सुरक्षित रखने विकसित करने और उन्हें भावी पीढियो तक पहुचाने का महत्कार्य किया है। इस काय मे भाग लेनेवाले मध्य एशिया के अल-बेरूनी-जैसे इक्के-दुक्के पण्डितो ने भी अरबी मे ही लिखा—एक मध्य एशियाई नही, बल्कि इस्लामी सस्कृति के एक सदस्य के रूप मे। असस्कृत' मगोल विजय ने पल्लवित मध्य-एशिया को जड मूल से नष्ट कर डाला, परन्तु चीनी सस्कृति पर ऐसा कोई प्रभाव नही पडा बल्कि उसे आगे विकसित होने की प्रेरणा ही मिली।

यह सच है कि आदमी केवल रोटी पर ही जीवित नही रहता, परन्तु हमने अभी तक आदमी की कोई ऐसी नस्ल तयार नही की है जो रोटी के बिना अथवा किसी-न किसी प्रकार की भोजन-सामग्री के बिना जीवित रह सके। दरअसल, खमीर रहित रोटी की खोज नवपाषाण-युग म काफी बाद मे हुई जो खाद्य-सामग्री को तयार करने और उसे सुरक्षित रखने की दिशा मे एक बडी प्रगति थी। हमे हमारी आज की रोटी दो, यह कथन आज भी ईसाइयो की रोज की प्राथना का एक अग है यद्यपि ईसाई धम-दशन आत्मा के जगत को सभी भौतिक निमित्तो से पर मानता है। किसी भी समुन्नत सस्कृति का मूलाधार है अनाज की सुलभता और वह भी वास्तविक अनाज उत्पादक की अपनी निजी आवश्यकता की पूर्ति के बाद बचे हुए अनाज की सुलभता। मसोपोटामिया के भव्य जिक्कुरात मन्दिर, चीन की महान दीवार मिस्र के पिरामीड या आधुनिक गगनचुम्बी इमारतें खडी करने के लिए उस उस काल मे अतिरिक्त अनाज की उतनी ही अधिक सुलभता भी अवश्य रही होगी। अतिरिक्त उत्पादन निभर करता है खेती के तरीको और इस्तेमाल किये जानेवाले औजारो पर, जो अतिप्रयुक्त किन्तु सुविधाजनक शब्दावली म कहे तो, 'उत्पादन के साधन' हैं। जिस प्रणाली स अतिरिक्त उत्पादन —न केवल अतिरिक्त अनाज, बल्कि अय सभी उपज—अन्तिम उपभोक्ता के हाथो म पहुचता है, वह न केवल समाज के स्वरूप से निर्धारित होती है, अपितु उससे समाज का स्वरूप भी निर्धारित होता है और यही 'उत्पादन के सम्बन्ध' कहलाते हैं। आदिम अन्न-सग्राहकों का जो थोडा-सा अतिरिक्त अनाज होता था, वह प्राय सग्रहकर्ता गिरोह की स्त्रियो मे बराबर बाट दिया जाता था। अधिक विकास हुआ, तो बँटवारे का काम कुलपति और कबीले के मुखिया करने लगे, प्राय परिवार को इकाई मानकर। जब अतिरिक्त उत्पादन बहुत अधिक होता, तो पुरोहित-वग या कुलीन वग द्वारा उसके सग्रह और वितरण की व्यवस्था का निणय कोई महान मदिर अथवा परन करता था। दासप्रथावाले समाज म उत्पान्न और विनिमय पर दासो के स्वामियो का अधिकार होता है परन्तु यह सम्भव है कि नय कामो मे जुटे हुए इन दासस्वामियो का विकास भी पहले के पुरोहितो, कुलीनो अथवा कुलपतियो मे हुआ हो। सामन्ती व्यवस्था म कृषिदासो पर नियन्त्रण रखनेवाला मुख्य एजेन्ट सामन्ती सरदार होता है। उसके प्रतिपक्षी

महत्त्वपूण सवाला को हल कर सके, या कि इन सवाला का उठा भी सके। फिर भी इस दश मे एक बडी भारी सुविधा प्राप्त है, जिसका अभी हाल तक इतिहास कारा ने लाभ नहीं उठाया था। सुविधा यह है कि विभिन्न सामाजिक स्तरा में जा अनक पुराने रूप जीवित है उनके आधार पर सवथा भिन्न प्राचीन अवस्थाओ की पुनरचना की जा सकती है। इन स्तरा की खोज करन के लिए शहरा स निकलकर देहाता म जाना होगा। कभी-कभी यह भी देखन को मिलेगा कि इन स्तरा पर शिक्षा, हाल की राजनीतिक हलचलो सिनेमा, रेडियो और शहरी उत्पादन की प्रभुतावाले व्यापार का प्रभाव पडा है इसलिए इस प्रभाव को अलग करके देखना होगा। परिवहन के नय द्रुतगामी साधना स दूर दूर तक बडे परिवतन हुए हैं, जसे, उन्नीसवी सदी के उत्तराद्ध से रेलो के कारण और १६२४ से मोटर बसा के सडक परिवहन के कारण। इनके प्रभाव को ध्यान मे रखने में कठिनाई नही है विशेषत इस विशाल देश के दूर के देहाती इलाका मे जान पर। ब्यौरे मे जाने पर स्थानीय भिन्नताए दिखायी देती हैं। देश म कुछ ऐसे भाग हैं जहां एक या दो अवस्थाएँ गायब हैं कभी-कभी परिवतन का दौर आगे पीछे भी रहा है। लकिन जहां तक वस्तुत महत्त्वपूण मूलभूत परिवतनो का प्रश्न है मुख्य रूपरेखा एक-सी ही है।

भारत आज भी किसाना का दश है। कृषि का विकास बहुत अधिक हुआ है परन्तु यह आज भी पुराने तरीका स की जाती है। दो हजार वर्षो की खती स अधिकाश भूमि अतिकर्षित हा गयी है और चराई भी बहुत अधिक हुई है। खता पुरान तरीको स हाती है और खेत इतने छोटे हैं कि आर्थिक दष्टि स लाभप्रद नही, इसलिए प्रति एकड उपज बहुत ही कम होती है। भूमि को हवाई जहाज स देखने पर जा खास बात नजर आता है वह है परिवहन का भारी अभाव। यूरोप या अमरीका म सडको और रेलमार्गो का जसा घना जाल बिछा हुआ देखन को मिलता है वसा यहां नही है। इसका अथ यह है कि स्थानीय उपज काफी अधिक होती है और वही पर उसकी खपत भी होती है। उत्पादन के इसी पिछड हुए अक्षम और स्थानीय स्वरूप के कारण अनक पुराने कबीलाई समुदाय अब तक जीवित बचे है हालांकि वे अब विनाश के कगार पर खडे है। सम्पूण ग्रामीण अथ-व्यवस्था मौसमी वर्षा—मानसून—पर आधारित है। दश के विभिन्न भागो म साल भर मे २० से ३०० इच तक मानसूनी वर्षा होती है। इसस कम वषा होन का अथ है अकाल का क्षत्र अथवा सिंचाई की व्यवस्था। यह वर्षा अधिकतर जून स सितम्बर तक के चार महीना म होती है। परन्तु मानसून का आरम्भ दक्षिण की अपेक्षा उत्तर मे दरी से होता है। पूर्वी समुद्रतट के प्रदश म अन्तिम मानसून दो पृथक लहरा म आता है। इन विभिन्नताओ के कारण प्रत्यक क्षत्र का वार्षिक चक्र अलग-अलग है। भारी वषा के बावजूद (हवाई जहाज से देखन पर) दश

का अधिकाश भाग हालण्ड या इग्लण्ड के हर भर खेतो की तुलना मे रगिस्तान जसा दिखायी दता है। घास का नामा निशान नही, पानी के तेज बहाव स ऊपर की मिट्टी बह जाती है। यह एक नयी विशपता है, पिछली सदी के अन्त समय म वनकटाई अपनी सीमा पार कर गयी। परन्तु यहा जिस प्राचीन युग से हम सराकार है, उसके बारे म यह ध्यान म रखना हागा कि मौसमी वर्षा से उत्पन्न समस्याएँ देश के भिन्न भिन्न प्रदेशा म भिन्न भिन्न थी। दक्षिणी पजाब, सिन्ध और राजस्थान का अधिकाश भाग मरुक्षेत्र अथवा अद्ध मरुक्षेत्र जसा था, परन्तु मिट्टी जलोढ है और इतनी उपजाऊ है कि सिंचाई अथवा थोडी वर्षा से ही बढिया फसल होती है। गगा की द्रोणी की मिट्टी भी जलोढ है और अत्यधिक उपजाऊ है, परन्तु यहाँ (और कुछ हद तक उत्तरी पजाब म भी) वर्षा बहुत अधिक हाती है। अत प्राचीन काल म इस क्षेत्र म विशेषत पूर्वी उत्तर प्रदेश, बिहार और बगाल म, घने जगल और दलदल थ। पश्चिमी घाट और असम के पहाडो म भारी वनकटाई के बावजूद, आज भी जगल मौजूद है। समुद्रतट के समीप की समतल भूमि म जहाँ के जगल अब काट दिय गय हैं साल भर म तीन फसलें निकल सकती हैं, परन्तु यहा की घनी आबादी केवल स्थानीय उपज पर जीवित नही रह सकती, यहाँ की अथव्यवस्था नारियल-जसी नकदी फसलो पर निभर है। मध्य भारत और दक्षिणी प्रायद्वीप के कुछ पहाडी क्षेत्रा के खनिज भण्डारो का काफी हद तक सही इस्तेमाल अब होने लगा है। नवशवेत्ता आज भी यहा के कबीलाई लोगो (भील नीलगिरी के टोडा, सथाल उरांव आदि) का अध्ययन कर रहे हैं। दक्षिणी पठार मे घने जगल न कभी थे, न आज हैं यहाँ जगह जगह पर नगी पहाडिया है पश्चिमी भाग म बसाल्ट की और दूर दक्षिण-पूव मे ग्रेनाइट की। यहाँ की औसत मिट्टी अधिक उपजाऊ नही है, परन्तु कुछ खास क्षत्रा की काली मिट्टी कई फसला के लिए, विशेषत कपास के लिए, बढिया है। इस काली मिट्टी की नियमित खेती के लिए भारी हल की जरूरत होती है। गुजरात की अपनी खास लोएस यानी पवनोढ मिट्टी है। य भिन्नताएँ इन क्षेत्रा के एतिहासिक विकास मे भी प्रतिबिम्बित हाती हैं यद्यपि हर क्षेत्र के विकास का माग पृथक रहा है।

देश की इस नानारूप भूरचना और सवसामान्य उष्ण जलवायु ने किसान वग के आन्तरिक विभेदीकरण को—जिसका कारण भिन्न भिन्न स्थानीय इतिहास है—और अधिक बढावा दिया। भारतीय समाज की मुख्य विशेषता जो दहाती इलाका मे सबसे अधिक प्रबल है, जाति प्रथा है। इसका अथ है समाज के ऐस विभक्त समूह जो पास पास तो रहते हैं परन्तु अक्सर मिल-जुलकर रहते हुए दिखायी नही देते। विभिन्न जातियो के लोग धम के आधार पर आपस म शादी-ब्याह नही कर सकत, यद्यपि इसके लिए अब कानून ने पूरी

आजादी दे रखी है। इस बडी प्रगति का कारण है पूजीवादी व्यवस्था, जिसके कारण शहरो म राजनीतिक और आर्थिक गुटा को छोडकर जाति प्रथा लुप्त होने लगी है। अधिकाश किसान नीची जाति के आदमी के हाथ से पकाया गया खाना अथवा पानी ग्रहण नही करत अर्थात, जाति व्यवस्था की एक मोटी क्रम परम्परा है। व्यवहार मे एसी जातियो की सख्या हजारा तक पहुचती है। परन्तु सिद्धात मे केवल चार ही जाति-वण हैं ब्राह्मण या पुरोहित जाति, क्षत्रिय (योद्धा) वैश्य (व्यापारी और किसान) और सबस निम्न शूद्र, जो सामान्यत मजदूर वग की सूचक है। यह सैद्धान्तिक व्यवस्था मोटे तौर पर वग मूलक है, जबकि व्यवहार म दिखायी देनेवाली जातियो और उपजातियो का विकास स्पष्ट रूप से विभिन्न मानववशा के कबीलाई समूहा से हुआ है। उनके नामा से यह साफ जाहिर है। छोटी स्थानीय जातियो की सापेक्ष स्थिति सदव इस बात पर निभर करती है कि ग्राम बाजार का विस्तार कितना है और उसम जाति विशेष की आर्थिक प्रतिष्ठा कसी है। बिहार के किसी जुलाहे को यदि एकाएक महाराष्ट्र के किसी आगरिया के देहात मे पहुचा दिया जाय तो उस अपन आप कोई स्पष्ट हैसियत नही मिलेगी। परतु बिहार म उसकी प्राथमिक प्रतिष्ठा इस बात पर निभर करती है कि सामान्यत जिन गाँवो स उसका सम्बन्ध है उनमे उसकी जाति की हैसियत क्या है। सामान्यत यह हैसियत विभिन्न जातिया के सापेक्ष आर्थिक सामर्थ्य स निर्धारित होती है। जातियो की इस क्रम परम्परा मे एक ही जाति की दो भिन्न क्षत्रा मे अलग-अलग स्थितियाँ हो सकती हैं। यदि यह विभेद कुछ समय तक कायम रहता है तो दोना शाखाए अक्सर अपने को अलग-अलग जातियाँ मानने लगती है और उनमे आपस म शादियाँ भी नही होती। जिस जाति का आर्थिक स्तर जितना नीचा होता है सब मिलाकर उसका सामाजिक स्तर भी उतना ही नीचा होता है। सबस नीचे के स्तर मे आज भी विशुद्ध कबीलाई समूहो को देखा जा सकता है जिनम स अधिकाश कबीले अन्न-सग्राहक की अवस्था मे हैं। उनके चहुओर का सामान्य समाज अब अन्न-उत्पादक है। इसलिए अत्यन्त निम्न जाति के ये लोग अन्न सग्रह की बजाय आमतौर पर अब भीख मागने या चोरी करने लगे हैं। ऐस ही निम्नतम समूहो को भारत के अग्रज शासको ने जरायमपेशा जातियाँ कहा था क्योकि ये लोग आमतौर पर अपने कबीले के बाहर की कानून-व्यवस्था को नही मानते थे।

भारतीय समाज के स्तरविन्यास का कायक्षत्र म जाकर यदि बिना पक्षपात के अध्ययन किया जाये तो स्पष्ट होगा कि यह न केवल भारतीय इतिहास मे प्रतिबिम्बित होता है, अपितु काफी हद तक इसकी व्याख्या भी करता है। यह आसानी से सिद्ध किया जा सकता है कि अनेक जातियो का निम्न सामाजिक और

आर्थिक स्तर इस कारण है कि उन्होंने पहल या आधुनिक काल मे अन्न-उत्पादन और हल की खेती को अपनाने से इनकार किया है। निम्नतम जातिया अक्सर अपने अनुष्ठाना सस्कारा और मिथका को सुरक्षित रखती हैं। थोड़े ऊँचे स्तर म इन धार्मिक अनुष्ठाना और आख्याना को हम सक्रमण की स्थिति मे देखते हैं, अक्सर दूसरी समानान्तर परम्पराआ मे आत्मसात् होते देखते हैं। एक सीढी और ऊपर जाने पर दिखायी देता है कि ब्राह्मणा ने अपनी सुविधा के लिए और पुरोहित वग न अपनी जाति का प्रभुत्व जमान क लिए इन्हें फिर से लिखा है। सामान्यत निम्न जातियो की पुरोहिती ब्राह्मणा के हाथा म नही है। और ऊँचे स्तर में पहुचने पर हम उन साक्षर परम्पराओं के दशन होते हैं जो प्राय काफी पुरानी हैं और हिन्दू सस्कृति के नाम से जानी जाती हैं। पर देवो और दत्यो की य कथाएँ मूलत निम्न वर्गों मे भी एसी ही हैं। ब्राह्मण धम का मुख्य काय यही रहा है कि इसन इन आख्यानो को एकत्र किया इन्हें कथाचक्रा म बाँधकर फैलाया और फिर एक अधिक विकसित सामाजिक चौखट मे रखकर इन्ह प्रस्तुत किया। या तो बहुत-से मूलत भिन्न देवताआ और सम्प्रदाया को एक रूप बनाया गया (महतिवाद), या कई देवी देवताआ का एक परिवार खडा किया या दवताआ का एक राज दरबार ही बना डाला। सबसे ऊँचे स्तर म उन दाशनिक मता के दशन हाते हैं जिनका प्रतिपादन भारतीय इतिहास के महान धार्मिक नेताओं ने किया है। इनमे से किसी मत विशेष का जब पहली बार प्रतिपादन हुआ उस समय आमतौर पर वह काफी उन्नत भारतीय समाज का सूचक रहा है। लेकिन बाद मे जब समाज आग बढ गया, तो वही मत भारत को पिछडा हुआ रखने म भारी योग देन लगा, क्योंकि सगठित धार्मिक सम्प्रदायो के नेता अपने अपन सम्प्रदाय के सस्थापक की मान्यताओ से रत्तीभर भी आगे बढन को तयार नही थे। य धार्मिक सम्प्रदाय स्वय इतिहास के अग नही हैं परन्तु इनके उत्थान और इनकी काय प्रणाली के परिवतन म इतिहास की बढिया सामग्री मिलती है। जान पडता है कि भारतीय समाज का विकास रक्तपात की बजाय क्रमागत धार्मिक रूपान्तरणो से अधिक हुआ है और यही कारण है कि बाद मे जब काफी रक्तपात भी मचाया गया तो भी इसका विकास नही हो सका। प्राचीन भारत के अधिकाश उपलब्ध ग्रन्था म धम और अनुष्ठानो की चर्चा बहुत अधिक है। इनके लखका को इतिहास अथवा वास्तविकता से कोई मतलब नही था। जिस समय ये ग्रन्थ लिखे गय थे उस समय के भारतीय समाज *की वास्तविक रचना का यदि कुछ पूवज्ञान न हो तो इनसे* इतिहास की सामग्री निकालने के प्रयास या तो निष्फल रहेंगे या ऐसे हास्यास्पद निष्कष निकलेंग जसे कि भारत के अधिकाश 'इतिहासा म पढ़ने को मिलत हैं।

न केवल जाति प्रथा की बल्कि धर्म के बोलवाले की और ऐतिहासिक दृष्टि कोण के अभाव की भी व्याख्या करना जरूरी है। इनमे से ऐतिहासिक दृष्टिकोण के अभाव का कारण काफी स्पष्ट है इसका सम्बन्ध ग्रामीण उत्पादन और ग्रामीण जीवन की मूढ़ता से है। ग्रामीण जीवन के लिए ऋतुचक्र का ही सर्वाधिक महत्त्व है, जब कि देहातों में साल-दर-साल का संचित परिवर्तन बहुत कम नजर आता है। यही कारण है कि विदेशी पर्यवेक्षकों के मन में एक प्रकार के कालातीत पूर्व की भावना जन्म लेती है। भारहुत के १५० ई० पू० के शिल्पों में दिखायी देनेवाली बैलगाडी और झोपडी अथवा २०० ई० के कुषाण उच्चित्रों में दिखायी देनेवाले हल और हलवाहे यदि एकाएक आज के भारतीय देहात में दीख जायें, तो इससे किसी को कोई आश्चर्य नहीं होगा। इससे यह भूलना आसान हो जाता है कि नियत भूखण्डों पर हल से की जानेवाली खेती की देहाती अर्थव्यवस्था का ढांचा उत्पादन के साधनों की महती प्रगति का सूचक है। इसी के अनुरूप उत्पादन के सम्बन्धों का भी अन्न संग्रह की अवस्था से अधिक जटिल होना स्वाभाविक था। आधुनिक भारत के देहातों में घोर दरिद्रता और निस्सहायता का वातावरण साफ दिखायी देता है। दूकानें भी प्राय ऐसे ही देहातों में मिलेंगी जो आसपास के देहातों के लिए केन्द्रीय मार्केट जैसे हैं और सार्वजनिक इमारत के नाम पर मिलेगा किसी देवी देवता का देहात की सीमा पर खडा कोई मन्दिर जो धूप और वर्षा के आघातों को झेलता रहता है। उपयोगी वस्तुएँ या तो कभी कभार आनेवाले फेरीवालों से या फिर कुछ खास देहातों में लगनेवाले साप्ताहिक हाटों से खरीदी जाती हैं। गांवों में होनेवाली उपज की बिक्री अधिकतर बिचौलियों के हाथों में होती है और महाजन भी यही लोग होते हैं। देहाती अर्थव्यवस्था इनके शिकंजे में होने से किसान कर्जदार हो गये हैं और इस समस्या का सरकार अथवा खासगी संस्थाओं ने कोई हल नहीं खोजा है, सिवाय कागजों पर कोरी योजनाएँ बनाते जाने के। मानसून के खत्म होते ही अधिकांश देहातों में पानी की कमी लगातार बढती ही जाती है पीने का अच्छा पानी तो किसी भी मौसम में नसीब नहीं होता। भारत में भूख और बीमारी बड़े पैमाने पर व्याप्त है। चिकित्सा और स्वच्छता की व्यवस्था के अभाव से तो गाँवों की परम्परागत उदासीनता सबसे अधिक उजागर हो जाती है, और यही गाँव देश की राजनीतिक अर्थव्यवस्था के मूल घटक और निरंकुश शासन के आधारस्तम्भ रहे हैं। ऐसी गरीबी और अधोगति में रहनेवाले लोगों से वसूल की गयी अतिरिक्त उपज ही भारतीय संस्कृति और सभ्यता की भौतिक नींव रहा है आज भी है।

देहातों की दुख-दयनीयता भले ही एकरूप दिखायी देती हो परन्तु उसके पीछे

चित्र १ हल जोतना, ढेले फोड़ना, बीज बोना और कूँडों में बीज ढकना। खाना लानेवाली धाय सम्भवतः गृह है। लन्दन के इण्डिया आफिस ग्रन्थालय (प्राच्य खण्ड संख्या ७१) की उन्नीसवीं सदी की एक फारसी हस्तलिपि का चित्र। यह दृश्य कश्मीर का है, पर भारत के अन्य भागों में भी सिवाय किसानों के भिन्न-भिन्न पहनावे के, अधिकतर ऐसा ही है।

भिन्नता छिपी गई है। अधिकांश उत्पादनकर्ता वे किसान हैं जिनके छोटे छोटे खेत हैं। कुछ किसान आत्मनिर्भर हैं। कुछ तो जमींदार-वर्ग की तरह शक्तिशाली बन गये हैं फलस्वरूप भूमि-सम्बन्धी मौजूदा कानून से इन्हें और भी अधिक बल
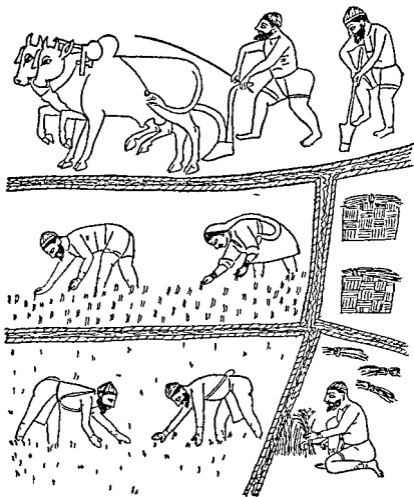
चित्र २ धान की खती। बियाड में से निकालकर धान की पौध को पहले स तयार किय गय टखनो तक कीचड भर खतो मे रोपा जा रहा है। सिचाई की नालियाँ भा दिखायी गयी हैं। पानी भरन के पहले ही खतों की जुताई की जाती है अन्यथा बलो के स्थान पर भारतीय भसो को उपयोग म लाना पडता है। रोपन क पहल पौध को किसी उवरक म डबोया जाता है। खाली हुए बियाड मे तब फलियाँ बोई जाती हैं और इस प्रकार फसल अपन आप बारी-बारी स बदलती रहती है। चित्र पहले के ही स्रोत से।

मिला है। उवर खेता पर अधिकतर उन लोगो का कब्जा है जो स्वय किसान नही हैं न ही व स्वय खेती का काम करत हैं। बड जमीदार आमतौर पर दहाता म नही रहत भूमि पर उनका स्वामित्व सामायत सामती युग स चला

आ रहा है। अंग्रेजो के आने पर इनमे से बहुतो ने अपनी सामन्ती जिम्मेदारियाँ छोड दी और ये पूजीवादी भूस्वामी बन गये। परन्तु अंग्रेजो ने इनके सारे पटटो को पजीकृत करके नकद कर निर्धारित कर दिये। इसका अर्थ यह हुआ कि आज कोई भी देहात स्वत पूर्ण नही है। यहाँ तक कि दूर दराज के देहात को भी कुछ न-कुछ बेचना ही पडता है—न केवल थोडा कपडा और घरेल चीजें खरीदने के लिए बल्कि कर अथवा लगान देने के लिए भी। वसे भी देहात पूर्णत आत्म-निर्भर नही हो सकते थे। अधिकतर भारत म कपडा की गिनती भौतिक आवश्यकताओ मे नही होती, यद्यपि ये सामाजिक आवश्यकता अवश्य बन गये हैं। परन्तु नमक की आवश्यकता सदैव ही रही है और नियमित कृषिकर्म के लिए धातुओ की थोडी बहुत जरूरत अवश्य पडती है। भारतीय देहात कालातीत भले ही प्रतीत हो परन्तु एक पूजीवादी अर्थव्यवस्था के ढाचे मे यह भी अब जिन्सो के उत्पादन से बध गया है।

फिर भी यह सच है कि भारतीय गाँव काफी हद तक स्वत पूर्ण है। जन-सख्या म वृद्धि के कारण जब कोंकण अथवा मलाबार के लोग दूर के बडे शहरो म नौकरी करने जाते हैं और घर पैसा भेजते हैं, तभी देहातो पर शहरो के नियन्त्रण का प्रत्यक्ष अनुभव होता है। अन्यथा, देहातो का शहरो से सम्पर्क दौरे पर निकले हुए मुख्यत उन्ही अफसरो के माध्यम से होता है जो प्राय उसी समय यह कष्ट उठाते हैं जब बकाया कर की वसूली करनी होती है। आजकल वोट बटोरनेवाले राजनीतिज्ञ भी पाँच साल में एक बार चुनाव के पहले देहातो में पहुचने लगे हैं। इस अर्थव्यवस्था म स्पष्टत प्रति व्यक्ति जिन्स उत्पादन बहुत कम है। जिन्स उपयोग की वह चीज अथवा वस्तु है जो आदान प्रदान के द्वारा अन्तिम उपभोक्ता के हाथो म पहुँचती है। जो कुछ भी मनुष्य अपने लिए अथवा अपने परिवार के लिए अथवा अन्य सगोत्रीय परिवारो के लिए पैदा करता है और उसी सीमित समूह म उस पैदावार का इस्तेमाल होता है या जमीदार अथवा उसका भी कोई स्वामी उस पैदावार को बिना मूल्य चुकाए ही ले जाता है तो वह जिन्स या पण्य वस्तु नही कहलाती। कुछ वस्तुओ के उत्पादन मे विशेष तकनीकी ज्ञान की जरूरत होती है। यद्यपि भारतीय देहातो म धातु का इस्तेमाल बहुत कम होता है परन्तु गाँववालो को बर्तनो की जरूरत होती ही है, विशेषत मिट्टी के बर्तनो की। अत गाँव म कुम्हार का होना जरूरी है। इसी प्रकार, औजारो की मरम्मत के लिए और हल का फाल गढने के लिए लोहार की तथा घर बनाने के लिए और लकडी के साधारण हल आदि तैयार करने के लिए बढ़ई की जरूरत पडती है। गाँव के आवश्यक धार्मिक अनुष्ठानो की जिम्मेदारी पुरोहित को सँभालनी पडती है। सामान्यत कोई ब्राह्मण ही पुरोहित होता है यद्यपि कुछ निम्न सम्प्रदायो के लिए यह आवश्यक नही है। कुछ पेशे, जैसे नाई का या मरे हुए

चित्र ३ सब्जी की खती या बगीचा । आदमी गडढ मे 'शद्दूफ' द्वारा पानी निकाल रहा है जिसके दण्ड के एक सिरे मे घडा बधा है ता दूसरे सिरे पर भार सभालनेवाला वजन है । स्त्री का काम है यह दखना कि गाजर तथा अय सब्जियो का नालिया से ठीक स पानी पहुँचे । चित्र पूर्वोल्लिखित स्रोत से ।

जानवरो की खाल उतारनेवाले का निम्न कोटि के माने जाते हैं परन्तु नाई के काम और चमड़े की चीजें अत्यावश्यक हैं। इसीलिए गाव मे नाई और चमार का होना जरूरी है जाहिर है कि इनकी जाति अलग अलग है। सामान्यत ऐसे प्रत्येक पेशे की अपनी अलग जाति हाती है जो भारतीय सन्दर्भ म मध्ययुगीन श्रेणी (गिल्ड) के समकक्ष है। स्वत पूर्ण प्रतीत होनेवाली भारतीय गावा की अर्थ व्यवस्था की सबसे बडी समस्या यही थी कि प्रत्येक गाँव के लिए ऐसे आवश्यक कारीगर प्राप्त किए जायें यद्यपि ये कारीगर अपनी-अपनी जातियो के कारण देहात के किसान समुदाय स और एक दूसरे स अलग थे। एक सामान्य ग्रामवासी ये सब धन्धे नही कर सकता था और इन पेशों के श्रमिक अपने पेशे की जाति

को छोडकर अन्य पेशे की जाति में विवाह नहीं कर सकते थे। एक औसत गाँव एक कारीगर पेशे के केवल एक ही परिवार का भार वहन कर सकता था। साथ ही परिवहन के साधन दुर्लभ थे और जिन्स-उत्पादन (प्रति व्यक्ति जिन्स उत्पादन) का घनत्व कम था। अन्य कई देहातों की जरूरतों की पूर्ति के लिए जिन्स उत्पादकों की जैसे बन्ई या लोहारों की बस्ती स्थापित करना सम्भव नहीं था, अपवाद हैं तो केवल आरम्भिक भारतीय इतिहास के कुछ संक्षिप्त युग। अतः कारीगरों का नियमित रूप से कीमत चुकाना एक समस्या थी, इस समस्या का हल चूंकि माँग अनियमित थी, उत्पादित वस्तु के मूल्य को विनिमय का आधार मानकर एक विनिमय अर्थव्यवस्था द्वारा सुलझाना सम्भव नहीं था। तब गावों की सेवा करने के लिए कारीगरों को किस प्रकार तैयार किया जाय ? बड़ी चतुराई से इस समस्या का जो हल खोजा गया वह मन्दगति भारतीय गाँवों की अर्थव्यवस्था का मेरुदण्ड था, विशेषतः सामन्ती युग में। इस पुरानी पद्धति के बचे खुचे अवशेष अब भी देहातों में देखने को मिलते हैं, यद्यपि अब इसके स्थान पर नकद भुगतान का रिवाज बढ़ता जा रहा है। यातायात की सुविधा है इस लिए नाई या लोहार का गाँव गाँव घूमते रहना एक आम बात हो गयी है। टिन के कनस्तर और धातु के भाँडे बर्तन उपलब्ध होने से कुम्हारों की तादाद घट गयी है। ये कुम्हार अब अक्सर नकद पैसों में बिकनेवाला माल ही तैयार करते हैं। परन्तु कुम्हार को भी कुछ ऐसे अनुष्ठानमूलक कार्य पूरे करने होते हैं जिनके स्रोत सम्भवतः प्रागैतिहासिक युग की कलश शवाधान की प्रथा में हैं और जो इतने प्रतिष्ठित हो चुके हैं कि कुछ निम्न जातियाँ कुम्हार को करीब-करीब अपना पुरोहित ही मानती हैं। हड्डी बिठाने के लिए मिट्टी का प्लास्टर लगाना कुम्हार की ही खोज है। उसी प्रकार युद्ध में अथवा बीमारी के कारण क्षतिग्रस्त हुई नाक को प्लास्टिक सर्जरी से पुनः ठीक करना उस नाई जाति की खोज है जिसे कुछ हीन दृष्टि से ही देखा जाता है। अठारहवीं सदी में इन दोनों का ही खूब प्रचलन था, परन्तु प्लास्टर लगानेवाले और प्लास्टिक सर्जरी करनेवाले निम्न जाति के थे और इनसे लाभ उठानेवाले उच्च जाति के लोग विज्ञान को तुच्छ समझते थे, इसलिए इनका पूरा विकास पश्चिमी देशों में ही हो सका।

देहात में जो विभेदीकरण देखने को मिलता है उसका आधार जातिप्रथा है, और यह विभेदीकरण केवल किसान-वर्ग और कारीगर अथवा पुरोहित तक ही सीमित नहीं है। यदि समीप ही जंगल हैं तो उनमें आज भी ऐसे लोग देखने को मिलेंगे जो अन्न संग्रह की अवस्था से मुश्किल से बाहर निकल पाये हैं, जैसे पश्चिमी घाटों के कटकरी लोग या बिहार के मुण्डा और उराँव। रोग, नशाखोरी बनकटाई और सभ्यता तथा महाजनों की बढ़ोत्तरी के कारण ऐसे सीमावर्ती कबीले मिटते जा रहे हैं। यदि ये लोग खेती भी करते हैं तो वह प्रायः हर बार

नय भूखण्ड के जगल को काटकर और जलाकर ही की जाती है। यदि वे फसल की कटाई के समय भूमिधर किन्तु सबसे गरीब किसानो के साथ कुछ दिनो के लिए मजदूरी करते हैं, तो उन्हे कम मजदूरी मिलती है और वह भी प्राय अनाज के रूप म चुकाई जाती है। फसल की कटाई के बाद आमतौर पर उन्हे सिल्ला बीनने का भी अधिकार होता है—चाहे उन्होने फसल काटने मे मदद दी हो या न दी हो। थोडा बहुत शिकार कीडे मकोड, चूहे साँप, बन्दर (जिसको खाना दूसरे अधिकाश भारतीयो की दष्टि मे एक बीभत्स कृत्य है) और सिल्ला तथा भूसी से उनका उदर निर्वाह होता है। उनके जादू-टोने के अभिचार किसानो के एसे अभिचारो से अधिक क्रूर होते है कम से कम भारतीय समाचारपत्रो म दो चार साल के अतर पर समाचार पढने को मिलते ही हैं कि आनुष्ठानिक हत्या (मानव बलि) के सन्देह मे कबीले के स्त्री पुरुषो की सामूहिक गिरफ्तारी हुई है और उन पर मुकदमा चल रहा है। उनके आदिम कबीलाई देवताओ म और गाँवो म निम्नकोटि के देवताओ मे कुछ साम्य पाया जाता है। वे अक्सर गाव के देवताओ की पूजा करते है और ग्रामवासी भी उनके देवी-दवताओ को मानते हैं। गाव के जिन मेलो मे दूर-दूर के ग्रामवासी एकत्र होते हैं उनकी शुरुआत का सम्बन्ध किसी-न किसी आदिम कबीले से है भले ही वह कबीला अब लुप्त हो गया हो। इस आदिम उत्पत्ति का समर्थन ग्रामीण पूजापद्धतियो के नामो से भी होता है। अक्सर यह देखने को मिलता है कि एक किसान-समुदाय की जाति का नाम भी वही होता है जो कि उसी क्षेत्र के किसी आदिवासी कबीले का होता है। ये दो समुदाय आपस मे शादी-ब्याह नहीं करते क्योकि किसान का दर्जा ऊचा हो गया है। दरअसल खाद्य सामग्री की उपलब्धि म अन्तर के कारण और पर्याप्त तथा अधिक नियमित भोजन मिलने से न केवल शारीरिक गठन मे बल्कि कुछ ही पीढियो म चहरे की बनावट मे भी परिवर्तन होता है। फिर भी सहोदगम के कुछ चिह्न बचे हुए हैं, और इन्हे स्वीकार भी किया जाता है। कभी कभी सामूहिक वार्षिक पूजा म ये प्रकट होते हैं विशेषत मातृदेवियो की पूजा म जिनके नाम इतने विलक्षण होते हैं कि दूसरे गावो को उनकी जानकारी भी नहीं होती। लेकिन किसान दूसरे कुछ उच्च श्रेणी के देवताओ की भी पूजा करता है ये देवता काफी पुराने जान पडते हैं परन्तु ये स्थानीय देवताओ से एक सीढी ही ऊपर होते हैं। जसे एक पत्थर पर उच्चित्रित नाग देवता को क्षेत्रपाल माना जाता है। पूर्वजो के स्मारक के रूप म एक प्रस्तरशिला पर स्त्री पुरुष के एक जोडे की आकृति उच्चित्रित की जाती है। उस शिला की पूजा सामान्यत उस खेत के एक कोने म होती है जिस पर उस जोडे के सीधे वशधर कई पीढियो से खेती करते आये हैं। पूरे-के पूरे इलाको म महिषासुर (म्हसोबा) किसानो का आम देवता है यद्यपि हर किसान उसके रूप की कल्पना भिन्न भिन्न

रूप म करता है। अय छोट दवताआ को जुताई, बोआई, कटाई और पिटाई-कुटाई के अवसर पर सन्तुष्ट करना होता है। वैंताल पिशाचा का राजा है, पर एक दवता भी है। और भी ऊच स्तर पर ब्राह्मण देवता हैं—शिव, विष्णु, विष्णु के राम और कृष्ण जसे अवतार और उनकी दवी पत्निया। कभी-कभी स्थानीय आदिम दवी या दवता को ब्राह्मणधम के ग्रन्थो म वर्णित किसी देवी देवता के रूप म भी पहचाना जा सकता है। पुरान दवताआ को खत्म नही किया गया, उन्हे अपनाकर नय रूप म ढाला गया। इस प्रकार ब्राह्मण धम मे उन सामाजिक समूहा का कुछ हद तक एकजुट किया जिनम आपस म कोई एकसूत्रता नही थी। इस प्रक्रिया का भारतीय इतिहास मे निणायक महत्त्व है, क्योकि प्रथम इसन देश को कबील स समाज व्यवस्था की ओर आग बढाया और फिर इसन देश को अन्ध-विश्वास के गन्दे दलदल मे फसाकर रखा।

ग्रामीण परम्परा की सहायता से भारतीय इतिहास का अध्ययन करने मे जो कठिनाई सामन आती है वह है कालक्रम का अभाव। पचास साल पहले की घटनाएँ और डेढ हजार साल पुरानी परम्पराएँ ग्रामवासी की दृष्टि म प्राय समान स्तर की हैं, क्योकि उसका जीवन ऋतुआ स बँधा रहता है। भारतीय आख्याना म वर्णित चार युगा का चक्र ऋतुचक्र के चार प्रमुख परिवतना से ठीक मेल खाता है। माना जाता है कि चार युगा का अन्त एक विश्वव्यापी जल प्रलय मे होना है, और उसके बाद पुन नये युगचक्र की शुरुआत होती है। देहाती इलाका मे मानसून के बाद मोटे तौर पर यही होता है। हर साल प्राय एक सा होना है अन्तर केवल इतना ही है कि किसी साल अच्छी फसल होती है, तो किसी साल अकाल और महामारी का सामना करना पडता है। कोई लेखा जोखा नही रखा जाता क्योकि किसान प्राय पूण निरक्षर होता है। यदि उसन कुछ पढना लिखना सीखा भी हो तो भी जीवन कुछ ऐसा होता है कि ग्रामीण के लिए साक्षरता का कोई उपयोग नही होता और वह धीरे धीरे फिर अनपढ बन जाता है। औसत देहात म किताबें अखबार या अन्य वाचन सामग्री नही पहुच पाती। अत ग्रामीण परम्परा के तत्वा को पृथक करने मे विशेष सावधानी बरतना आवश्यक है। दूसरी ओर इसस प्रकट होना है कि अत्यन्त प्राचीन रीति रिवाज उनके बाह्य रूपा म विशेष परिवतन हुए बिना किस प्रकार अब तक जीवित रह हैं। इन स्थानीय रीति रिवाजा को प्राय सामन्ती-सरदारो या ब्राह्मण-पुरोहिता ने अपना लिया है, शायद बाह्य रूप म इन्हे दिखावटी बनाकर। इतिहास की जो परिभाषा हमने दी है उसके अनुसार भारत का विस्तृत इतिहास यहाँ के देहाता म मौजूद है, परन्तु इस इतिहास को समझने के लिए व्यापक और गहन दृष्टि की आवश्यकता है।

१ ६ साराश

ऊपर सवप्रथम यह बताया गया है कि भारत के उच्च वग और शहरी

जीवन पर विदेशियों की छाप है और इन्होंने ही उत्पादन की पूंजीवादी प्रणाली भारत पर लादी है। दूसरे, व्यापक रूप स ग्रामीण अचलो पर और भारतीय धम सम्प्रदायो पर इनकी आदिम उत्पत्ति की अमिट छाप मौजूद है, क्योंकि भारत के बहुत-से भागो म आदिम जीवन-पद्धतियाँ जीवित रह पायी है और आज भी है। इनमे से प्रथम कथन को आमतौर पर स्वीकार किया जाता है यद्यपि दश भक्ति के कारण बहुत से लोग भारत के आधुनिक इतिहास म विदशी आक्रमण कारियो की भूमिका का कम करके आंकते हैं। दूसरे कथन म मध्य वग के अधिकाश भारतीय क्रुद्ध हो जाते हैं क्योंकि उन्हे लगता है इसस उनके दश का उपहास हाता है या उनका अपना अपमान होता है। परन्तु आदिम सस्कृतिया तब तक हास्यास्पद और गौरवहीन नही होती जब तक वे सामन्ती अथवा पूजीवादी प्रणाली से उत्पन्न दूषित प्रथाओ के सम्पक म नही आती। भारत का विकास अपने ढग से दूसरे देशा की अपक्षा अधिक सभ्य रहा है। पुरानी पूजाविधिया को बलप्रयोग से नष्ट नही किया बल्कि आत्मसात् किया गया। अन्धविश्वास ने हिंसा की आवश्यकता को कम कर दिया। यदि यूरोप या अमरीका के इतिहास के अनुरूप ही भारताय इतिहास का भी विकास हुआ होता तो यहा कही अधिक क्रूरता की आवश्यकता होती।

इसस पता चलता है कि भारतीय इतिहास प्रवाह का अपनी कुछ सुस्पष्ट विशषताएँ हैं। बाद म कोई गलतफहमी पैदा न हो इसलिए इन विशषताओ पर यहा थोडा प्रकाश डालना जरूरी है। भारत के जिस इतिहास म केवल इतिवृत्त आख्यानो राजवशावलिया महत्त्वपूण युद्धो की तिथियो और शासको तथा सास्कृतिक महत्त्व के व्यक्तियो की जीवनियों का ही उल्लख है वह यथाथ इतिहास नही है। यदि कोई पाठक अकस्मात किसी ग्रथ म प्राचीन भारत से सम्बन्धित ऐसे वयक्तिक एव घटनामूलक विस्तृत विवरण को देखता है तो उस ऐस इतिहास ग्रथ का वाचन एक रोमानी कल्पित-कथानक की भाँति ही करना चाहिए (जस वह भारतीय रेलों की समय सारिणी हो!), परन्तु उस पर यकीन नही करना चाहिए। दूसरे छोर पर कुछ गलतफहमी की भी सम्भावना है। माना जाता है कि मानव-समाज क्रमश इन उत्पादन प्रणालियो म से होकर गुजरा है आदिम साम्यवाद पितृसत्तात्मक पद्धति (पुरानी बाइबिल के अब्राहम) और/अथवा एशियायी पद्धति (अपरिभाषित) प्राचीन यूनान तथा रोम का दासप्रथावाला समाज सामन्तवाद पूजीवादी पद्धति और कुछ दशो मे समाजवाद। भारतीय इतिहास को इस सुनिश्चित ढाचे मे भी ठीक ठीक प्रस्तुत करना सम्भव नही है। पहली बात जसाकि पहले बताया जा चुका है यह है कि दश के सभी भाग एक साथ एक ही अवस्था मे नहीं रह। प्रत्येक अवस्था मे दश के प्राय हर भाग म, पहले की सभी अवस्थाओ के कई लक्षण जीवित रहें और उनके साथ-साथ अनक

पूर्वावस्थाओं के उत्पादन के तरीके और रीति रिवाज भी। ऐसे कुछ लोग हमेशा मौजूद रहे जो पुरानी पद्धति से हठपूर्वक चिपके रहना चाहते थे और चिपके रहे। परन्तु हम उसी एक एवं विशिष्ट पद्धति पर ध्यान देना है जिसका प्रभाव इतना अधिक व्यापक हो गया कि वह देश के अधिकांश हिस्सों पर लागू हो गयी। दूसरे प्राचीन यूरोप में जिस प्रकार की दासप्रथा का अस्तित्व रहा है, वैसी दासप्रथा भारत में किसी भी अवस्था में देखने को नहीं मिलती। कुछ भारतीयों को पुरातन युग से लेकर वर्तमान सदी के मध्यकाल तक आजादी नसीब नहीं हुई। इन पंक्तियों के लिखे जाते समय प्रकाशित एक रिपोर्ट के अनुसार, कुछ कबीलाई लोग केरल के खुले बाजारों में आज भी पशुओं की भांति बेचे जाते हैं। परन्तु उत्पादन के सम्बन्धों और उत्पादन के लिए आवश्यक मजदूरों को प्राप्त करने की दृष्टि से चल-सम्पत्ति रूप दासप्रथा का महत्त्व यहां नगण्य रहा। जिस दास के अतिरिक्त उत्पादन को हथियाया जा सकता था, उसका स्थान प्राचीन भारत में निम्नतम शूद्र-वर्ग ने ले लिया था। सामन्ती युग में खरीदे हुए या अपहृत दासों का महत्त्व अधिक बढ़ गया क्योंकि इनके कारण शासक या सामन्त को अपने अनुयायियों पर कम आश्रित रहना पड़ता था। परन्तु इसे भी हम यूरोप की पुरातन दासप्रथा के समक्ष नहीं रख सकते क्योंकि सामन्त लोग इन शाही दासों को सामन्ती शासन के लिए खतरनाक समझते थे। इसके अतिरिक्त, ऐसा कोई भी दास असीम सम्पत्ति जमा कर सकता था और सामन्ती समाज में किसी भी अन्य व्यक्ति के समक्ष ऊपर उठ सकता था। उदाहरण के लिए दिल्ली के सबसे योग्य और श्रेष्ठ आरम्भिक सम्राट और अहमदनगर के बहमनी वंश के योग्य संस्थापक सब दासों से ऊपर उठे थे। अतः भारतीय सामन्तवाद की भी अपनी कुछ खास विशेषताएँ हैं (लेकिन इंग्लैण्ड का सामन्तवाद भी रूमानिया के सामन्तवाद से भिन्न था)। न केवल सामन्ती युग में बल्कि उसके पहले और बाद में भी अपराधी दासों, घरेलू दासों, खरीदे हुए नर्तकों, गायकों, विदूषकों और अन्तःपुर के दासों का अस्तित्व रहा है परन्तु इनके साथ, प्रायः पहले वर्ग के दासों को छोड़कर वेतनभोगी मजदूरों की अपेक्षा अच्छा बरताव किया जाता था, क्योंकि इनको प्राप्त करने में धन खर्च होता था। यह स्थिति यूरोप की पुरातन दासप्रथा से नितान्त भिन्न है और यूरोप के उस सामन्ती युग की स्थिति से भी भिन्न है जिसमें दासप्रथा ही मिटती गयी। ब्राज़ील में सामन्तवाद के पहले दासप्रथा का कोई युग नहीं था। अमरीका में दासप्रथा, बिना किसी सामन्तवाद के ही, कपास की खेती के विकास के लिए पूंजीवादी वर्ग के साथ आयी, इसका अन्त कोई सौ वर्ष पहले एक ऐसे रक्तरंजित गृहयुद्ध के बाद हुआ जिसकी गूंज संसार के सबसे उन्नत पूंजीवादी प्रजातन्त्र के दक्षिणी राज्यों में आज भी सुनायी पड़ती है।

भारत के सांस्कृतिक इतिहास की इस संक्षिप्त रूपरेखा का कोई मताग्रही

प्रयोजन नही है। मुझे यहाँ एक निश्चित परिभाषा एव कार्यविधि को अपनाना था क्योकि अन्य परिभाषाएँ काफी कष्टकर अनुभव के बाद निरर्थक सिद्ध हो चुकी हैं। आगे के अध्यायो का सम्बन्ध, न केवल अतीत से बल्कि अनिवार्यत भारतीय समाज की वतमान अवस्था स भी घनिष्ठ रूप स है।

'इतिहासकार का काम न तो अतीत स प्रेम करना है न अतीत स छुटकारा पाना बल्कि वतमान को स्पष्ट करनेवाली एक कुजी के रूप म अतीत की गहराई म जाकर उसे खोलकर समझना है। इतिहासकार का अतीत-सम्बन्धी चित्र जब वतमान की समस्याओ को समझनेवाली अन्तद ष्टि स आलोकित होता है तभी महान् इतिहास रचा जाता है। इतिहास स सीखना केवल एकतरफा प्रक्रिया नहा है। अतीत के प्रकाश म वतमान को समझना का अथ वतमान क प्रकाश म अतीत को समझना भी है। इतिहास का प्रयोजन है—अतीत और वतमान के बीच के अन्त सम्बन्ध द्वारा इन दानो के बार म अधिकाधिक गहन जानकारी प्राप्त करते रहना।

ऐसे इतिहास की रचना करने के लिए सम्भव है कि इन पक्तियो के लखक म पर्याप्त शास्त्रीय क्षमता न हो। लखक का यह प्रयास पाठक को किसी अन्य कारण से भी असन्तोषप्रद लग सकता है परन्तु उस कम से कम यह तो मालूम रहेगा ही कि वह क्या अपक्षा रख। इस सक्षिप्त ग्रन्थ मे मुख्यत इन विकासो का विवेचन होगा आदिम समाज और कबीलाई जीवन। सिंधु घाटी की सभ्यता। आर्यों का आक्रमण जिसके कारण यह सभ्यता नष्ट हुई, परन्तु जिसके फलस्वरूप पूव की ओर बस्तियाँ स्थापित हुइ। जाति व्यवस्था लोहे के औजार और हल की सहायता से गगा की द्रोणी का उदघाटन। मगध का और बौद्धधम का उत्थान। मौर्यों की सारे देश पर विजय, और इसके साथ ही ग्रामीण खती की पदावार पर आधारित एक साम्राज्य की स्थापना। साम्राज्य का पतन दक्षिणापथ म राज्यो का उत्थान और समुद्रतटवर्ती पट्टियो मे बस्तियो की स्थापना। उदगामी सामन्तवाद का लम्बा दौर और बौद्धधम की अवनति। इसके बाद मुस्लिम युग और भारतीय मध्ययुग की शुरुआत होती है अर्थात इसके साथ उस युग का अन्त होता है जिसे हम यथोचित रूप मे प्राचीन भारतीय सस्कृति का युग कह सकते हैं।

टिप्पणी जो पाठक उस पाडित्यपूर्ण समीक्षा और अन्तहीन विवाद म रुचि रखत हैं जो भारत का कोई प्रामाणिक इतिहास लिखने के प्रयास के पहले हुआ करते हैं उन्हे मेरी निम्न रचनाएँ कुछ रोचक लग सकती हैं इन रचनाओ को प्रस्तुत ग्रन्थ की पाद टिप्पणियाँ ही समझना चाहिए

(१) An Introduction to the Study of Indian History (बम्बई १९५६) दूसरा सशोधित सस्करण १९७५,

(२) Myth and Reality (बम्बई १९६२),

(३) Exasperating Essays (पुणे, १९५७),

इन तीन ग्रंथो म उल्लिखित निबंधो के अलावा मेरे इन निम्न लखा स भी इस क्षेत्र की शास्त्रीय कठिनाइयो को समझन मे सहायता मिल सकती है

घेनुकाकट (जनल आफ द एशियाटिक सोसायटी, बम्बई, खण्ड ३०, १९५७, पष्ठ ५० ७१),

The Text of the Arthaśastra (जनल आफ द अमेरिकन ओरियण्टल सोसायटी, खण्ड ७८, १९५८, प० १९ ७३),

Indian Feudal Trade Charters (जनल फॉर द इकानामिक एण्ड सोशियल हिस्ट्री ऑफ द ओरियण्ट, लीडेन १९५९ प० २८१ ९३)

Primitive Communism (न्यू एज, दिल्ली खण्ड ८, फर० १९५९, प० २९ ३९)

The Use of Combined Methods in Indology (इण्डो ईरानीयन जनल खण्ड ६ १९६३, प० १७७ २०२)

The Autochthonous Elements in the Mahābharat (जनल आफ अमेरिकन ओरियण्टल सासायटी शीघ्र प्रकाश्य)

The Biginning of the Iron Age in India (जनल फार द इकॉनामिक एण्ड सोशियल हिस्ट्री ऑफ द ओरियण्ट, खण्ड ६ १९६४),

इनके अतिरिक्त, मैं निम्नलिखित ग्रन्था को पढने का सुझाव दूगा

ए० एल० बाशम The Wonder That Was India (दूसरा सस्करण लन्दन १९६४),

एल० पेटेख Indien bis zur Mitte des 6 Jahrhunderts (Propylaen Weltgeschichte/Eine Universalgeschichte 1962)

एल० रेनाउ, जे फिलिजो और अन्य L'Inde classique (पेरिस खण्ड १ १९४७ खण्ड २ १९५३)

अपने विषय के अधिकारी विद्वाना द्वारा लिखे गय इन ग्रन्थो का दृष्टिकोण मेरे दृष्टिकोण से भिन्न है। कालक्रम को समझने के लिए एल० दे ला वाली

पूसी के इन दो ग्रन्थो को पढने की मैं विशेष रूप से सलाह दूगा L'Inde aux temps des Mauryas et des Barbares Grecs Scythes, Parthes et Yue tchi (पेरिस १९३०) और Dynasties et Histoire de l Inde depuis Kanishka jusqu aux invasions musulmanes (पेरिस १९३५)

दो अन्य विशिष्ट निबन्ध अधिक पाठको की अपेक्षा रखते हैं ये हैं

जे० गर्ने Les Aspects economiques du Bouddhisme dans la societe Chinoise du V au VI siecle (मगोन १९५६), और

विलहल्म राउ Staat und Gesellshaftin alten Indien nach den Brahmana Texten Dargestellt (वाइसवाडेन १९५७)

इस अध्याय के अन्तिम अश म जो उद्धरण है वह इ० एच० कार के ग्रन्थ What is History ? (लन्दन १९६२) के पृष्ठ २०, ३१ ६२ से लिया गया है।

दूसरा अध्याय

आदिम जीवन और प्रागैतिहास

२ १ स्वर्णयुग

परिपूर्णता की एक पूर्वकालिक अवस्था से मानव का पतन हुआ है, इस मान्यता के आख्यान कई देशों और कौमों की पुराणकथाओं में देखने को मिलते हैं, भारत में भी। आधुनिक हिन्दू वर्तमान को मानव-जाति का कलियुग कहते हैं। कहते हैं कि इससे पहले तीन बेहतर युग बीत चुके हैं। इनमे पहला और सबसे अच्छा युग था—सत्ययुग या कृतयुग। तब न रोग थे, न किसी चीज का अभाव था। तब आदमी न परिश्रम करते थे, न सूत कातते थे, क्योंकि इस सुफला धरती से अपने आप ही सब कुछ भरपूर उपजता था। हर व्यक्ति शान्तिप्रिय, निष्पाप, निष्कपट तथा सदाचारी होता था और हजारों साल तक जीवित रहता था। तब आदमी में लोभ पैदा हुआ, आदमी व्यक्तिगत सम्पत्ति जोड़ने लगा, जमाखोरी बढ़ने लगी। इन कुकर्मों के फलस्वरूप क्रमश तीन युग और आये—त्रेता, द्वापर और कलियुग जिनमे प्रत्येक युग पहले के युग से अधिक बुरा था। आदमी की आयु घटती गयी। पुण्य का क्षय होने से मानव जाति युद्ध, व्याधि दरिद्रता और क्षुधा से आक्रान्त हो गयी। कुछ इसी प्रकार के आख्यान बौद्ध और जैन धर्मग्रंथों मे भी देखने को मिलते हैं। ब्राह्मणों के ग्रन्थ इन सबसे अधिक अर्वाचीन हैं, इसलिए उनमे अन्तहीन युगचक्रों (मन्वन्तरों) का एक और सिद्धान्त जोड़ दिया गया। इस वर्तमान कलियुग का अन्त एक विश्वव्यापी जल प्रलय में होगा। इस जल प्लावन से समस्त जीव-जगत नष्ट हो जाने के बाद धरती पानी से निकलेगी और पुन एक नये स्वर्णयुग का आरम्भ होगा। इसके बाद कालक्रम मे अधिकाधिक अवनति के तीन युग और आयेंगे, जिनका अन्त पुन एक जल प्लावन में होगा। अतीत मे ऐसा ही होता रहा है और भविष्य में

भी चक्र का यही सिलसिला चलता रहेगा। निरथक एतिहासिक पुनरावृत्ति का यह नराश्यपूण दृष्टिकोण जसाकि पहल कहा जा चुका है भारतीय दहात के नीरस ऋतुचक्रीय जीवन का प्रक्षेप मात्र है। अक्तूबर की फसल के बाद स्वास्थ्य और अमन-चन की शीत ऋतु आती ह। उसके बाद अभाव बढता जाता है, और अन्त म वह समय आता है जब बोआई के लिए सूखे खेतो का तयार करन के लिए कठोर परिस्थितियो म कडी मेहनत करनी पडती है। अन्त मे मानसून की घनघार वर्षा सारी भूमि को आप्लावित कर देती है। हर साल ऋतुचक्र का यही सिलसिला रहता है।

इस व्यापक आम्यान क बावजूद बाद क कवियो और पुरोहिता के कल्पना लाक म बाहर मानव-जाति के आरम्भकाल मे किसी स्वणयुग का अस्तित्व नही रहा। सवप्रथम इसकी प्रत्यक्ष जानकारी हमे इतिहास की उस लिखित सामग्री के अध्ययन से मिलती है जो लगभग २५०० ई० पू० स भारत के बाहर के कुछ स्थानो स प्राप्त हुई है। इसस पहल के अतीत को जानने के लिए पुरातत्त्व की शरण म जाना पडता है। जब पुरातत्त्ववेत्ता किसी ऐसे स्थल का खुदायी करता है जहाँ की मिट्टी हाल के वर्षों मे अधिक अस्त-व्यस्त नही हुई है तो वहाँ एक-दूसरे से स्पष्टत पथक कई छोटे-बडे स्तर प्रकट होत हैं। जो स्तर जितना नीचे होता है वह उतना ही पुराना हाता है, इसलिए कालक्रम स्पष्ट रहता है। इनम से कई स्तरो में मानवीय क्रिया-कलाप के अवशेष प्राप्त होते हैं। इनम शरीरावशेष भी हो सकते हैं जसे, हड्डी खोपडी अथवा सिफ एक दात। जिस आदमी का यह दाँत होता है उसके शारीरिक ढाचे के बारे मे इससे काफी जानकारी मिल जाती है। आदमी जिन जानवरो का शिकार करता था उनकी हड्डियाँ अक्सर उसकी अपनी हड्डियो के साथ मिल जाती हैं, साथ ही उन पशुआ की भी हड्डियाँ मिलती हैं जिन्हें उसने पालतू बनाया था कुत्ता, गाय-बल भड घोडा। उत्खनन के स्तरा की तुलना करने से जाना जा सकता है कि कुत्ते को घोडे से काफी पहले पालतू बनाया गया था और गाय-बल तथा भेड को बीच के किसी काल मे। मृत्भाण्ड, पत्थर के औजार और धातु की वस्तुएँ आदमी की बनायी हुई चीजें हैं इसलिए इन्हें शिल्पवस्तुएँ कहते हैं। जहा जलवायु शुष्क है, जसे कि मिस्र मे वहा लकडी की चीजें हड्डी और हाथीदात के हथियार टोकरियाँ ऊन या सन से बुने हुए कपडा के धागे, अनाज के दाने चित्र और पपीरस पर लिखी गयी सामग्री सुरक्षित बची है। इनके आधार पर मोटे तौर पर हम यह बता सकते हैं कि मनुष्य ने किस क्रम म इन विभिन्न वस्तुओ को बनाना सीखा है। खेती के अनाजा की गिनती शिल्पवस्तुआ म तो नही होती परन्तु मृत्भाण्डा की तरह इनकी उपज भी मानवीय क्रिया कलाप स हुई है। इन सभी अनाजा का विकास हजारो वर्षों तक प्राकृतिक घासा

के सबसे मोटे बीजो को सावधानी से चुनते रहने और उन्हे बार-बार बोने से हुआ है। यदि मानव के कार्य-कलाप बन्द पड जाते हैं, तो खेती के अनाज की किस्मे गायब हो जायेंगी या इनके स्थान पर, इन पौधो की कुछ ही पीढ़ियो म, अधिक सख्त आदिरूप जगली किस्म उग आयेंगी। खुदाई के स्तरो के अवशेष ऐतिहासिक क्रम के द्योतक होते हैं, यदि बाद म इन स्तरो मे कोइ हलचल हुई हो, जसे ऊपरी परतो मे खोदा गया कोई गढढा, तो प्रशिक्षित पुराविद उस पहचान लेता है और उसे पृथक करके अध्ययन करता है। विभिन्न स्थानो स प्राप्त पुरावशेषो की तुलना करने से पता चलता है कि किसी खास किस्म का औजार, बतन या अनाज आदि कितनी दूर तक फला हुआ था या इस्तेमाल होता था। अन्त मे आधुनिक विज्ञान ने पुरावशेषो के काल निर्धारण के काफी अच्छ तरीके खोज निकाल हैं। य तरीके पुरावशेषो म फ्लोरीन की मात्रा के मापन काठकोयले और हड्डी मे रेडियो धर्मिता की मात्रा, भूचुम्बकीय अवलोकन, ऋतु परिवतनो के साथ वक्ष के वलयो म होनेवाली वृद्धि (वृक्ष-तयिकी) आदि के अध्ययन पर आधारित हैं। इस प्रकार पुनरचित अतीत अनेक सदियो पीछ चला जाता है (जिसमे अनक अन्तराल होते हैं) और तब अन्त म हम जावा-मानव पकिंग-मानव और मानव पूव अफ्रीकी प्रोकोमुल के कपाल जसे मानव-प्रकारो तक पहुचते हैं। यहाँ हम पुरातत्त्व स भूविज्ञान के क्षेत्र मे पहुच जात है इतिहास के क्षेत्र से स्तनपायी, रीढदार और अन्य प्रकार के प्राणियो के विकास के अध्ययन के क्षेत्र मे पहुचते हैं।

परन्तु इस समूचे अतीत म कही किसी विलुप्त स्वणयुग के या गौरवशाली जवस्था के दशन नही होते। यह सही है कि मानव का विकास एकसमान या लगातार नही हुआ है किन्तु कुल मिलाकर उसकी अवश्य ही प्रगति हुई है। वह एक काफी अक्षम पशु से औजार बनाने और उनका इस्तेमाल करनेवाला एक ऐसा प्राणी बन गया जो अपनी सख्या और अपने विविध काय-कलापो के कारण सारी धरती पर छा गया, और अब उस केवल अपने आप पर ही नियन्त्रण प्राप्त करना शेष रह गया है। हजारो-लाखो साल पहले की खुदाई मे प्राप्त हुई हड्डियो के अध्ययन से पता चलता है कि प्राचीन प्रस्तर युग के किसी मानव का चालीस साल की आयु तक जीवित रहना उसके लिए एक अद्भुत उपलब्धि थी। उसका अधिक स्वस्थ होना तो दूर रहा वह आयु को घटानवाले परजीवी जन्तुओ और जजर कर देनेवाले रोगो से और भी अधिक ग्रसित था। यदि कही कोई स्वणयुग है तो वह अतीत मे नही भविष्य म होगा।

, २ २ प्रागतिहास और आदिम जीवन

पुराविद द्वारा खोजे गय पुरावशेष स्वय यह जानकारी नही दे सकते कि किसी युग विशेष क लोग वस्तुत किस प्रकार रहते थे। उस जीवन-पद्धति की

पुनरचना करने के लिए ससार के दूर-दूर के दुगम क्षेत्रा म आज भी जीवित बच अनेकानेक आदिम कबीला या तुलनात्मक अध्ययन करना आवश्यक है । तभी *क्रमश यह स्पष्ट होता है कि ग्राम किस्म के औजार कसे बनते थे और उनका* किस प्रकार इस्तमाल होता था, कि इन औजारा को गढन वाल सुदूर अतीत के लोग कसा जीवन व्यतीत करत थ । कुछ हद तक सामाजिक सगठन—जब सामाजिक सगठन अस्तित्व मे आया—के बारे म भी जानकारी मिल सकती है, *परन्तु सुनिश्चित जानकारी नही । जब हम कहत है कि आस्ट्रेलिया अथवा ब्राजील* के भीतरी भाग के किसी आदिम कबील का अध्ययन किया जा सकता है तो इसका मतलब है कि इन कबीला के लागो का बाहर की दुनिया म, और अन्तत सभ्यता स, कुछ सम्पक स्थापित हो चुका है । इस बात का हम ध्यान रखना होगा, क्योकि सम्पक का अथ है परिवतन । दूसरे कोई भी मानव-समूह दीघकाल तक एक स्थिर अवस्था मे नही रह सकता । या तो व विकसित होकर अधिक सक्षम बनेंग या क्षीण होकर नष्ट हो जायेंग । प्रागतिहासिक काल के जिन मानव-समूहा का हम *अध्ययन करना चाहत हैं वे दुनिया से लुप्त हो चुके है । इनम से कुछ समूहा* के वशज विकास करत करत आधुनिक सभ्यता तक पहुचे दूसरे एकदम लुप्त हो गये । दुनिया के सुदूर क्षत्रा मे जो थोड आदिम मानव समूह जीवित बचे हैं उन्होने कुछ एस विचार मनोवत्तियाँ अधविश्वास, कमकाण्ड और रीति रिवाज विकसित कर लिय हैं कि ये उन्ह नयी जीवन पद्धतियो को अपनान की कोशिश करने से रोकत हैं । सबका तो नही परन्तु आजकल के अधिकाश वन्य समूहा का सामाजिक ढाँचा इतना दढ है कि वह किसी प्रकार के नय प्रयास को बढावा नही दे *सकता । सामाजिक विकास पर विचारो के प्रभाव की कोई भी भौतिकवादी* उपेक्षा नही कर सकता ।

ससार के विभिन्न क्षेत्रो म व्यापक खुदाई के फलस्वरूप जो पुरावशेष प्राप्त हुए हैं उनका क्रम मोटे तौर पर इस प्रकार है सबसे नीचे के स्तर म, इसलिए सबसे पुराने तोडे हुए पत्थर के अनगढ टुकडे मिलते हैं । इनका औजारो की तरह इस्तेमाल होता था, और इनके साथ साथ लकडी तथा हड्डी के दण्डो का भी जो आम तौर पर नष्ट हो चुके हैं । इस प्राचीन प्रस्तर युग के एक लाख या इसस भी अधिक वर्षों मे पत्थरो को छील छीलकर औजार बनाने की तकनीक का धीरे धीरे विकास हुआ । अन्त मे इसके बाद पत्थरो के परिष्कृत औजारो का युग (नवपाषाण युग) आया । इन दोनो के बीच एक एसा युग रहा है जिसे मध्य *पाषाण युग का नाम दिया गया है परन्तु अब* इस नाम का प्रचलन नही रहा क्योकि इस युग की अवधि और सीमाएँ निर्धारित करना अनिश्चित है । ये नीचे के स्तर जिनम केवल पत्थर के (और सम्भवत हड्डी, लकडी और सीग के भी) औजार मिलत है बाद म उन ऊपर के अन्य स्तरो के नीचे दब गये जिनम धातुओ

के औजार तथा हथियार मिलते हैं। सर्वप्रथम ताँबे की धातु का ही व्यापक रूप में इस्तेमाल हुआ। ताँबे को इसकी कच्ची धातु से प्राप्त करने के लिए मिट्टी के बर्तनों के आवे से अधिक सक्षम भट्ठे की जरूरत नहीं थी। उत्तर-पाषाण युग के पत्थरों के औजारों के साथ-साथ मिट्टी के बर्तन भी मिलते हैं। ताँबा इतनी अधिक मुलायम धातु है कि इसे ठीक से तैयार किए बिना उपयोग में नहीं लाया जा सकता, साथ ही यह इतनी भंगुर धातु है कि इसे टीन जैसी धातु के साथ उचित अनुपात में मिलाने पर ही (जिससे काँसा बनता है) कठोर बनाया जा सकता है। चूँकि टीन हर जगह नहीं मिलता इसलिए जाहिर है कि काँस्ययुग में इसकी दूर-दूर तक तलाश होती थी। ३००० ई० पू० या इससे भी पहले से दूर दूर तक व्यापार जोर शोर से होने लगा था। फिर भी काँसा दुर्लभ ही था और कुछ ही लोगों का इस पर आधिपत्य था। इसका अर्थ है, समाज का वर्गों में विभाजन। काँस्ययुग में कच्ची धातुओं और अच्छे जल-स्रोतों पर अधिकार प्राप्त करने के लिए दूर-दूर तक छापे मारे जाते थे काफी लड़ाइयाँ होती थीं। ईसा पूर्व दूसरी सहस्राब्दी (२००० १००० ई० पू०) में ऐसे अनेक घुमन्तू कबीले थे जो प्रचुर चल भोजन-सामग्री (प्रायः मवेशी) साथ लेकर यूरेशिया महाखण्ड में घूमते रहते थे। परन्तु इसके एक हजार वर्ष पहले ही मिस्र और मेसोपोटामिया की प्राचीन नदी घाटी खेतिहर संस्कृतियों में नगर राज्य राजतन्त्र मन्दिरों के पुरोहित वर्ग और युद्ध तन्त्र का विकास हो चुका था। ऐसा विकास स्थानीय और अपवादात्मक था।

पुरातत्त्व की दृष्टि से वर्तमान युग लोहयुग है। लोहा इतनी सस्ती और व्यापक रूप से पायी जाने वाली धातु है कि इससे कृषिकर्म एक सर्वव्यापी सम्भावना बन गया है। सीमित रूप में कृषि की शुरुआत उत्तर पाषाण युग में हो चुकी थी इसलिए हम कह सकते हैं कि उत्पादन के साधनों में यह एक 'नवपाषण युगीन क्रान्ति' थी। परन्तु यह कुछ ऐसे ही विशेष क्षेत्रों तक सीमित थी जहाँ घने जंगलों को साफ करना जरूरी नहीं था। ये क्षेत्र थे मेसोपोटामिया (इराक) मिस्र सिन्धु घाटी, ईरान, तुर्की तथा फिलस्तीन के ऊँचे मैदान, डन्यूब घाटी में दोमट मिट्टी के गलियारों के कुछ भाग और सम्भवतः चीन के कुछ लोएस क्षेत्र भी। पहली बार तैयार किया जाने वाला लोहा यद्यपि काँसे से मुलायम होता है परन्तु इससे जंगलों को साफ करने और हल से कड़ी मिट्टी को उलथने में मदद मिली। यह पहली धातु थी जो बहुतों को सुलभ हुई, इस पर केवल योद्धा-वर्ग का ही अधिकार नहीं रहा। आरम्भिक किसानों ने ७००० ८००० ई० पू० के आसपास पहली बार नगर स्थापित किये जैसे, छतल हुयुक (तुर्की) और जेरिको (फिलस्तीन), परन्तु उनके अन्न-उत्पादन के तरीके नजदीक के क्षेत्रों में व्यापक पैमाने पर इस्तेमाल में नहीं लाये जा सके। उनकी खेती मिस्र और इराक की खेती के स्तर की नहीं थी। खेती के साथ-साथ वे अन्न-संग्रह और पशुपालन

भी करते थे, और यह क्रम तब तक चलता रहा जब ईसा पूर्व दूसरी सहस्राब्दी के अन्त समय मे लोहा प्रचुर मात्रा मे उपलब्ध होने लगा। सर्वप्रथम अच्छे तरीको से लोहा तैयार करनेवाले लोग सम्भवत हित्ती ही थे। लौह निर्माण की विधियो को अत्यन्त गोपनीय रखकर इस पर एकाधिकार रखनेवाले ये हित्ती लोग आज की तुर्की मे रहते थे। १३५० ई० पू० मे भी लोहा इतना दुर्लभ था कि फरऊन तुतनखामेन को सोने के ठोस ताबूत मे तांबे, कांसे और हाथीदांत की अनेकानेक वस्तुओ तथा अन्य कीमती चीजो के साथ एक समाधि-गृह मे दफनाया गया था, परन्तु इनमे लोहे की एक ही वस्तु थी—उसके कपाल के नीचे बाधा गया तावीज़। सस्ते लोहे का आविष्कार अधिकाश लोगो के लिए सुखकर सिद्ध नही हुआ। कांस्ययुग मे भी क्षुद्र एशिया की अलग-अलग छोटी खेतिहर बिरादरियो पर हमले करके उन्हें तहस नहस कर दिया जाता था। जब बहुतायत मे जनशक्ति (प्राय दास या कृषक दास) उपलब्ध हुई तभी लोहे के इस्तेमाल से अधिक अन्न उपजने लगा और इसके साथ साथ उत्पीडन भी बढा। व्यापारी मार्गों से दूर अलग थलग पडे हुए कुछ कबीले कृषि को अपनाने की बजाय अन्न सग्रह के पाषाण युगीन तरीको से ही हठपूर्वक चिपके रहे (लगभग हाल के दिनो तक)। वे सभ्यता की ओर अग्रसर होनेवाले मार्ग मे पिछड गये। प्रस्तर युग समाप्त हुआ, ऐतिहासिक युग शुरू हुआ, किन्तु तब भी जब-तब पत्थरो के औजारो का इस्तेमाल होता ही रहा। सन १०६६ ई० की हेस्टिंग्स की लडाई मे राजा हैरोल्ड की सेना के बहुत से सक्सनो के पास पत्थर के कुल्हाड ही थे यद्यपि इग्लण्ड बहुत पहले जुलियस सीजर के इस द्वीप पर ५४ ई० पू० मे किये गये हमले के भी बहुत पहले लौहयुग मे पहुच चुका था।

समग्र अन्न सग्राहक समाज की विशेषताओ को स्पष्ट करना आसान नही है। आधुनिक रोमानी विचारक मानने लगे थे कि आदिम मानव अवश्य ही एक उदात्त वन्य प्राणी था सभ्यता के कुप्रभावो से बचा हुआ प्रकृति पुत्र था और वह लोभ तथा दुष्कर्मों से मुक्त था। इस प्राकृतिक पार्थिव स्वर्ग की कल्पना का उदय क्रिस्टोफर कोलम्बस द्वारा कस्टील की रानी इसाबेला को लिखे गये एक पत्र से हुआ। यह साहसी खोजकर्ता जब भारत के स्वर्णमय नगरो तक नही पहुच पाया तो कम से कम यह बताने के लिए उतावला हो उठा कि उसने कुछ तो असाधारण खोज ही निकाला है—प्राकृतिक अवस्थावाला करीबियन मानव। इससे यूरोपवासियो की कल्पनाशक्ति विलोडित हुई क्योकि उन्हे एक ऐसी चीज मिल गयी थी जो न तो (ईडन के उद्यान के बाद) बाइबिल मे थी न ही पुनर्जागरण के युग मे नये सिरे से खोजे गये प्राचीन यूनानी लटिन ग्रन्थो के आदर्शलोको मे। इस प्राकृतिक मानव की खोज से रूसो के सामाजिक सिद्धान्तो को और समकालीन समाज पर प्रबल प्रहार करनेवाले वाल्तेयर के व्यग्यो को

बल मिला। कुछ लोग आदिम साम्यवाद की चर्चा कुछ इस प्रकार करते हैं कि मानो यह एक ऐसी आदर्श समाज व्यवस्था थी जिसमें सभी लोग बराबर के साझीदार होते थे और अपनी सीमित आवश्यकताएँ मिल जुलकर पूरी करते थे। अपने चरम रूप में यह भी आधुनिक गुलाबी लिबास पहना हुआ 'स्वर्णयुग' का वही पुराना आख्यान है।

आरम्भिक अन्न संग्राहक समाज बड़ी कठिन परिस्थितियों से घिरा हुआ था। प्रत्येक क्षेत्र और प्रत्येक युग में उसका विशिष्ट स्वरूप अल्प और अनिश्चित मात्रा में उपलब्ध होनेवाली खाद्य सामग्री पर आश्रित था। ग्राहम क्लार्क जैसे जिम्मेदार पुरातत्त्ववेत्ता का अनुमान है कि ऊपरी पुरापाषाण युग में इंगलैंड और वेल्स की आबादी सम्भवत २५० आदमियों की थी और ये दस छोटे गिरोहों में बटे हुए थे। मध्यपाषाण युग में सम्पूर्ण ग्रेट ब्रिटेन की आबादी ४,४००, नवपाषाण युग के किसी भी काल में २० ००० और ईसा पूर्व दूसरी सहस्राब्दी में, जब कांस्ययुग और अन्न उत्पादन की भलीभांति शुरुआत हो चुकी थी यह आबादी चालीस हजार से कुछ कम ही थी। भारत के लिए ऐसे आकड़े प्रस्तुत करना सम्भव नहीं है क्योंकि इसके लिए आज पुरातत्त्व के पर्याप्त प्रमाण उपलब्ध नहीं हैं। परन्तु प्रस्तर युग में इस भारतीय उप महाखण्ड के किसी भी विस्तृत क्षेत्र की आबादी प्रति दस वर्ग मील में एक व्यक्ति से अधिक रही है तो यह एक आश्चर्य की ही बात होगी। जहाँ प्रकृति कृपालु है, वहाँ भी सभी मौसमों में यह एक सी उदार नहीं है। लगातार कई साल तक अभाव की स्थिति बनी रहने की सम्भावना थी। किसी-न किसी प्रकार के अन्न भण्डार के बिना बड़ी आबादी और स्थायी बस्तियों के होने का प्रश्न ही नहीं उठता। खाद्य-संकलन-वाले जीवन में खाद्य को सुरक्षित रखने की अवस्था अपेक्षाकृत बाद में आती है। मांस और सूखी मछली को सुरक्षित रखने के लिए नमक की जरूरत होती है, और यह दूर से ही प्राप्त हो सकता है, खाद्य-सामग्री को सुरक्षित रखने के लिए टोकरियां चमड़े की थैलियों और मिट्टी के बर्तनों-जैसे पात्रों की भी जरूरत पड़ती है। फिर सब प्रकार की भोजन-सामग्री को सुरक्षित रखना सम्भव भी नहीं है। कड़े छिलकेवाले फलों अनाजों और कुछ कन्दमूलों को भलीभांति सुरक्षित रखा जा सकता है। परन्तु इनमें से अधिकांश को पकाये बिना पचा पाना सम्भव नहीं है और पकाने का अर्थ है आग पर अधिकार और मिट्टी के कुछ भाड-बर्तनों की आवश्यकता। इस अवस्था तक पहुंचने के काफी पहले मनुष्य सामाजिक जीवन की विशिष्ट पद्धतियाँ विकसित कर चुका था क्योंकि वह कई हजार वर्षों से औजारों का इस्तेमाल करनेवाले एक प्राणी का जीवन व्यतीत करता आ रहा था।

यहाँ दो विशेषताएँ स्पष्ट हैं। यदि भोजन सामग्री को सुरक्षित रख पाना

सम्भव नही है, तो उसे जल्दी खा लेना जरूरी हो जाता है। इसका अर्थ है अतिरिक्त भोजन-सामग्री हो तो उसे आपस म बाँट लेना या अधिकाश लोगो का भूखे रह जाना। परन्तु बहुत म पशु समूह भी अतिरिक्त भोजन-सामग्री को बाँटकर खाते हैं। जो आदिम मानव समूह भारी अभाव की अवस्था स आगे बढे हुए होते हैं, उनमे खाद्य सामग्री को आपस म बाँट लेना एक सामाजिक बाध्यता हो जाती है, जसे, विशेष अवसरो पर भोज देने की आवश्यकता। इसका अर्थ यह नही कि प्रत्येक व्यक्ति एकत्र किये गये सारे खाद्य मे स हिस्सा प्राप्त करने का अधिकारी था। दूसरे अन्न-सकलन करनेवाले समूह क्वचित् ही आवश्यकता से अधिक पशुओ को मारते हैं या खाद्य-सग्रह करते हैं। उनमे अन्न सग्रह का लोभ नही होता न ही वे महज शौक के लिए शिकार करके मास को सडने के लिए छोड देते हैं। इस हद तक 'स्वणयुग के आख्यान मे कुछ सचाई है। परन्तु आदिम मानव की अधिकतर शक्ति खाद्य सामग्री की खोज म ही खच हो जाती थी। खाद्य सकलनकर्ताओ की सबसे बडी इकाई जिसका आकार सदव ही परिवेश से निर्धारित होता था किसी एक प्रकार की खाद्य सामग्री पर अधिक निभर रहती है जसे कोई पशु मछली पक्षी कृमि फल अथवा कदमूल। इसका अर्थ है न केवल विशेषीकरण बल्कि अतिविशेषीकरण। ऐसी मानव इकाई न केवल अपने को एक सगोत्रीय समूह समझती थी बल्कि अपने को उसी पदार्थ से निर्मित समझती थी जिससे कि उसका प्रमुख अथवा प्रिय खाद्य बना है। अन्य मानव-समूह जिनके विशिष्ट भोजन की चीजें भिन्न थी सगोत्रीय नही समझे जाते थे और आरम्भ म तो मानव स्तर के भी नही माने जाते थे। इस विशिष्ट खाद्य को हम 'टोटेम' कह सकते हैं हालाकि काफी बाद की अवस्था म निर्जीव वस्तुए और पशु के अग भी समूह वशिष्ट्य के टोटेम बन गये थे। टोटम खाद्य को प्राप्त करने की विशेष प्रवृत्ति विशेष कमकाण्ड से जुडी हुई थी। किसी न-किसी प्रकार की बलि (जिसमे नर बलि भी शामिल थी) और दूसरे अनुष्ठानो का चाहे अन्ध रूप म ही क्यो न हो उद्देश्य था—(विशेष) खाद्य की विपुलता बढे और इसके साथ साथ इस खानेवाले अध-परोपजीवी उस विशेष मानव समूह का भी वृद्धि हो। हमारे लिए इन अनुष्ठानो का महत्त्व है क्योकि इनमे आधुनिक मानव के सास्कृतिक क्रिया-कलापो के बीज निहित है। उनका नृत्य जिसमे सम्भवत कुछ लोग टोटेम पशु की नकल उतारते थ तो कुछ लोग शिकारियो का एक धर्मानुष्ठान के साथ साथ आखेट का अभ्यास भी था, जो एक प्रकार से आखेट विधि की कवायद थी। इसी म कई हजार वर्ष बाद नृत्य-नाट्य (बले) और नाटक का विकास होनेवाला था। हिमयुग मे जगली पशुओ के जो हूबहू चित्र तयार किये गये थ (फ्रास और स्पेन की गुफाओ म) उन्हे अब अनुपम कला-कृतियाँ समझा जाता है। परन्तु मूलत ये चित्रकला की

विशेष भावना से तयार नहीं किये गय थे। जहाँ दिन का उजाला नही पहुँच सकता ऐसी अँधेरी भूमिगत गुफाओ म य चित्र चरबी से जलनेवाल मन्द दीपा या मशालो की रोशनी म तैयार किये गय थे। प्राय एक-दूसरे के ऊपर बने होने स य चित्र कुछ खराब हो गय हैं। उत्कृष्ट पशु प्रतिमाओ का इस्तेमाल, जैसाकि इन पर भाला और तीरा से बने हुए छेदा मे पता चलता है, लक्ष्यवेध के आनुष्ठानिक अभ्यास के लिए होता था। य प्रतिमाए भी भूमिगत गुफाओ मे, धरती माता के गर्भ म, ही हैं। गुफाओ की दीवारो पर ढाले हुए या उच्चित्रित मथुनरत पशुओ के जोडो से जाहिर होता है कि ऐसी सारी कलात्मक प्रस्तुति उन प्रजनन-अनुष्ठानो की अग थी जो उस समूह विशेष क निजी रहस्य समझे जाते थे। खाद्य-सामग्री सीमित होने पर एक ही प्रजाति के पशु भी एस ही अलग अलग एकान्तिक समूह बना लेते हैं। उदाहरण के लिए, अमरीका के मध्य-पश्चिमी प्रअरी प्रदेश के गोफर वग के प्राणी अपने क्षेत्र म बाहर के किसी गोफर की उपस्थिति सहन नही कर सक्त, लेकिन आपस म शान्तिपूर्वक रहत हैं। उनम 'चुम्बन के एक विचित्र 'अनुष्ठान का प्रचलन है जिसस वे अपने समूह के गोफरा को पहचान लेते हैं। जिन मानव समूहा पर हम यहाँ विचार कर रहे हैं उनके भी ऐसे ही आरक्षित किन्तु बदलत क्षेत्र अवश्य रहे होंग। प्रत्येक समूह अपन सीमित विचारो को विशिष्ट ध्वनि-समूहा द्वारा व्यक्त करता था। परन्तु इन ध्वनि समूहा को, आदिम जीवन के बारे म अब तक प्राप्त हुई जानकारी के आधार पर, आधुनिक भाषा प्रकारा मे वर्गीकृत करना सम्भव प्रतीत नहीं होता। आदिम मानव अपने स्वीकृत कमकाण्ड से विचलित नही हो सकता था, क्योंकि उनके मूलभूत कारण, जो बाद म वज्ञानिक विश्लेषण द्वारा खोजे गये तब तक छिप हुए थे।

विभिन्न समूहा को एक-दूसरे के समीप लान का महती काय वस्तुत उत्पादन के सम्बन्धो यानी आदान प्रदान के द्वारा शुरू हुआ। आदिम समाजा की आरम्भिक अवस्थाओ में मुक्त वस्तु विनिमय का अस्तित्व नहीं था, जसाकि (उदाहरण-स्वरूप) उन्नीसवी बीसवी सदियो के सधिकाल म त्रोब्रिआ द्वीप-समूह क आदिवासिया का देखन स भी पता चला। आपस मे बँटवारा करने-वाले सगोत्रीय समूह के बाहर विनिमय का अस्तित्व उपहार के आदान प्रदान के रूप म था। उपहार हर किसी को नही बल्कि खास रिश्त के व्यक्तिया को दिया जाता था जिन्हे प्राय 'लेन देन के मित्र कहा जाता था। उपहार न माँगा जाता था न अस्वीकार किया जाता था न हो इसके बराबर की वस्तु लौटाने के बारे म किसी प्रकार की सौदेबाजी होती थी। परन्तु ऐसा उपहार प्राप्त करनेवाला इस बात के लिए बाध्य होता था कि बाद मे, जब उसके पास कोई अतिरिक्त वस्तु हो तो वह भी बदले म कुछ द। कोई हिसाब नही रखा जाता था, फिर भी

आमतौर पर एक कालावधि मे लेन-देन बराबर हो जाता था। उपहार प्राप्त करनेवाला व्यक्ति यदि अन्तत बदले मे किसी वस्तु के रूप म उसका मूल्य, जिसके बारे मे उभय पक्षा मे अनकही सहमति रहती थी, नही चुकाता, ता किसी न किसी प्रकार से अपनी सामाजिक प्रतिष्ठा खो देता था। इन सब बाता से यह अनुमान लगाया गया है कि टोटेम समूहो मे वस्तुओ के इसआ रम्भिक आदान प्रदान के साथ साथ अन्तत व्यक्तियो के आदान प्रदान की, यानी एक प्रकार के विवाह सम्बन्ध की भी शुरुआत हुई। इस प्रकार के आदान प्रदान से बेहतर भोजन मिलने लगा विविध प्रकार की भोजन-सामग्री उपलब्ध हुई, और औजार तथा मृत्भाण्ड बनाने के और इन्हे इस्तेमाल करने के नय तरीके अस्तित्व मे आय। साथ ही इन सम्मिलित समूहा की भाषा भी समृद्ध हुई। सभी ज्ञात आदिम भाषाओ का व्याकरण अनावश्यक रूप से जटिल है, संस्कृत यूनानी और फिनिश भाषा म भी यही बात देखने को मिलती है। आदिम भाषाओ म विशिष्ट वस्तुवाचक संज्ञाओ की अपेक्षा सामान्य जातिवाचक संज्ञाएँ कम देखने को मिलती हैं। *पशु, 'वृक्ष आदि सामान्य प्रवर्गो का उनमे अभाव है परन्तु* उनम प्रत्यक जाति या किस्म के पशु और वृक्ष के लिए शब्द मौजूद हैं। पता चलता है कि रंग (अंग्रेजी म कलर) शब्द का मूल अर्थ लाल था जो रक्त का रंग है। इस प्रकार संचार-सम्पर्क और आदान प्रदान स भाषा का विकास हुआ। आदमी न केवल भोजन-सामग्री पर नियन्त्रण प्राप्त करके फिर इसके उत्पादन मे जुट गया बल्कि वह एक विचारशील प्राणी बनने के मार्ग की ओर भी आगे बढा। विवाह के आदान प्रदान मे एक आनुवंशिक लाभ भी है। छोटे मानव समूहा म प्राय अन्त प्रजनन होता है और परिणामत वे शारीरिक रूप से बौने अथवा मानसिक रूप स अविकसित रह जाते हैं। अन्तर्विवाह (संकरण) स उत्पन्न *संतति माता पिता से अधिक हृष्ट पुष्ट होती है। उत्तर हिमयुग मे* यूरोप म जिस हट्टे-कट्टे क्रो-मैग्नन मानव का एकाएक अवतरण हुआ, वह सम्भवत अन्त प्रजनन से बौने बने हुए माता पिता के बीच ऐसे संकरण का ही परिणाम था। यहाँ इस बात का ध्यान रखना जरूरी है कि मानव विकास की इस अवस्था पर प्रजाति की धारणा को लादना उपयुक्त नही है। दरअसल आम बोलचाल म इस प्रजाति शब्द का इस्तेमाल किसी भी अवस्था के लिए क्वचित ही उपयुक्त होता है। विलुप्त प्रजातियो का विकास बाद म एक स समूहा के एकत्र होने से बनी हुई आबादी के कारण हुआ। *भाषा का विकास अधिक तेजी* से हुआ।

यह विकास प्रयोग नियोजन अथवा सोच विचारकर किय गय काय का परिणाम नही था। जिन समूहा न आदान प्रदान की इस नयी प्रणाली को अपनाया, उनकी न केवल वृद्धि हुई बल्कि क्षमता भी बढी शेष समूह नष्ट हो गय। इस

दिशा म पहला कदम, जो एक द्वन्द्वात्मक उलटाव था, यह था कि प्रत्येक समूह के लिए इसके विशिष्ट खाद्य टोटेम, को निषिद्ध (टैबू) करार दिया गया। इस निषेध को विशेष ऋतु-समारोहो अथवा मृतका स सम्बन्धित क्रियाकर्मो के अवसरा पर ही तोडा जाता था। टाटेम खाद्य के निषेध के साथ ही टोटम के भीतर यौन-सम्बन्ध पर भी निषेध लागू हो गया। इस प्रकार अनेक टोटेमी कुला के मेल से कबीला का निमाण हाने लगा। सामान्यत कुल के व्यक्ति को कुल टाटेम खाद्य खाने की और उस टोटेम कुल के भीतर सम्भोग करन की अनुमति नही थी, और वह व्यक्ति कबीले के बाहर विवाह' भी नही कर सकता था। वह प्राय ऐस व्यक्तियो द्वारा तैयार किया गया भोजन स्वीकार नही करता था जा उसके कबीले के न हो। हर कुल के कुछ ऐस विशिष्ट अनुष्ठान होते थे जिनसे अन्य सभी कुलो को दूर रखा जाता था। जसे पूरे कबीले की एक भाषा होती थी उसी प्रकार पूरे कबीले के कुछ सामूहिक अनुष्ठान भी होते थे। छाट कुल से आगे बढकर जब कबीलाई सगठन अस्तित्व मे आया, तो यह एक ऐसी आदश व्यवस्था बन गयी जिसने अधिकाश मानव-समाजो पर अपनी छाप छोडी है।

२ ३ भारत में प्रागतिहासिक मानव

अब तक जो बातें कही गयी वे सामान्य स्वरूप की थी। आदिम मानव के जीवन का यह चित्र दुनिया भर के अध्ययना के विवरणो के आधार पर अनुमान तथा तकबुद्धि से तयार किया गया है। भारत के बारे मे विशेष कुछ नही कहा गया है तो इसका कारण यही है कि उपलब्ध जानकारी बहुत कम है। परन्तु यह मानने के लिए कोई कारण नही है कि भारत मे आदिम मानव के भौतिक विकास का दौर उपयुक्त दौर से भिन्न रहा है। यदि प्रागतिहासिक युग मे ऊपर सुझाये गये परिवतन हुए हैं तो भारत के ग्राम्य तथा कबीलाई समाज की कई विशेषताएँ और पुराने सस्कृत ग्रथा की कई गुत्थियाँ स्पष्ट हो जाती हैं अन्यथा इनकी कोई तकसगत व्याख्या उपलब्ध नही होती।

यहा भारत के प्रागतिहास की दो विशेषताओ पर ध्यान देना जरूरी है। भारतीय उप महाखण्ड मे अन्तिम हिमयुग उतना विस्तृत और कठोर नही था जितना कि यूरोप मे। अब आगे भारत की चचा इसे एक ऐसी भौगोलिक इकाइ मानकर की जायगी जिसमें पाकिस्तान और अफगानिस्तान के एक हिस्से का समावेश होता है और कभी-कभी वर्मा का भी। इस विस्तार के पीछे किसी राजनीतिक दावे या उद्देश्य की कोई भावना नही है। भारत का उत्तरी भाग जब हिमयुग से प्रभावित था तो दक्षिणी और दक्षिणी पश्चिमी भाग इससे पूणत मुक्त थे। इस बात की पूरी सम्भावना है कि प्रागतिहासिक काल मे भारत के पूर्वी भाग म युन्नान और बर्मा से लोग आये थे। सम्भव है कि आगमन का यह सिलसिला ऐतिहासिक युगा म भी जारी रहा। इस पूर्वी क्षेत्र म पाये गये पत्थर के
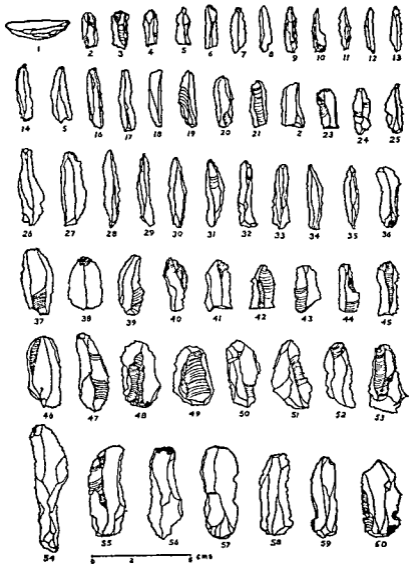
चित्र ४ पुणे जिले के देउलगांव स्थान से प्राप्त मृत्भाण्ड पूर्व काल के लघुपाषाण । यह स्थान भीमा की एक सहायक नदी के एक प्राचीन मत्स्य कुण्ड के समीप है और इस कुण्ड में आज भी मछलियाँ पकडी जाती हैं । ये शल्क अधिकांशत कलसिडोनी पत्थर के हैं और इनमे से बहुत-से लघपाषाण संयुक्त औजारो के अंग हैं इन्हें लकडी हड्डा अथवा साग में स्थापित करके तीर चाकू हंसिए आदि बनाये जाते थे । अधिक नुकीले शल्क एक प्रकार के सूए हैं चमडे या खाल के थले सीने के लिए इनका इस्तेमाल होता था जो मिट्टी के बर्तनो के अभाव मे अनाज भरने के काम आते थे । मोटे तौर पर इन लघुपाषाणो का काल ४ ई० पू० या पहले का हो सकता है ।
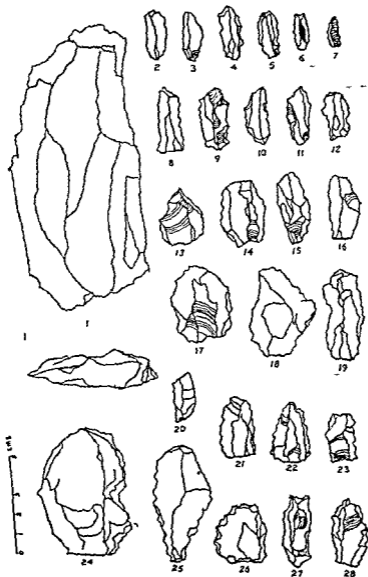
चित्र ५ पु(के समीप व पहाड़ी क्षेत्र में प्राप्त लघुपाषाण। ये अधिकतर धौंचावाले महापाषाणों के पास और पहाड़ी ढलान पर पाये जाते हैं। बनावट में ये कुछ भद्दे हैं फिर भी ज्ञात पड़ता है कि इनका निर्माण पिछले चित्र के लघुपाषाणों के बाद हुआ है। जिन शालाओं पर इनका इस्तेमाल होता था वे कुछ अधिक मोटी थीं। इनका उपयोग करनेवाले लोग आरम्भिक पशुपालक थे जिनकी इस प्रान्त में कई लहरें आयीं। निश्चय ही नरम्नेवताओं का सम्बन्ध इनकी अन्तिम लहरों से था।

मोटे तौर पर ये तीरी सहस्राब्दियाँ ४००० ई० पू० अथवा कुछ पहले की मानी जाती हैं। इस प्रकार के काल निर्धारण की जो विधियाँ ज्ञात हैं उनमें एक हज़ार वर्षों का आगा पीछा होना सम्भव है। रेडियो-कार्बन विधि का अथवा अन्य किसी परीक्षण का अभी तक कोई उपयोग नहीं हुआ है। लघुपाषाणों का इस्तेमाल करनेवाले इन लोगों ने सुन्दर कमगिडानी पत्थर के छोटे टुकड़ों और हीरों की अपनी ढेरियाँ मध्य पूर्व तथा पश्चिमी प्रायद्वीप में छोड़ी हैं। जहाँ भारी मात्रा में लघुपाषाण तैयार किये गये थे वे स्थल ऐसी छोटी नदियों के समीप हैं जिनके द्वारा में प्राचीन काल में मछली मारने की सुविधा थी, हालाँकि आधुनिक वनकटाई और भूक्षरण के कारण ये द्वार आमतौर पर अब गाद से भर गये हैं। मिट्टी के इसी बहाव से तटों में दबे हुए पत्थर के औजार साफ दिखायी देते हैं परन्तु आवासों के स्तरों के बारे में काई जानकारी नहीं मिलती। लघुपाषाणों का इस्तेमाल करनेवाले ये लोग खाद्य उत्पादन की आरम्भिक अवस्था में नहीं थे। उनके औजार जिस रूप में मिलते हैं उस रूप में उनका इस्तेमाल होना सम्भव नहीं है। *अफ्रीका के बुशमैन आदिवासियों द्वारा प्रयुक्त औजारों से तुलना करने पर स्पष्ट हो जाता है कि भारत में पाये जानेवाले कमगिडानी के प्रस्तर-खण्ड जिन्हें छील छीलकर धारदार खूबसूरत फलकों की शक्ल दी गयी है या किनारे पर पने गैने निकाले गये हैं संयोजित औजारों के हिस्से थे। ये प्रस्तर-खण्ड पेड़ की गोंद या जोड़नेवाली किसी ही किसी अन्य वस्तु से लकड़ी,* साग अथवा हड्डी के हत्थों में स्थापित किये जाते थे। यह बात इस तथ्य से भी प्रमाणित होती है कि एक औजारों के धारदार सिरे से दूर के कुछ पहलू कुन्द हो गये हैं। इस विधि से भाले, कांटेदार मत्स्य भाले, तीर, चाकू, हंसिए आदि बनाये जा सकते थे। चकमक पत्थर के कुछ ऐसे भी छोटे टुकड़े मिले हैं जो वस्तुतः हंसिये के दाँते हैं और इस बात के सूचक हैं कि अनाज काटने के काम की शुरुआत हो चुकी थी, फिर चाहे वह अनाज बोया हुआ हो चाहे बीजों के लिए काटी जानेवाली प्राकृतिक घास हो। *ये औजार जानवरों की खाल उतारने के लिए खाल के मांस और उसके नीचे के रेशे निकालकर इसे कमाने के लिए बड़े उपयुक्त हैं। इसी प्रकार ये औजार टोकरियाँ बनाने के लिए काम आनेवाले बाँसों या* अन्य लचीली टहनियों को फोड़ने और पकाने के पहले मछलियों को काटने साफ करने के लिए भी उपयुक्त हैं। पतले और बारीक नोकवाले जो कई प्रस्तर शल्क मिले हैं वे सूइयाँ या सूए हैं जो सम्भवतः स्नायु-तन्तुओं का इस्तेमाल करके, खालों को सीने के काम आते थे। अन्य शब्दों में मिट्टी के बर्तन बनने के काफी पहले ही टोकरियों में और चमड़े के थैलों में खाद्य-सामग्री को जमा रखने के प्रयास शुरू हो गये थे।

सर्वथा लघुपाषाणी औजारों का इस्तेमाल करनेवाले इन लोगों के साथ दूसरे

(सम्भवत उसी मानव-समूह की शाखाओ के) ऐसे भी लोग थे जिन्होंने बडे-बड पत्थरो के, जिन्ह महापाषाण कहते हैं, अम्बार छोडे हैं। कर्णाटक, आन्ध्र तथा ग्रनाइट की चट्टानोवाले प्रदेशो मे पाये जानेवाले ये महापाषाण लौहयुग के हैं। महाराष्ट्र (जो दक्षिणी पठार की काली आग्नेय चट्टानो पर बसा हुआ है) मे पाय जानेवाल महापाषाण अधिक प्राचीन जान पडते हैं, परन्तु ये भी सर्वोत्तम लघु पाषाणो के बाद के है। पश्चिमी दक्खन के अनेक शल-समूह निसग निर्मित हो सकते है परन्तु इन पर भी गहरे खांचा के रूप म प्रागतिहासिक मानव के चिह्न मौजूद हैं। ये खाचे सिफ रगड रगडकर बनाये गये हैं अथवा इनका अन्तिम रूप तो कम से-कम घिसने स ही बना है। इन खाचा को तयार करने में कितना परिश्रम करना पडा होगा, इसका अनुमान इसी से लग सकता है कि कही-कही य खाचे चार सेंटीमीटर गहरे हैं। य पाषाण इतने सख्त हैं कि इन पर इस्पात के आधुनिक औजारा की धार भी मर जाती है। कही-कही पर तो तीन टन से भी अधिक भारी चट्टाना को खिसकाकर दूसरी चट्टाना पर रख दिया गया है। इससे जाहिर होता है कि महापाषाण खडे करनेवाले इन लोगा के पास इतना समय और इतना नियमित अतिरिक्त खाद्य था, कि वे लम्बे समय तक काफी बडे शारीरिक श्रम की माग करनेवाले इन स्मारका को बना सकें। ऐस शल-समूह और शल-खांचे हजारो की सख्या म मिले हैं जिससे पता चलता है कि इनके निर्माण का काय न केवल कई वर्षों तक बल्कि कई सदियो तक निरन्तर जारी रहा होगा। परन्तु इनका निमाण किस लिए हुआ है यह स्पष्ट नही है। सादे वत्ताकार या अण्डाकार खाचा के अलावा किसी विशिष्ट आकार के खाचे क्वचित् ही मिलते हैं। इन खाचा म किसी मानव या पशु या पेड की आकृति का भी पहचाना नही जा सकता। परन्तु इतना निश्चित है कि य टेढे मेढे खाचे मानव के हाथो से ही बने हैं ये निसग निर्मित नहीं हैं। यह सम्भव जान पडता है कि महापाषाण सस्कृतिवाले इन लोगा के पास कुछ पालतू पशु भी थे। इनके शिलाखण्डा के अम्बारो म जो लघुपाषाण मिले हैं वे निश्चय ही उन लघुपाषाणा से आमतौर पर मोटे हैं जो मत्स्य-कुण्ड या पडावस्थल के समीप मिले हैं। इन दो पाषाण-प्रकारो के क्षत्रा के बीच म प्राय एक स्पष्ट सीमारेखा होती है। कभी कभी दोनो ही पाषाण प्रकार नदी के केवल एक ही तट की ओर दिखायी देते हैं और इनमे मोटे लघुपाषाण हमेशा ही महापाषाणो के समीप मिलते हैं। परन्तु यह स्थिति किसी भी बात नदी की पूरी लम्बाई पर लागू नही होती। इस सबस यह जाहिर होता है कि महापाषाण खडे करनेवाले और उन पर खाचे बनाने वाले लोगा को अधिक मोटी खाला से काम पडता था, और इसलिए उनके पास पशु थे। पतले लघुपाषाणा का इस्तेमाल करनेवाले लोगो का सरोकार पतली चमडी वाले प्राणियो स ही रहा होगा, जसे, हिरन, भेड, बकरा, खरगोश, मछली, पक्षी

आदि। इन दो पाषाण प्रकारोवाले मानव-समूहो के एक-दूसरे से किस प्रकार के सम्बन्ध थे यह स्पष्ट नही है। किसी प्रकार के आरम्भिक संघर्ष के भी प्रमाण नही मिलते। यह भू भाग ऐसा है कि कुछ अपवादात्मक स्थानो को छोडकर कही पर भी स्तरीय अवशेष नही मिल सकते। अर्थात आज जहाँ भी मिट्टी की सबसे मोटी परत है वह अधिक ऊचे स्थानो से बहकर आयी हुई मिट्टी है और हल की जुताई से समतल हो गयी है। मिट्टी की मोटी परत उन स्थानो पर भी जमा हो गयी है जहाँ प्रागतिहासिक काल मे दलदल और घने जगल रहे होगे। सामान्यत ये ऐसे स्थान थे जहाँ प्राग तिहासिक मानव को औजार बनाने के लिए न खुले पत्थर मिल सकते थे न ही पडाव के लिए उपयुक्त स्थल। पुराने पडाव स्थलो मे अब बहुत थोडी मिट्टी शेष है जिसका कारण केवल भूक्षरण ही नही बल्कि यह भी है कि घने जगलों और खतरनाक जगली जानवरो से दूर सूखे स्थलो का चुनना एक मूलभूत आवश्यकता थी। स्थायी निवास का तो कोई सवाल ही नही उठता। ऐसी अधिकतर स्थितियो मे स्तरीय अवशेष प्राप्त होने की कोई सम्भावना नही है।

ये दोनो पाषाण सस्कृतियाँ विशेष महत्व की है क्योकि इनकी निरन्तरता ऐतिहासिक युग मे भी देखने को मिलती है। हम दिखायेंगे कि ईसा पूर्व छठी सदी में स्थानीय लौहयुग के अन्तर्गत पश्चिमी दक्खन मे कृषि का तेजी से विकास हुआ परन्तु इसके पहले नही। दक्खन मे कोई उल्लेखनीय ताम्रयुग नहीं रहा। इक्के दुक्के स्थलो मे जैसे कि महेश्वर (ईसा पूर्व दूसरी सहस्राब्दी के आरम्भ-काल) मे काम का एकाध औजार मिल जाता है परन्तु अधिवास में लम्बा व्यवधान देखने को मिलता है। महापाषाण सस्कृतिवाले लोगो के कई दल आये, जो सम्भवत (भीमा कृष्णा तुगभद्रा गोदावरी) नदियो की घाटियो मे लम्बी अवधि तक धीरे धीरे ऊपर नीचे सरकते रहे। इसके अलावा पानी और बेहतर चरागाहो के लिए उनका अल्पकालीन मौसमी स्थानान्तरण भी जारी रहा। यह मौसमी स्थानान्तरण ऋतु प्रवास कहलाता है, और इसका सम्पूर्ण दायरा दूरव्यापी देशान्तरण की तुलना मे काफी सीमित रहता है। स्पष्ट है कि महापाषाण और लघुपाषाण दोनो ही सस्कृतियो के लोग दोनो प्रकार के स्थानान्तरण के आदी थे। मानसून की शुरुआत होने पर लम्बी अवधि की नमी से भेडों के खुर सडने लग जाते हैं। शिकार नदी के साथ-साथ पूर्व के सूखे प्रदेश की ओर चला जाता है। मानसून के महीनो के बाद पुन वापिस लौटने मे सुविधा होती है क्योकि वर्षा के अनन्तर पुन घास उग आती है और जगल हरे भरे हो जाते हैं। इस प्रकार पश्चिम की ओर आगे बढते-बढते ही आदिम मानव समुद्रतट के नमक के अधिकाधिक समीप पहुच गया होगा। खुदाई मे समुद्रतट के पास कुछ प्रागतिहासिक स्थल मिले हैं जो सम्भवत नमक जमा करने के लिए डाले गये

पड़ाव हैं। दक्खन का ऊँचा कगार ५०० मीटर या इससे अधिक ऊपर उठा हुआ है, समुद्रतट से इसकी दूरी ५० किलोमीटर या इससे भी कुछ कम है, और इसमें कुछ दर्रे भी हैं। ये दर्रे कालान्तर में व्यापारी मार्गों के काम आये। पठारी प्रदेश की भाँति समुद्रतट के पास भी कभी कभी पत्थर के छल्ले मिल जाते हैं जो खन्ता को अधिक भारी बनाने के काम आते थे। इससे जाहिर होता है कि, अधिक उपजवाली हल की खेती तो नहीं, परन्तु आदिम पद्धति की खेती अवश्य होती थी और यह केवल स्त्रियों का ही काम था। इस समुद्रतट के समीप की पर्वत-श्रेणी पर ये सब सुविधाएँ उपलब्ध हुई—मवेशी, नमक समुद्रतट तक पहुँचने के मार्ग, पत्थर के औजार आग पर नियंत्रण और विविध प्रकार की प्राकृतिक उपज (शिकार और वनस्पति)। इस प्रकार दक्खन में इतिहास की शुरुआत के लिए पृष्ठभूमि तैयार हो गयी और इसकी वास्तविक शुरुआत तब हुई जब यहाँ के मूल निवासियों ने आग का इस्तेमाल करके लोहित धरा से लोहा प्राप्त करने की विधि सीख ली। लोहा बनाने की मूल प्रेरणा और इसकी विधि उत्तर से आयी, यह बात आगे जाकर स्पष्ट होगी। परन्तु यह स्पष्ट नहीं है कि दक्खन के इन आरम्भिक पशुचारी लोगों का उत्तर भारत के साथ किसी प्रकार का कोई सम्बन्ध था या नहीं। उनके पदचिह्न समूचे प्रायद्वीप में दक्षिण की प्रमुख नदियों की घाटियों में ऊपर-नीचे सर्वत्र मौजूद हैं। अंत में आनेवाले मानव समुदायों ने महापाषाण वाले पूजा-स्थलों को अपना लिया और आज भी ग्राम-वासी यहाँ के देवताओं की पूजा करते देखे जा सकते हैं। परन्तु जिन पशुपालक लोगों (गवलियों) ने इन वर्तमान देवों को स्थापित किया है वे इन पुराने महा-पाषाणों के निर्माता नहीं थे, इन्होंने चट्टानों पर खाँचे बनाकर इन महापाषाणों के अवशेषों का अपने पूजा-स्थलों के लिए अथवा स्तूप नुमा शवाधानों के लिए सिर्फ पुनः उपयोग ही किया है। उनका पुरुष देवता, जो बाद में म्हसोबा या इसी कोटि का कोई देवता बन गया, आरम्भ में पत्नी रहित था और कुछ समय के लिए खाद्य संकलनकर्ताओं की अधिक प्राचीन मातृदेवी से उसका संघर्ष भी चला। परन्तु जल्दी ही इन दोनों मानव-समूहों का एकीकरण हुआ और फलस्वरूप इनके देवी-देवताओं का भी विवाह हो गया। कभी-कभी किसी ग्रामीण देवस्थल में महिषासुर-म्हसोबा को कुचलनेवाली देवी का दृश्य दिखाई देता है तो ४०० मीटर की दूरी पर वही देवी थोड़ा भिन्न नाम धारण करके उसी म्हसोबा की पत्नी के रूप में दिखाई देती है। यही देवी ब्राह्मण धर्म में शिव पत्नी पार्वती के रूप में प्रकट हुई है जो महिषासुर मर्दिनी है। कभी कभी यह अपने पुराने रूप में लौटकर शिव का भी मर्दन करती है। इस सन्दर्भ में यह तथ्य महत्वपूर्ण है कि सिंधु सभ्यता की एक मुहर पर त्रिमुखवाले जिस आदिरूप शिव की आकृति उकेरी हुई है उसके सिर के टोप पर भी भैंस के सींग हैं।

प्रागतिहासिक काल के य अवशेष जो उत्पादन के साधनो और धार्मिक अधिरचना दोनो को ही प्रभावित करते हैं, हाल के वर्षों म ही ठीक से पहचान गये हैं। प्रागतिहास के ऐसे विचित्र अवशेष और इसका एसा विस्तार, यहा तक कि ऐतिहासिक युग के लम्बे विकास के दौर मे भी, किसी भी अन्य देश से इतना सुस्पष्ट नही है। भारत के इतिहास और समाज की यही खास विशेषता है। विकास के दौर ने आज के सश्लिष्ट भारतीय समाज पर अपनी स्पष्ट और अमिट छाप छोडी है।

२ ४ उत्पादन के साधना मे आदिम अवशेष

भारत मे प्रागतिहासिक मानव एक सभ्य मानव म कसे विकसित हुआ, यह कसे जाना जा सकता है ? एक विधि, जिसका इस्तेमाल हुआ है, मानवमिति है. जिसमे ऊँचाई, वजन खोपडी का आकार व ढाँचा, नाक की लम्बाई चौडाई त्वचा, आखा तथा बाला का रग आदि शारीरिक विशेषताआ का मापन होत है। परन्तु इस विधि से कोई उल्लेखनीय परिणाम प्राप्त नही होत। प्रागतिहासिक मानव की बहुत थोडी हड्डियाँ मिली हैं। मानवमितीय विशेषताएँ (जिनम मुखाकृति के प्रकारा का भी समावेश होता है) बदलती रहता हैं और इस बात पर निभर करती हैं कि कुछ पीढियो तक जीवन-पद्धति निश्चित रूप से बेहतर रही है या निश्चित रूप से बदतर। आज भारत म जो आदिवासी लोग हैं वे आसपास की आबादी मे उनके सम्मिश्रण को यदि ध्यान में रखा जाय तो पहली नजर मे कमजोर और शारीरिक दृष्टि स अविकसित जान पडत हैं। परन्तु सबको एक ही शारीरिक प्रकार म सम्मिलित नही किया जा सकता। यह मानने के लिए पयाप्त कारण मौजूद है कि एस आदिम प्रकार सामान्यत अस्थायी होत हैं। बेहतर भोजन मिले और खेतो मे नियमित रूप से काम करना पडे तो कुछ पीढियो बाद आदमी के कद और शरीर-गठन मे परिवतन हो जाता है। भारत म ऐसे जो मानवमितीय तथ्य एकत्र किये गये हैं, उनके सांख्यिकीय विश्लेषण से पता चलता है कि आदमी की लम्बाई के साथ-साथ उसके कपाल माप और मुखरूप (*नासा सूचकांक*) भी बदल जाते हैं।

इस अवस्था के अध्ययन के लिए भाषा-सम्बन्धी अनुसन्धान से और भी कम सहायता मिलती है। भारत म करीब एक दजन प्रमुख भाषाएँ और कमोबेश महत्व की कोई ७५३ बोलियाँ हैं। इन्हे प्राय तीन भाषा परिवारो मे बाँटा जाता है (१) उत्तर और पश्चिम की भाषाओ का इन्दो *आर्य* परिवार, *जिसमे* पजाबी हिन्दी (जिसम राजस्थान और बिहार की बोलिया भी शामिल हैं), बगला, गुजराती मराठी और उडिया का समावेश होता है, (२) दक्षिण की द्रविड भाषाएँ तेलुगु, तमिल मलयालम, कन्नड और तुलु, (३) आस्ट्रो एशियाई भाषा-परिवार जिसमे अधिकाश आदिम भाषाओ को मनमर्जी से ठूस

दिया जाता है मुडारी, उरांव, स थाली आदि। मा यता यह थी कि इन आदि वासियो को द्रविडो ने दूर-दराज के जगलो म ढकेल दिया और बाद मे आर्यों ने द्रविडो को भी दक्षिण की ओर भगा दिया। आय आक्रमण एक सुप्रमाणित ऐतिहासिक तथ्य है। बाकी सब सदिग्ध अनुमान मात्र है। सोवियत मध्य एशिया से ईसा पूव तीसरी सहस्राब्दी के स्तर म द्रविड प्रकार की जो एक खोपडी मिली है वह उस वातावरण के लिए बिरली ही है। उत्तर-पश्चिम मे ब्राहुई भाषा का अस्तित्व आयभाषियो के बीच मे द्रविड भाषा के एकाकी द्वीप' जसा है। यह सम्भव है कि ब्राहुई भाषा बोलने वाले लोग ऐतिहासिक काल म उस क्षेत्र मे पहुच गये हो क्योकि ईसा की ग्यारहवी सदी तक द्रविड लोग भारी सख्या मे उत्तर की ओर जाते रहे। भाषा वज्ञानिक विश्लेषण इस बात पर कोई ध्यान नही देता कि आजीविका की दशा का भाषा पर क्या प्रभाव पडता है। जसाकि निष्पक्ष अनुस धान से ज्ञात होता है, भारत की सभी आदिम भाषाएँ एक ही भाषा-परिवार की नही हैं। असम म जहा हर घाटी म भिन्न भिन्न भाषाएँ बोलने वाले कई कबीले हैं, भाषाओ या प्रमुख बोलियों की सख्या १७५ से ऊपर पहुच जाती है, जिसम स अधिकाश ऐसी आदिम कबीलाई बोलिया हैं जिन्हें न तो मुडारी के साथ जोडा जा सकता है, न ही किसी एक भाषा-परिवार मे रखा जा सकता है। यह भी नही माना जा सकता कि असम के इन लोगो को द्रविडो ने यहाँ ढकेल दिया है। इस बात को यह कहकर नजर-अन्दाज कर दिया जाता है कि असम असली भारत का अग नही है। भारत के आदिम निवासियो को (हम बताया जाता है) द्रविडो ने ही जगलो मे ढकेल दिया और उवर भूमि पर अधिकार जमा लिया। परन्तु वास्तविकता यह है कि, यह उवर भूमि लौहयुग के पहले घने जगलो और दलदलो से घिरी हुई थी। आदिम मानव की जीविका के लिए आजकल के गहरी जोत वाले क्षेत्र नही बल्कि सीमावर्ती विरल जगल वाले क्षेत्र ही अधिक उपयुक्त थे। अथात् अन्न सकलनकर्त्ताओ के लिए सबसे बेहतर क्षेत्र करीब करीब वही थे जहाँ वे आज बसे हुए हैं। प्रारम्भिक पशुपालको और अन्न उत्पादको को किसी को भी खदेडने की आवश्यकता नही थी। अन्त मे, यद्यपि द्रविड लोग आयभाषियो से रग मे आमतौर पर अधिक काले है परन्तु इससे भाषा का प्रजाति से सम्बन्ध होने की कोई सम्भावना नही है। आधुनिक मानव विज्ञान के अनुसधानो की जहाँ तक मुझे जानकारी है, ब्राहुई भाषा बोलने वाले द्रविड प्रजाति के नही हैं।

अत अध्ययन के लिए शेष बचते हैं तो केवल औजार और उत्पादन के सम्बन्ध, इनमे से प्रथम की तुलना प्रागतिहासिक अवशेषो स की जा सकती है। भारत म अब ऐसे कोई कबीलाई लोग नही बचे हैं जो पत्थर के तीर फलक, हस्त कुठार या आम इस्तमाल के लघुपाषाण बनाते हो ताकि प्रागतिहासिक औजारो

से इनकी तुलना की जा सके। पश्चिमी घाट के क्टकरी आदिवासी बताते हैं कि कुछ पीढ़िया पहले के उनके पूवज कुछ भाडे प्रकार के पत्थर के तीर-फलक बनाते थे। परन्तु आज उनका कोई भी वशज ऐसे तीर फलक नही बना सकता, न ही अपने पूवजा का ऐसा कोई तीर फलक दिखा सकता है। अन्दमान द्वीप-समूह के आदिवासी जब अग्रेजो के सम्पक म आये तो वे काँच की बोतलो से शल्कल बनाने लगे क्योकि काँच के टुकडे किसी भी पत्थर से अधिक तेज धारवाले होते है। सवत्र आम इस्तेमाल के औजारो के लिए जल्दी ही धातु का उपयोग होने लगा। जहाँ लघुपाषाणो का आज भी इस्तमाल होता है ऐसे एक ही अपवाद की मुझे जानकारी है। दक्खन और मध्य भारत के धनगर (पशुपालक) जाति के लोग मेढा और बकरो के बधियाकरण के लिए आज भी कलसिडोनी के सद्य निर्मित शल्कलो का इस्तेमाल करते हैं। अनगढ होने पर भी इन्हे हमें लघुपाषाणी औजार ही मानना होगा। प्रागतिहासिक काल मे इनके निर्माण की विधियाँ बडी विक सित थीं, परन्तु आधुनिक धनगर प्रागतिहासिक लघुपाषाणो को शिल्पवस्तुए अथवा औजार नही मानते। पत्थर के चाकू का आज भी इस्तमाल होता है, इसका कारण यह है कि ताजे छील हुए पत्थर के घाव आसानी से दूषित नही होते, जबकि जीवाणु रहित न बनाये गये धातु के चाकू से घाव के दूषित होने की काफी सम्भावना रहती है। एक बार की शल्यक्रिया के बाद पत्थर के उस टुकडे को फेंक दिया जाता है। (धातु का आम प्रचलन हो जाने पर भी यहूदी लोग खतना करने के लिए पत्थर के चाकू का ही इस्तेमाल करते रहे इसका व्यावहारिक कारण सम्भवत यह था कि इसमे सदूषण की सम्भावना कम रहती थी। लेकिन धार्मिक अनुष्ठानो का झुकाव हमेशा ही रूढिवाद की ओर होता है। लोह और इस्पात का आम इस्तेमाल होता था, फिर भी प्राचीन रोमन लोग पशुबलि के लिए पत्थर के कुल्हाडो और काँसे के छुरो का ही इस्तेमाल करते थे।)

धनगर ज्यादातर खानाबदोश गडरिये हैं। करीब ३५० भेडो को लेकर कोई एक दजन आदमियो का जत्था (वाडी) साल के अधिक समय तक लगातार स्थानान्तरण करते हुए चार महीनों के अस्थायी वर्षावास के लिए एक स्थान पर लौट आता है। यदि इस स्थान पर अधिक वर्षा होती है तो वह मानसून शुरू होने पर पूव की ओर और आगे बढ जाता है। पुरुष भेडो को चराते हैं और उनकी देखभाल करते हैं। स्त्रिया अपने कुछ भाडे बरतनो ऊनी तन्तुओ और बच्चो को टट्टुओ पर लादकर सीधे अगले पडाव पर पहुँच जाती हैं। ये धनगर अब खेती में सहयोग देते हैं। इनका मुख्य खाद्य साधन भेड का मास या जगल से जमा की गयी चीजें नही है बल्कि वह अनाज (या पैसा) है जो उन्हे उन किसानो से प्राप्त होता है जिनके खेतो पर करार के अनुसार वे दो तीन रातो के लिए अपनी भेडें रुकवाते हैं। भेडो की मेगनी का खाद बनता है और उपज बढती है। य

गडरिये इसी प्रकार घूमत घमते आठ सूखे महीनो म करीब ४०० मील का रास्ता तय करते हैं। पहले इनका रास्ता घास के मदानो और चरागाहा से गुजरता था, अब यह खेता मे से जाता है। धनगरो की मूल भाषा जो भी रही हो, परन्तु अब इहोने आस पास के किसाना की मराठी या हिन्दी भाषा अपना ली है। आवश्यकता पडने पर य धनगर कभी कभी भेड या ऊन बेचकर आजीविका के साधन जुटात हैं। कुछ धनगर पहले ऊन के मोट कम्बल भी बुनत थे। उनके य सब काय अब उन्हे उस आम समाज स जोड देत हैं जिसस उनका सरोकार है। इसलिए वे किसाना से थोडी नीचे के दर्जे की एक हिन्दू जाति म पहुँच गय है। यदि उन स्थानो का अध्ययन किया जाये जो भेड चरान के लिए और वर्षावास के पडाव के लिए सर्वाधिक उपयुक्त थे तो उनके मूल मौसमी मार्गों को पहचाना जा सकता है। इस अध्ययन क फलस्वरूप प्राप्त होने वाली महत्वपूण जानकारी यह है कि इन पुराने धनगरो के सर्वोत्तम विचरण माग करहा घाटी के बाएँ किनारे के समीप से गुजरते थे (इस घाटी मे घने जगल कभी भी नही रहे)। इनके ये माग प्रागतिहासिक युग तक पीछे चले जाते हैं, और इसलिए दक्खन की उत्कृष्ट लघुपाषाणो वाली सस्कृति के लिए ठोस आधार प्रस्तुत करते हैं। अन्य शब्दो म धनगरो की जीवन पद्धति का मूल प्रागतिहास मे है। अब य अपने मृतको का जलाते हैं और दफनाते भी हैं परन्तु पहले इनमे भी दफनाने का ही आम रिवाज था जसाकि प्राचीन भारत मे आमतौर से होता रहा है। इनके दो प्रमुख देवता हैं—बिरोबा और खडोबा जिनका इतिहास ईसा की चौथी सदी से भी पहले तक खोजा जा सकता है यद्यपि अब इन देवताओ की पूजा करने वाले लोग मुख्यत हिन्दू जातियो के हैं। विशिष्ट वार्षिक पूजा के एक स्थान (वीर) पर देवता (या सम्भवत सस्थापक की पूजा पद्धति) को दी जाने वाली मानव बलि के स्पष्ट अवशेष मिलत हैं। ये अवशेष उस समय के हैं जब सम्भवत ईसा की आरम्भिक सदियो मे इस बस्ती की स्थापना हुई थी। आधुनिक बस्ती के किसान धनगर नहीं है, खेती को अपनान के साथ-साथ इनकी जाति भी बदल गयी है। परन्तु सुदृढ परम्परा यही बताती है कि इस देवता का आदि सस्थापक और मुख्य पुजारी एक धनगर ही था।

हम अपने इस अध्ययन के लिए धनगरो के अलावा दूसरी जातियो या कबीलो को भी चुन सकते थे, जसे, भीलो को। भील भारत के आयपूव लोग हैं और सम्भवत द्रविड नही है। ये लोग अब अध कबीलाई किसान बन गय हैं, अनुवर भूमि पर खेती करते है परन्तु अच्छे धनुधारी, शिकारी, धीवर तथा अन्न सकलनकर्ता के रूप मे भी प्रसिद्ध हैं। किसी मध्यवर्ती अवस्था मे ये लोग पशुपालक बन गये थे और खेतिहर तो आधुनिक काल मे ही बन हैं। फलत भील भाषा अब गुजराती की एक बोली है, जो उन गूजरो की बोली के समीप है

जिनसे इन्होंने पशुपालन सीखा था। यह एक स्वाभाविक परिणाम है जब दो सम्स्कृतियों का मिलन होता है तो जिस सस्कृति की उत्पादन प्रणाली श्रेष्ठतर होती है उसकी भाषा अक्सर दूसरी सम्स्कृति पर हावी हो जाती है। माना जाता है कि भीलो के आश्रित नहाल कबीले के लोगो पर जिनकी किसी समय अपनी स्वतन्त्र भाषा थी, ऐसा ही प्रभाव पडा है। कबीलाई भीलो की एक खास विशेषता यह है कि इन्होंने आवश्यकता पडने पर पूरे ऐतिहासिक युग मे लडाइयाँ लडी हैं, यद्यपि य योद्धाओ के रूप म नियमित रूप से सगठित कभी नही रहे। जान पडता है कि कुछ भील ईसा पूव पहली सदी मे मालवा के आस-पास राजा भी बन गये थे परन्तु इनका राजवश जल्दी ही नष्ट हो गया। कबीलाई गाड लोग कुल मिला कर आज भी आदिम अवस्था मे हैं, परन्तु इनमे से कुछ अन्य लोग सामन्ती युग मे राजा भी बने हैं। ऐसे राजगोड आज भी मौजूद हैं और अपन को अन्य गाडो से पृथक और उच्चतर मानत हैं। नीलगिरि के टोडा आदिवासी पर्यटको और नतत्ववेत्ताओ के लिए आकर्षण का केन्द्रबिन्दु बन गय हैं। सबसे आदिम अवस्था वाल चेंचु लोगो ने अपनी मूल भाषा त्याग दी है (यद्यपि वे अब भी मुख्यत खाद्य-सकलन की अवस्था म हैं) और अब तेलुगु से मिलती जुलती भाषा बोलते हैं जो परिवेश के अन्न उत्पादक किसानो की भाषा है। अन्य शब्दो मे, ऐसे सभी अध्ययनो से सिद्ध होता है कि अधिक सक्षम उत्पादक-समुदायो के सम्पक मे आने पर आदिम समाज बडे प्रभावित होत हैं। नागालण्ड की मौजूदा समस्या है कि कुछ नागाओ न तो आधुनिक पूजीवादी शिक्षा प्राप्त कर ली है परन्तु अधिकाश नागा नही चाहते कि वे दबदबे मे रहकर एक असहाय किसान का जीवन अपनायें, जो कि अतीत और वतमान के भारत की एक विशेषता है। नागाओ की पृथक राज्य की माँग (जो हाल ही मे मान ली गयी है) या पूर्ण स्वतन्त्रता की माँग का मूलाधार यह है कि उनमे हल की खेती और पूजीवादी सम्पत्ति के अभाव के कारण अब भी कबीलाई एकता के अवशेष मौजूद हैं, और यह इस कारण भी है कि अन्न-उत्पादक समाज के अनधिकार प्रवेश के खिलाफ सशस्त्र सघष करने की उनमे लम्बी परम्परा रही है।

अधिकाश पयवेक्षक इस बात पर ध्यान नही देते कि पारस्परिक सम्पर्क से कबीलाई लोगो का भी भारतीय किसानो पर और उच्च वर्ग के लोगो पर भी, प्रभाव पडा है। कबीलाई लोग आमतौर पर खेती की भूमि बदलत रहत हैं। एक सीमित क्षेत्र म आग लगा दी जाती है या उसकी झाडियाँ काटकर फिर आग लगा दी जाती है। फिर राख म कुछ बीज बिखर दिये जात हैं। कभी-कभी खुर्पी (मराठी थोंबा) से जमीन म गड्ढे बनाकर उनम बीज डाल दिय जात हैं। जमीन बडी जल्दी अनुर्वर हो जाती है। दो साल म ही नय क्षेत्र साफ करन पडत हैं और पुरानो को नयी झाडियाँ और पेड उग आने के लिए छह स दस साल तक परती छोड

दिया जाता है। वस्तुत इसी प्रकार की खेती से दश के अधिकाश आदिवासी अन्न पदा करते हैं। जम पश्चिमी घाट के गावडा, और हो, उरांव, सथाल, कोलटा आदि। ऐसी खती से उतने लोगा का भरण पोषण नही होता जितना कि नियमित खेती स सम्भव है। परन्तु हल की खेती के लिए अधिक श्रम की आवश्यकता होती है भूमि को समतल बनाना होता है, पहाडी ढलान पर सीढीदार पट्टियाँ तयार करनी होती हैं, पत्थर हटाने होते हैं, जगल और ठठ साफ करने होत हैं और नियमित रूप स खाद का उपयोग करना होता है। इस सब का मतलब है हल की खेती और उसके लिए आवश्यक पशु तथा औजार। इसका प्राय यह भी अथ होता है कि भूमि का निश्चित खण्डा मे बाँटकर उस पर व्यक्तिगत अधिकार हो जाय, जिससे अन्तत अधिक अन्न उपजने पर आबादी बढ़ती है और फलत वग भेद पदा हो जाते हैं। इसके बावजूद, ऐसे अनेक खेतिहर देहात भी हैं (जसे महाराष्ट्र मे, जहाँ से परिचित हान के कारण मैंने अधिकाश उन्दाहरण लिये है) जहाँ के किसान हल की खेती के साथ-साथ काटकर और जलाकर की जानेवाली आदिम पद्धति की खती भी करते हैं। जसाकि स्वाभाविक है, ऐसी खेती गाँव की उस पडती जमीन म की जाती है जो सामान्यत पहाडी की ऊँचाई पर होती है और जिस पर सीढीदार खेत तयार करना सम्भव नही होता, क्योंकि तह म बसल्ट की कठोर चटटानें हाती है और ढाल खडा होता है। धान की पौध के लिए भी क्यारियाँ एक ऐसे तरीके से तयार की जाती है कि स्पष्ट पता चलता है कि इसका उदगम काटने जलाने की पद्धति से हुआ है। इन क्यारियो मे खाद, मिटटी, भूसा और जगल म बटोरी गयी पत्तियाँ फला दी जाती है। इन सब के मिश्रण को इतना भर सूखने दिया जाता है कि पत्तियाँ जल सकें, परन्तु तेजी स न जलें इसलिए इन्हे कुछ गीला किया जाता है और तब आग लगा दी जाती है। आग सुलगती रहती है और इस प्रकार नन्हे अकुरो के लिए आवश्यक रसायन मिटटी मे तयार हो जात है। इस प्रकार तयार की गयी क्यारियो म पहली वषा के समय ही चावल के बीज बो दिये जाते हैं। धान को रोपने के बाद य क्यारिया खाली छोड दी जाती हैं। तब किसान जमीन के इन छोटे टुकडो मे दालो और साग-सब्जियो के बीज रोप देता है, इनके बिना केवल चावल स उसे पूरा सन्तुलित आहार नही मिल सकता। इसी प्रक्रिया से बदल-बदलकर फसल बोने की पद्धति का आविष्कार हुआ और अच्छी खती के लिए इस पद्धति का बडा महत्त्व है।

कुछ भारतीय किसान और पहाडो म बसे हुए अनेक आदिवासी आज भी पौधे रापने के लिए खोंबा खती का इस्तेमाल करते हैं। प्रागतिहासिक खतियो स य खतियाँ इस माने म भिन्न हैं कि अब इनमे पत्थर के कक्ण डालकर इन्हें भारी नही बनाया जाता। आदिम खतियाँ जहाँ कोहनी तक लम्बी होती थी वहाँ आधुनिक खतियो की ऊँचाई छाती तक पहुचती है। इसलिए य अधिक भारी और

मोटी होती हैं और इनमें इस्पात की नोक भी होती है परन्तु इस बात में कोई सन्देह नही कि यो वा आदिम काल का एक औजार है। इनसे घटिया किस्म के अनाज के बीज बोये जाते हैं, जैसे नाचणी वरी व सामवा, जो कभी-कभी जगली अनाज के रूप में भी पाये जाते हैं। ऐसी खेती खड ढाल वाले पहाडी प्रदेश में होती है इसलिए हल का इस्तेमाल करना न आवश्यक है न सम्भव है परन्तु ऐसा खेती को दस में से करीब आठ साल तक पडती छोड देना पडता है। भूमि के छोटे किन्तु समतल खण्डो पर हल के स्थान पर 'हो' अथवा लम्बे हत्येवाली कुदाली का इस्तेमाल होता है। जहाँ भूमि अधिक उपजाऊ होती है वहाँ स्त्रियाँ खेती करती हैं और इस प्रकार पुरुषो की श्रमसाध्य खेती में अपना अश जोडती हैं। सर्वाधिक पिछडे हुए आदिवासियों में सारी खेती 'हो' और खतियो से होती है, और यह स्त्रियो का काम है, पुरुषो का काम होता है शिकार करना। मछुवा की अब स्वतत्र जातियाँ बन गयी हैं। फिर भी कबीलाई लोग और बहुत से किसान बिना जाल के ही मछली पकडते हैं वे मछलियो को छिछले जलस्थानो अथवा विशेष प्रकार से बनाये गये बाँधो की ओर भगाते हैं और उन्हें हाथो से ही पकडते हैं। मैंने ऐसे ही डबरो के किनारे इनके प्रागैतिहासिक पूवजो द्वारा छोडे हुए लघुपाषाणो के बडे बडे ढेर देखे हैं। यही स्थिति मृत्भाण्डो की है। यद्यपि पुरातत्व से जानकारी मिलती है कि पाँच हजार साल पहले सिन्धु प्रदेश में द्रुतगति वाले चाको पर उत्तम मृत्भाड बनाये जाते थे, दक्खन में प्रागैतिहासिक पुरातत्व से ज्ञात होता है कि अनगढ मृत्भाण्डो का निर्माण चाक के बिना ही होता था। ठीक उसी पद्धति से धीमी गतिवाली चक्ती (शवता) पर अथवा बिना चक्ती के ही आज भी विभिन्न आकारो के मिट्टी के बतन बनाये जाते हैं। विशेष बात यह है कि कुम्हार की इस चक्ती को आज भी सिर्फ स्त्रियाँ ही चलाती हैं। पुरुष उन अधबने बतनो को एक हाथ से बाहर से लकडी की थपली से ठोकते हैं और दूसरे हाथ की मुट्ठी में पत्थर की निहाई लेकर भीतर से उसे सहारा देते हैं। इस प्रकार पकाने के पहले बतनो को पतला और मजबूत बनाया जाता है और बाद में बतन आकार और बनावट में बेहतर दिखायी देता है। ऐसी निहाइयाँ दो-तीन हजार साल पहले के खुदाई के स्तरो में प्राप्त हुई हैं। मृत्भाण्डो के निर्माण का काम पूणत स्त्रियों के जिम्मे ही रहा होगा परन्तु लगता है कि कुम्हार के द्रुतगति चाक का इस्तेमाल हमेशा पुरुष ही करते रहे हैं।

२ ५ अधिरचना में आदिम अवशेष

यदि आदिम और प्रागैतिहासिक युग के इतने अधिक तकनीक जीवित बचे हैं तो तदनुरूप रीति रिवाज विश्वास और सामाजिक सगठन के रूप यानी उत्पादन के सम्बन्ध जीवित देखने को न मिले तो यह एक अचरज की ही बात होगी। दरअसल ऐसे अनेक अवशेष हमारे बीच मौजूद हैं। उदाहरणार्थ, सुखी

परिवारा के रसोईघरो मे इधन के लिए तेल अथवा बिजली का भले ही इस्तेमाल होता हो, कि तु उनम (आन्ध्र और दक्षिण-पूर्वी प्रदेश को छोडकर) सिल और बटटे का भी उपयोग होता है जो प्रस्तर युग के साधन हैं। आकार म जरूर कुछ बदल हो गया है, आधुनिक सिल सपाट और बटट से अधिक चौडी होती है। आज सिलबटटे का इस्तेमाल मुख्यत नारियल या मसाले कूटने अथवा चावल के साथ खायी जाने वाली कढी या साग स जी के लिए नरम मसाले पीसने के लिए होता है। इस प्रकार के सिल पर आजकल समुद्री नमक से अधिक सख्त कोई चीज नही पीसी जाती। परन्तु इसके इस्तेमाल मे प्रागैतिहासिक युग के अवशष अब भी मौजूद हैं। सवप्रथम यह देखन को मिलता है कि इसका इस्तेमाल करने वाली उच्च-वर्गों की स्त्रियाँ बटटे को प्राय ऊपर से पकडती हैं। परन्तु निम्न जातिया की स्त्रियाँ इसे आमतौर से दोना सिरो से पकड़ती हैं जिससे यह अधिक घूम नही पाता और इसकी काय-क्षमता घट जाती है। पर तु प्रागतिहासिक काल मे बटटा सिल से अधिक चौडा होता था और सिल भी सपाट न होकर सामने की ओर ऊपर उठी होती थी। ऐसा सिल बटटा और इसकी पकड अनाज जसी चीजो को पीसने के लिए आधुनिक सपाट सिलबटटे की अपेक्षा कही अधिक उपयुक्त है। इससे यह जाहिर होता है कि निम्न जातिया उस अतीत के अधिक समीप है जब ऐसे सिल बटटे का इस्तेमाल वास्तव मे अनाज को पीसकर आटा तयार करने के लिए होता था। आजकल सभी जातियाँ आटा पीसने के लिए अधिक सक्षम हाथ का चक्की अथवा मशीन का चक्की का सहारा लेती हैं। पर तु सिल-बटट के इस्त माल मे जो अ तर दिखायी देता है उससे जाहिर होता है कि निम्न जातिया ने अन्न उत्पादन की अवस्था म बाद मे प्रवेश किया है। अब ये निम्न जातियाँ ही मजदूर और किसान हैं प्रमुख अ न उत्पादक हैं। वग भेद का कारण भी यही है कि इ होने अ न उत्पादन की अवस्था म काला तर मे प्रवेश किया। स्पष्टत यह एक महत्वपूर्ण ऐतिहासिक और सामाजिक तथ्य है। उच्च जातिया उत्तर की ओर से आयी या इन्हें पहले प्रभावित करने वाले उत्तर के वे अ न उत्पादक लोग थे जिन्होंने दक्खन मे वास्तविक कृषि की पहली बार नीव डाली और जो पहले से ही हाथ की चक्की का इस्तेमाल करने लग गये थे। सिल बटटे से एक और पुराकालिक परम्परा जुडी हुई है, यह विचित्र अनुष्ठान हिन्दू (ब्राह्मण) ग्रन्था में दखने को नही मिलता, दरअसल, इसे लिपिबद्ध ही नही किया गया। इसमे सिफ स्त्रिया ही भाग लेती है जिससे इसका आदिम और प्रागतिहासिक उदगम जाहिर होता है। शिशु-जन्म के दसवें (कभी-कभी छठे या बारहवें) दिन उपस्थित स्त्रियों म से कोई वयोवद्ध स्त्री बटटे के कडे चिकने और बलनाकार पत्थर को लेकर उसे पालन के चारो ओर घुमाकर फिर पालने मे ही रख देती है। इसका आशय यह होता है कि वह बालक ब ा होकर उस पत्थर की तरह ही निर्दोष और

दीर्घजीवी बन। पत्थर के बटटे को बच्चे का झगुला (कुची) पहनाते हैं, साथ ही, मातृदेवी की तरह माला या हार भी पहनाते हैं। पत्थर पर थोडा लाल या कभी कभी पीला रग भी लगाया जाता है। ऐसे अनुष्ठानो का प्रतीकार्थ कभी भी सुस्पष्ट नही होता। वह पत्थर एकसाथ ही शिशु और उस शिशु को आशीष देनेवाली मातृदेवी अथवा दयालु परी का द्योतक होता है। परन्तु पुरुष-पुरोहितो को इस अनुष्ठान की कोई जानकारी नही होती, यद्यपि ब्राह्मण और सभी निम्न जातियो मे इसका प्रचलन है। निस्सन्देह इस अनुष्ठान को, सम्भवत उत्तर की ओर से आकर बसने के बाद, आदिम जनसमूह के किसी हिस्से से अपनाया गया है। सास्कृतिक आदान प्रदान का यह एक उदाहरण है। आदिवासी क्षेत्रो मे जाकर अनुसधान करने वाले अधिकतर पुरुष ही होते हैं, आदिवासी या निम्न जाति की स्त्रियाँ इन अपरिचित अनुसधानकर्ताओ से बातचीत करने के लिए तैयार भी हो जायें, तो भी वे इनसे अपने विशिष्ट अनुष्ठानो की चर्चा कभी नही करेंगी। अन्यथा ऐसे रीति रिवाजो के बारे मे हम बहुत अधिक जानकारी मिल चुकी होती। तब आदिम समूहो की आरम्भिक भाषा के बारे मे भी कुछ जानकारी प्राप्त करना सम्भव हो जाता, क्योकि पुरानी भाषा पुरुषो की अपेक्षा स्त्रियो की बोली मे और उनके अनुष्ठानो मे काफी हद तक जीवित रहती है। सामान्यत भारतीय स्त्रियो के जीवन मे आदिम तत्त्व अधिक मात्रा मे मौजूद हैं जबकि पुरुष, अपने कबीले या अपनी जाति के बाहर के जनसमुदाय से अधिकाधिक सम्पर्क मे आने के कारण, बाह्य जगत से अधिक प्रभावित दिखायी देते है।

सुपरिचित धार्मिक अनुष्ठानो के उद्गम भी आदिम या प्रागैतिहासिक युग मे खोजे जा सकते हैं। वसन्तोत्सव होली ने आज एक गन्दे और भ्रष्ट आनन्दोत्सव का रूप धारण कर लिया है परन्तु इस त्योहार की मुख्य विशेषता है एक बडी आग के चारो ओर नृत्य करना। कही-कही इसके बाद कुछ चुने हुए लोग अगारो पर भी चलते है। परन्तु दूसरे दिन सवत्र खुलेआम काफी अश्लील शोरगुल सुनने को मिलता है। दूर-दराज के क्षेत्रो मे यौनाचार और स्वच्छन्द सम्भोग की भी छूट रहती है। प्रागैतिहासिक युग मे आहार अपर्याप्त था जीवन कठोर था और प्रजनन आसान नही था। तब उत्तेजना के लिए अश्लीलता की आवश्यकता थी। परन्तु आधुनिक काल मे इस उत्सव मे भ्रष्टता आ गयी है तो इसका कारण यह है कि किसानो के भारी श्रम के कारण बेहतर भोजन मिलने लग गया है जिससे कामेच्छा मे और उसके प्रति हमारे दृष्टिकोण मे आमूल परिवर्तन हो गया है। होली उत्सव की कुछ विशेषताएँ प्रागैतिहास के मातृसत्ता युग की जान पडती हैं। कुछ स्थानो पर देखने मे आता है कि एक आदमी (जिसे कोलिन कहते है) को स्त्री के वस्त्र पहन कर दूसरो के साथ होली-दहन के नृत्य मे शामिल होना पडता है। बगलौर के वार्षिक करगा महोत्सव मे मुख्य आयोजक को स्त्री

के वस्त्र पहनने पडते हैं। फदा डालकर बटेर पकडनेवाले पश्चिमी भारत के पारधियों के पुरोहित को भी प्रजनन-सम्बधी गायन और तप्त तैल-परीक्षा के अवसर पर ऐसा ही करना पडता है। आरम्भ मे इन अनुष्ठानो और उत्सवो पर स्त्रियो का एकाधिकार था, परन्तु बाद में पुरुषो का इन पर कब्जा हो गया। इसी प्रकार ब्राह्मणो की कथाओ और आख्यानो मे मातृदेवियो के कुजा या उपवनो के उल्लेख मिलत हैं। ऐसे उपवन सडको स दूर के देहाता में आज भी मौजूद हैं। परन्तु अब इन स्थानो में स्त्रियो का प्रवेश आमतौर पर वर्जित है अपवाद हैं तो ऐसे कुछ स्थान जहाँ पुरोहिती अब भी आदिवासिया के हाथा मे है, जहाँ पुरोहिती नये आकर बसे हुए किसाना को नहीं सौप दी गयी है। आरम्भ मे पुरुषो के लिए प्रवेश वर्जित था। जब समाज मातृसत्ता से पितृसत्ता की अवस्था में बदला, तो तदनुरूप पुरोहित पद और कर्मकाण्ड भी बदल गये।

ग्रामदेवताओ का भलीभाति अध्ययन करने से भी अनेक बातो की जानकारी मिल जाती है। अधिकाश दवता साद प्रस्तर-खण्ड होते हैं, जिन पर सिन्दूर या तल मिला गेरुआ या काई सस्ता लाल रग पोता हुआ हाता है। यह रग रक्त के एवज मे होता है। दरअसल, कुछ विशेष अवसरो पर आज भी अधिकाश ग्राम देवी-देवताओ को रक्त-बलि दी जाती है। जब खेती की उपज से गाँव कुछ सम्पन्न हो जाता है और ब्राह्मण-पुरोहित भी आ जाता है तो य पूजा विधान कुछ स्थायी देव-पूजाओ से जुड जाते हैं जस, वानर देवता हनुमान हस्तिमुख गणेश, पिशाच-राज वेताल। तब इन देवताओ की प्रतिमाएँ बनने लगती हैं। फिर भी इनकी आदिम विशेषताएँ सवथा लुप्त नही हो जाती पर अन्तत पदोन्नति हो जाने पर फिर इनके लिए लाल रग और रक्त बलि की आवश्यकता नही रहती। सभ्यता के इस क्रमिक विकास को आसानी से परखा जा सकता है। कही कहीं देखने को मिलता है कि किसी प्रागतिहासिक देवता (अधिकतर दवी) की पुराने पूजा-स्थल पर या समीप ही आज भी पूजा होती है, यद्यपि आमतौर पर यह नही बताया जा सकता कि देवता का नाम वही है या बदल गया है। एक आश्चयजनक अपवाद है बुद्ध का जन्म-स्थान, जहाँ देवी का वही नाम (लुम्मिनी रुम्मिनी) २,५०० से भी अधिक वर्षों से चला आ रहा है। यह कहा जा सकता है कि ईसवी सन के आरम्भकाल में जब जुन्नर मे बौद्ध गुफाएँ बनी, तो वहा मनमोदी देवी का स्थल पहले स मौजूद था, एक हजार साल बाद जब बौद्धधम का ह्रास होने लग गया, तो वही दवी बिना नाम बदले वहाँ पुन उपस्थित हुई। अक्सर यह हाता है कि जब कोई ग्राम-दवता अधिक लोकप्रिय हो जाता है और उसकी पूजा दूर-दूर के लोग करने लगत हैं तो उसे शिव या विष्णु के साथ मिला दिया जाता है, अगर देवी हो तो उस पावती लक्ष्मी या ब्राह्मण धम की ऐसी ही किसी देवी के साथ जोड दिया जाता है। ऐसी कुछ अधिक दिलचस्प देवियाँ जिनके नामा को

व्युत्पत्ति का तो पता नही चलता परन्तु जिनके स्थानीय पूजा विधाना का बडा प्रभाव है, ये हैं मेगाई, माघराई सागजाई उदालाई कुम्भलजा, मनझनी, इत्यादि। इन नामा के अन्त मे जो आई शब्द है उसका अथ है माता। ऐसे नाम प्राय किसी विलुप्त कबीले या कुल-समूह के सूचक होते हैं। पेरनेम के पास बोल्हाई देवी की आज भी एक प्रागतिहासिक महापाषाण के स्थल पर पूजा होती है (यद्यपि गायकवाडो के धनी सामन्ती परिवार ने एक मील की दूरी पर एक बढिया मन्दिर बनवाकर इस पुरातन महापाषाण-स्थल के महत्त्व को नष्ट कर दिया है)। देवी का यह नाम बारहवी सदी म भी पुराना था, और सम्भवत यह कन्नड भाषा का नाम है। किसी जगन्माता का कोई सवाल ही नही उठता। यदि किसी स्थानीय देवपूजा का विस्तार होना है, तो कबीले के स्थानान्तरण से इस विस्तार का आमतौर से पता चल जाता है। बोल्हाई के प्रमुख भक्त आज साठ किलोमीटर दूर के एक ही गाँव म रहत हैं और इन सबका कुलनाम 'वाजी (घोडा) है। यह माना जाता है कि देवी कुछ लुटेरो (कारा) के साथ चली गयी है जिसस साफ जाहिर होता है कि वह लम्बे समय तक किसी खूखार कबीले की अधिष्ठात्री देवी रही है। इस क्षेत्र की आबादी मे इतनी अधिक हलचल और रद्दो बदल हुई है कि देवी के महापाषाण की प्रागतिहासिक युग स निरन्तर पूजा होती रहना सम्भव नही था। परन्तु यह स्मृति हमेशा ही कायम रही है कि कुछ विशिष्ट स्थलो और पाषाणा का सम्बन्ध किसी दवी शक्ति दवता अथवा दानव से है। सुरक्षा के लिए देवता और दानव दोना की ही पूजा की जाती है। सिलसिला प्राय कुछ इस प्रकार का होता है किसी किसान को सपने म किसी देवी (कभी-कभी वेताल या किसी दिवगत रिश्तेदार की प्रेतात्मा) के दशन होते हैं। यदि उस देवी या प्रेतात्मा का पूजा-स्थल पहले स मौजूद है तो वह किसान आगे के दु स्वप्ना से बचने के लिए वहाँ आमतौर पर किसी चीज की बलि चढाता है (आजकल नारियल या मुरगी की, या अधिक हुआ तो बकरे की बलि चढाई जाती है)। प्रेतात्मा की और अधिक शान्ति के लिए मृतक का शिला स्मारक भी खडा किया जाता है। परन्तु कभी कभी देवी किसी नये स्थान पर सपने मे आती है। यदि उस साल फसल विशेष रूप से अच्छी होती है, तो उस स्थान पर नये पूजा-स्थल की स्थापना होती है और उस किसान के वशज उसकी दखभाल करत रहत हैं। 'मूर्ति' के नाम पर प्राय एक सादा पत्थर (तादला, यानी चावल के दाने के आकार का) होता है, जिस पर लाल रग पोता रहता है। कभी कभी किसी पत्थर पर अनगढ आकृति भी उकेरी रहती है, जो अपने समय स पाँच हजार साल पुरानी दीख पडती है। तब पूरा परिवार इस नये पूजा स्थल की देखरेख करता है। किसी सकट, अकाल अथवा महामारी के समय वह देवी यदि पूरी बिरादरी की 'रक्षा' करती है, तो उसकी पूजा सारे गाव म फल जा

सकती है। विशेष बात यह है कि ऐसे नये पूजा-स्थल बहुधा पहले के उन प्रागतिहासिक स्थलों पर होते हैं जहाँ लघुपाषाण और खाँचोवाले महापाषाण मौजूद रहते हैं। अभी कुछ दिन पहले अपने कुछ मित्रों को, जो पुणे के पास के विरल जंगल मे वेताल की पूजा करते हैं मैंने एक उपेक्षित महापाषाण दिखाया। उन्होंने बीस से तीस सदियों तक पूर्णत भुला दिये गये उस महापाषाण की अपने ढंग से, फूलों और लाल रंग से, फिर से पूजा शुरू कर दी। अब वहाँ पूजा की खूब चहल पहल रहती है, खाँचोवाले उस महापाषाण की आकृति जैसे-तैसे शिव के नन्दी के रूप में कल्पित की गयी है इसलिए वह पूजा स्थल अब नन्दी के नाम से जाना जाता है।

भारतीय जीवन में और भी अनेक आदिम अवशेषों को आसानी से दिखाया जा सकता है। रजस्वला स्त्री को स्पर्श करना पुरुष के लिए वर्जित समझा जाता है, यदि भूल-चूक से भी स्पर्श हो जाये तो उस पुरुष के लिए यह आवश्यक हो जाता है कि वह स्नान द्वारा अपने को शुद्ध कर ले और कपडे तुरन्त धो डाले। रजोदर्शन-काल मे स्त्री का सबसे अलग रहना पडता है। रजोदर्शन विषयक यह निषेध आधुनिक शहरी जीवन के कारण अब मिटता जा रहा है। गोंधली स्तुति गायकों की एक पेशेवर जाति है। ये लोग कुछ खास देहाती अनुष्ठानों में अपने संगीत और गायन के साथ लम्बे समय तक कोलाहलपूर्ण नृत्य करते हैं। इनके नाम का सम्बन्ध आदिवासी गोंडों से जान पडता है और प्रतीत होता है कि ११०० ई० के पहले गोंडों से ही इन्होंने इस नृत्य गायन को अपनाया है। यह सम्बन्ध अब विस्मृत हो चुका है। कई गावों में यह दृश्य अभी भी देखने को मिलता है कि एक खडे खम्बे के सिरे पर एक सीढी (बगाड) पडी हुई है और उससे लटके हुए लोहे या इस्पात के आँकडों से लोग झूल रहे हैं। इस प्रकार झूलने का विशेष अधिकार कुछ प्रमुख परिवारों के व्यक्तियों को ही रहता है। आज-कल आँकडे को कमरबन्द या पेटी मे अटकाया जाता है। परन्तु पिछली सदी तक (और कुछ गाँवों मे आज भी) इन आँकडों को दरअसल कमर की पेशियों में अटकाया जाता था। यह लोहयुग की प्रथा जान पडती है, और सचमुच हो भी सकती है। परन्तु कुछ क्षेत्रों में पूर्वकालिक मानव-बलि के एवज के रूप में इसके उद्गम का और पीछे जाकर खोजा जा सकता है। बलि के लिए चुना गया व्यक्ति—और यह विशेषाधिकार एक दो खास कुलों के व्यक्तियों के लिए ही सुरक्षित था—थोडे समय के लिए देवता-स्वरूप समझा जाता था और फिर उसका सिर काटकर स्थायी देवता के सामने की एक विशेष शिला पर रख दिया जाता था।

इस प्रकार के अन्धविश्वासों का अध्ययन मनोविज्ञान और समाज विज्ञान के अन्तर्गत होना चाहिए। अधिक गूढ देवताओं और पूजा विधानों का अध्ययन

और भी गहनता स होना चाहिए। ऊँच दवताओ की एक या अनेक पत्नियाँ, बच्चे—कभी कभी गणेश-जस अध-पशु भी—और बहुत-सार अनुचर होत हैं, जिनम भूत पिशाच भी होत हैं। दवताओ के वाहन विविध प्रकार के पशु या पक्षी हैं जो किसी समय कबीला के टोटेम थे। दवता का परिवार और अनुचर-मण्डली एक एतिहासिक घटना है और यह एक एम मयुक्त समाज के उदय की सूचक है जिसमे विभिन्न कबीलाई तत्त्व, जो पहले पृथक थ एकत्र हो गय हैं। ऐस एकीकरण को प्रमाणित करने के लिए ब्राह्मणो न खास तौर से मनगढ़न्त आख्यानोवाल ग्रथ रचे (जसे, पुराण जो अतिप्राचीन होन का दावा करत हैं, परन्तु जिनकी रचना या पुनरचना हुई छठी स बारहवी सदी के बीच के काल मे)। इसके ऊपर गूढ धमशास्त्र और देवताओ के सामन्ती दरबार का स्तर है। फिर इनका स्थान लेत हैं कुछ दाशनिक मत रहस्यवाद और सम्भवत सामाजिक सुधार। भारतीय धार्मिक चिन्तन के प्रमुख स्तरो की यही विशेषताएँ हैं। दुर्भाग्यवश इस चिन्तन म सुसगति और तक की मात्रा बहुत कम पायी जाती है। यह चिन्तन न तो यथाथ का सामना करता है न ही सामान्य तथ्या की स्पष्ट जानकारी देता है। मूलत पृथक देवताओ के एकीकरण की इस प्रक्रिया मे निरन्तरता नही रही सार दश म विभिन्न पूजा विधानो को उनके अनुयायियो के साथ जसे जसे आत्मसात किया जाता रहा वसे-वस समान्तर चक्रो म यह प्रक्रिया दोहराई जाती रही। दवताओ का सयोजन कुछ घटिया रूप म, समकालीन मानव-समाज के सगठन के अनुकरण पर हुआ।

इन पूजा विधानो के साथ जिन लोगो को आत्मसात कर लिया गया था, उन्होने अपनी विशिष्टता और कुछ सीमा तक अपनी पूववर्ती कुलगत पृथकता कायम रखी। यह सम्भव हुआ जाति व्यवस्था के कारण और वकार बठे हुए ब्राह्मणो ने इसे सदव प्रोत्साहन दिया क्योकि तब वे उस समूह की पुरोहिती सम्भाल सकते थ। यह जातिबद्ध समूह सामान्यत दूसरी जातियो के साथ न भोजन कर सकता था न ही उनका पकाया हुआ भोजन ग्रहण कर सकता था, दूसरी जातियो के साथ उसका विवाह-सम्बन्ध भी सम्भव नही था। वास्तव म इसी कुल सम्बन्ध को कभी-कभी 'रोटी बेटी व्यवहार' कहते ह। यह सम्बन्ध ठीक उस आदिम व्यवस्था की तरह है जिसम ववाहिक सम्बन्ध वाल कुल-समूह म अतिरिक्त खाद्य सामग्री का आदान प्रदान होता था। (प्राचीन रोम मे सबसे सुदृढ विवाह सम्बन्ध था confarreatio जिसका शाब्दिक अथ है—वर-वधू द्वारा रोटी को तोडना और उसका आदान प्रदान। सहभोजन की बन्धन शक्ति companion शब्द से भी जाहिर होती है con=के साथ और panis=रोटी यही बात आधुनिक फ्रासीसी भाषा के copain शब्द के व्युत्पत्तिमूलक अथ अन्तरग मित्र स भी प्रकट होती है।) सिद्धान्तत ब्राह्मण का शीर्षस्थ

स्थान ही जाति का बाँधे रखता है, ब्राह्मण के हाथ का भोजन सभी ग्रहण कर सकते हैं, परन्तु ब्राह्मणा की बटियाँ केवल ब्राह्मणो से ही विवाह कर सकती हैं। उत्पादन का बन्धन तो बदलता रहा, परन्तु बन्धन बना ही रहा। उत्पादन के आदिम स्तर के वर्ग का दूसरा नाम ही जाति है। कई बार यह बन्धन केवल किसान-परिवारो म होता है, जो एक-दूसरे के सम्बन्धी होते हैं और मिल-जुल-कर खेती करते हैं। परन्तु बहुत-सी जातिया मध्ययुग की उन श्रणिया के समानक भी थी जो विशिष्ट व्यवसाया मे लगी हुई थी, जसे, टोकरियाँ बनानेवाले, जडी-बूटी वेचनेवाले (वद्र), बलदार, धीवर। इनमे स कुछ जातिया अलगाव वाला ग्राम जीवन बिताते हुए आज भी मध्य युग मे ही रहने का प्रयत्न करती हैं। एसा कई जातियो के कबीलाई मूल स्पष्ट हैं। जैसे बिहार और बगाल के मछुव कवत कहलाते हैं और महाराष्ट्र के भाई। कई बार टोटेम विशेषताएँ भी स्पष्ट हो जाती हैं। पहल उल्लिखित बाजी कुलनामवाले लोगो की तरह ऐस कई कुल ग्राम हैं जहाँ के सभी मूल निवासिया के कुलनाम एक से हैं जसे, मगर, लाडग (भेडिया) मोरे (मोर), पिंपले (पीपल)। इनके मूल जो भी रहे हो टाटेम सम्बन्धी कुछ प्रथाएँ अब भी मौजूद हैं। उदाहरण के लिए मोरे कुलनाम वाले लोग मोर का मास नही खायेंगे पिंपले अपने टोटेम वक्ष के पत्ते नही खायेंगे और किसी समय ईंधन के लिए पीपल की डालिया भी नही छाँटते थे, परन्तु अब इधन की कमी के कारण यह निषेध मिट गया है। उत्तर वदिक काल के 'पिप्पलाद (पीपल का फल खानेवाले) ब्राह्मण कुल का यह नाम भी इसी प्रकार पडा था।

अत ऐतिहासिक वस्तुस्थिति यह है कि अन्न सकलनकर्त्ताओ की अत्यन्त विरल आबादीवाले एक लगभग सीमाहीन परिवश मे अन्न उत्पादक समाज का शन शन विस्तार हुआ। जैसाकि स्वाभाविक था, अन्न उत्पादक समाज की जन वृद्धि अधिक तेजी स हुई और इसलिए वह अछूती भूमि मे अधिकाधिक फलता गया। अन्न उत्पादका की गतिविधियाँ बढ गयी, तो उत्पादको और सकलनकत्ताओ का एक दूसर क सम्पक म आना स्वाभाविक था, फिर वह सम्पर्क चाहे लडाई के रूप म रहा हो या आदान प्रदान के रूप म। प्रत्यक उपाजातीय अन्न-सकलक समूह सख्या मे बहुत छाटा था परन्तु विभिन्न कबीला की विविधता अन्तहीन थी। जहाँ कृषि म प्रति वग किलोमीटर मे सौ आदमिया का उदर भरण हो सकता है, वहाँ शिकार और अन्न सकलन के सबस बहतर तरीके अपनाने पर भी एक व्यक्ति का भी निवाह नहीं हो सकता, और समृद्धतम पशु पालन स मोटे तौर पर तीन स भी कम आदमिया का निर्वाह होगा। इसक अलावा, सिंचाई और खाद का उपयोग करके अन्न सकलनवाले क्षत्र की अपक्षा कही अधिक क्षत्र मे अच्छी खती की जा सकती है। भारत म (वस्तुत पाकिस्तान

म) बडे पमाने पर पहली बार अन्न-उत्पादन हुआ सिंधु नदी की घाटी म, यानी पश्चिमी पजाब और सिंध मे। इसका समय है ३०००-१७०० ई० पू०। इस खनी का उस विशष प्रकार की भूमि के बाहर विस्तार नही हो सका। तब खेती का असली विस्तार पूव की ओर १८०० किलोमीटर तक गगा की घाटी मे हुआ। इसके लिए अन्न उत्पादन के सवथा भिन्न तरीके अपनाने पड, और इसके साथ ही एक नयी समाज-व्यवस्था—जाति—की भी जरूरत पडी। यह विस्तार कोई हजार साल तक चला यानी ७०० ई० पू० तक। आन्मि परिस्थितिया म एसा विस्तार सम्भव न हाता यदि इसम आरम्भिक स्तर की जाति व्यवस्था—जिमम दासता के बिना ही श्रम के फल को हथियाया जा सकता था—का सहयोग न मिलता।

फिर अगला मुख्य विस्तार सीधे प्रायद्वीप की ओर हुआ जिसे उन्नत तकनीक वाले, विशेषत नवाजित धातुज्ञानवाले, उत्तर के अत्यन्त विकसित समाज का बल प्राप्त था। इन नये प्रदेश म कही अधिक विविधता थी इसलिए इसम आबाद हाना उस प्रकार सम्भव नही हुआ जसाकि उत्तर म हुआ। इसलिए जाति-व्यवस्था का न कवल दायरा बढा बल्कि कायक्षत्र भी बदला जिसमे आदिवासियो के पूजा विधाना का सम्मान देने के लिए ब्राह्मणा द्वारा पुराण लिख गय और कबील के बबर सरदार कबीले पर शासन करनवाले राजा या सामत बन गय। यह वस्तुत बाह्य प्ररणा के अन्तगत नय वर्गो का उदय था जबकि उत्तर की पुरानी जाति-व्यवस्था का विकास कबीले के भीतर की वग रचना स हुआ था। अन्त म सामन्ती व्यवस्था म जातिप्रथा न प्रशासन-काय म भी सहयाग दिया और प्राथमिक उत्पादक को बिना किसी विशेष बल प्रयोग के उसक अपन काम स बाध रखा गया। नयी भूमि पर बस हुए देहातो के किसान जसाकि पहल बताया जा चुका है पुराने कबील स निर्मित जाति के एक ही सगाल समूह के थे। भूमि पर इसी समूह का अधिकार था। पहल बस हुए किसानो की अनुमति के बिना इनकी बिरादरी मे कोई भी नवागन्तुक प्रवेश नही पा सकता था। जिस व्यक्ति को समूह से बाहर निकाल दिया जाता था, उसके लिए एक प्रकार स समाज म कोई स्थान नही था वह 'जाति-बाह्य समझा जाता था। ऐसे प्रत्येक समूह के अपने विशिष्ट नियम और रीति रिवाज थे। राजा उसके पदाधिकारी और ब्राह्मण सलाहकार विभिन्न समूहा के सदस्यो के बीच उठनवाले झगडो का फसला करते थे आर इसम वे स्थानीय प्रथाओ और नियमो का पूरा-पूरा ध्यान रखत थ। समूह के भीतर के झगडा का निबटारा अधिकतर जाति पचायत अथवा ग्रामसभा द्वारा होता था और वहा आज भी होता है जहाँ आधुनिक स्वरूप की व्यक्तिगत सम्पत्ति या अथ व्यवस्था ने पुरानी परम्परा को नष्ट नही कर दिया है। जाति भद और ब्राह्मणा की धूतता ने देश को अन्धविश्वास के दलदल मे

फसाये रखा और इस प्रकार विदेशी आक्रमणों के सामने देश असहाय बना रहा। फिर भी, जाति ने कभी-कभी सामन्ती जुल्म से गरीबों की रक्षा की है। निःशस्त्र किसानों के लिए विरोध प्रदर्शन का एक यही उपाय था कि वह अत्यधिक कर लगायी गयी अपनी भूमि को जोतने से सामूहिक रूप से इनकार कर दें। जब तक आबाद न हुई भूमि या अनकटे जंगल मौजूद रहे, तब तक वे दूसरी जगह जाकर बस सकते थे। सामन्ती युग के परवर्ती दौर में जब कृषियोग्य भूमि का अधिक फैलाव हुआ, तो उस समय ऐसा सामूहिक 'ग्राम त्याग' (मराठी गामवई, यूनानी में anachoresis), बाहर के उनके समकक्ष लोगों की सहायता के बिना सम्भव नहीं था। अपनी जाति के अन्य सदस्यों से वे हमेशा ही ऐसी आवश्यक सहायता मांगने के अधिकारी थे। यह पुरातन भारतीय पद्धति की किसान हड़ताल थी। जाति-व्यवस्था जो बहुत पहले एक घोर अन्धविश्वास का रूप ले चुकी थी, उन्नीसवीं सदी के अन्तिम काल में राजनैतिक दलबन्दी के रूप में विकसित हुई। यह व्यवस्था नये पूंजीवादी जनतान्त्रिक शासन में आगे भी कायम रह सकती है और इससे खतरनाक तनाव पैदा होने का हमेशा भय बना हुआ है। भारत को विभाजित रखने के लिए अंग्रेजों ने जाति प्रथा को न केवल प्रोत्साहन दिया बल्कि उसका बाकायदा इस्तेमाल भी किया। यह निराधार और दूषित आधुनिक जाति प्रथा और कितने दिन तक चलेगी ?—यह प्रश्न भारत में नवीनतम उत्पादन प्रणाली की तीव्रता से जुड़ा हुआ है। कानून अब जाति को नहीं मानता। बालू में अपना सिर छिपा लेनेवाले शुतुरमुर्ग की तरह के सुधार सिद्धान्त पर आधारित जनगणना में भी अब जाति का उल्लेख नहीं रहता। लेकिन शहरी जीवन, घनी बस्तियां, रेल, बस तथा नौकाओं के आधुनिक परिवहन, कारखानों में सभी जातियों के मजदूरों का जमाव और नकद अर्थ-व्यवस्था में पैसे की अपार शक्ति से जाति की मुख्य विशेषता—समूहों का परम्परागत अलगाव—अब नष्ट हो रही है। यन्त्रीकृत जीवन में अब ब्राह्मण-पुरोहित के लिए कोई स्थान नहीं रह गया है, वैज्ञानिक नियमों से संचालित मशीनों ने जाति प्रथा को निरर्थक सिद्ध कर दिया है।

तीसरा अध्याय

सर्वप्रथम नगर

३ १ सिन्धु सभ्यता की खोज

पिछले दो अध्यायो म भारत म पर-सस्कृति ग्रहण के स्वरूप पर विचार किया गया। भारत म किसानो की संख्या आज भी बहुत अधिक है कुछ कबीलाई जन भी बचे है। ये दोनो जन-समुदाय युगो से एक-दूसरे को प्रभावित करते आ रहे हैं। बेहतर भोजन सामग्री उपलब्ध होने से किसान-वर्ग की आतरिक वृद्धि हुई तो कबीलाई जीवन के विघटन के कारण इसकी बाह्य वृद्धि हुई। इसके इस टेढे मेढे किन्तु कुल मिलाकर अविरत विकास का पता लगाने म कोई खास कठिनाई नही होती। इस विकास की रूपरेखा स्पष्ट है, यद्यपि प्रत्येक प्रदेश मे इसके ठीक-ठीक तिथिक्रम को समझ पाना हमेशा सम्भव नही है। शहरी जीवन के उदय और विकास के सवाल को भी सुलझाना जरूरी है। अन्तत, सभ्यता का अर्थ ही है—सम्पूर्ण देश मे जीवन की एक प्रमुख विशेषता के रूप म नागरीय यानी नागरिक जीवन की सस्थापना। यद्यपि आधुनिक भारत म नगरो का विकास विदेशी उत्पादन प्रणाली के कारण हुआ है, पर भारत म मध्ययुग से काफी पहले और सामन्ती युग के भी पहले नगरो का अस्तित्व रहा है। प्रश्न उठता है प्रागैतिहासिक युग मे इन नगरो का उदय कब हुआ ?

एक पीढी पहले तक स्वीकृत मत यह था कि भारत म थोडे बहुत भी महत्त्व के नगरो का उदय पहले-पहल ईसा पूर्व पहली सहस्राब्दी म हुआ। मान लिया गया था कि इन नगरो का निर्माण आर्यों के वशजो ने किया था। ये पशुपालक घुमन्तु आर्य लोग एक आक्रामक कांस्ययुगीन जनजाति के रूप मे उत्तर-पश्चिम की ओर से भारत म पहुचे थे। लगभग १५०० ई० पू० के कुछ समय बाद तक ये आपस म और पजाब के कुछ आदिवासियो से लडते-झगडते रहे। फिर धीरे

धीरे गगा की द्रोणी म नागरिक जीवन और सभ्यता की स्थापना हुई। पुरान मत के अनुसार भारत का पहला महान नगर सम्भवत पटना माना गया था। यह अनुमान मुख्यत उन प्राचीनतम सस्कृत ग्रथा स्तुतिगीतो तथा कथाआ से लगाया गया था जो सब कल्पितकथाआ और किंवदतिया के स्तर की थी। परन्तु १६२५ म पुरातत्त्ववेत्ताओ ने एसे भव्य नगर भग्नावशेषा की एक अपूव खोज की घोषणा की जिनका प्राचीन साहित्य म कही कोई उल्लेख नही मिलता। इनमे प्रमुख भग्नावशेष दो नगरो के थे, और य दोना ही नगर अपने उत्कपकाल म, ईसा पूव तीसरी सहस्राब्दी मे सम्भवत एक वग मील के क्षेत्र म फले हुए थे। दोना ही नगर सिंधु की द्रोणी मे महत्त्वपूण नदिया के तट पर बसे हुए थे। इनमे मे एक नगर दक्षिण की ओर सिंघु के तट पर बसा था जो आज सि ध प्रदेश म एक उजाड टीले के रूप म मौजूद है और मोहनजोदडो के नाम से जाना जाता है। दूसरा नगर हडप्पा उत्तर की ओर पश्चिमी पजाब मे किसी समय सिंधु की एक प्रमुख सहायक नदी रावी के तट पर बसा हुआ था। जसाकि अक्सर ऐतिहासिक काल म होता रहा है इन नदियो न अपन पात्र बदले है, क्योकि य गहरी जलोढ मिट्टी क क्षेत्र से बहती हैं। इन नगरा मे कई मजिला के भव्य एव सुदृढ मकान थ जो भलीभाति पकायी गयी इटो से बनाय गय थे और जिनम स्नानघर और शौचालय जसी सुविधाए उपलब्ध थी। तजी स घमनेवाले चाक पर बडी सख्या म निर्मित उनके मिटटी के बतन बहुत बढिया है, यद्यपि उन पर की गयी चित्र कारी उतनी अच्छी नही है। सोना, चाँदी, जवाहरात तथा विनष्ट सम्पत्ति के अन्य अवशेष भी प्राप्त हुए है। मकानो की योजना अपूव है, आरम्भ म य २०० × ४०० गज के आयताकार खण्डो पर बनाय गय थे। साथ ही चौडी मुख्य सडकें और अच्छी गलिया हैं। इतने प्राचीन काल मे इतना सुनियोजित तथा ऐसा जटिल और उत्तम नागरिक सगठन अन्यत्र कही भी देखने को नही मिलता। स्थापत्य की दृष्टि स प्राचीन मिस्र के नगर उनके शासको के पहाडी जसे मकबरा और विशाल मंदिरा की तुलना म नगण्य थे। सुमेर, अक्कद और बेबीलोन म सिंधु सभ्यता के नगरो स मिलती-जुलती इटो स बने नगर थे, परन्तु उनका विकास धीरे धीरे हुआ। इन सभी नगरा की सडकें रोम, लदन पेरिस तथा बाद के भारतीय नगरो की सडको की तरह टेढी मेढी देहाती पगडडिया जसी थी। परन्तु सिंधु सभ्यता की नगर-योजना सचमुच ही बडी आश्चयकारी है। सडकें सीधी थी और समकोण मे मिलती थी। वर्षा का पानी निकालने के लिए जल-निकास की बढ़िया व्यवस्था थी और गन्दी नालिया को साफ करन के लिए मल कुण्ड थे। आधुनिक समय तक अन्य किसी भी भारतीय नगर म ऐसी सुविधाएँ उपलब्ध नही थी, बहुत-से नगरा म तो आज भी नही हैं। सिंधु घाटी के नगरा मे बड बड धान्य-कोठार थे। ये कोठार इतन बडे हैं कि इन्ह किसी की व्यक्तिगत

सम्पत्ति नहीं माना जा सकता। इन कोठारों के समीप ही अनाज कूटने तथा भरन वाले खास वर्ग के कमकरों अथवा दासों के रहने के लिए चालें बनायी गयी थीं। काफी व्यापार होने के भी प्रमाण मिले हैं। कुछ व्यापार समुद्र-पार के देशों में भी होता था।

इस सारी नयी जानकारी के परिणामस्वरूप प्राचीन भारतीय इतिहास से सम्बंधित पुरानी धारणाओं में संशोधन करना आवश्यक हो गया। भारत का सांस्कृतिक विकास एक सीधे तर्कसंगत क्रम में नहीं हुआ है। दिखायी देता है कि इसमें बड़ी रुकावट आयी और किन्हीं अस्पष्ट कारणों से यह पशुचारियों की बर्बरावस्था में लौटा। हड़प्पा-जैसे बड़े नगर के अस्तित्व का अर्थ है इसका पोषण करनेवाले ऐसे क्षेत्र का अस्तित्व जहाँ पर्याप्त अतिरिक्त अनाज पैदा किया जाता था। ऐसा नगर सामान्यतः सत्ता का केन्द्र बन जाता है। अन्य शब्दों में, एक या अधिक नगरों के अस्तित्व का अर्थ है राज्य का अस्तित्व। कुछ लोग अतिरिक्त अनाज पैदा करते थे जिसे ऐसे लोग ले जाते थे जो स्वयं अनाज पैदा नहीं करते थे और जिनका काम था संयोजन निर्देशन तथा नियन्त्रण करना। इसका अर्थ यही है कि बहुतों पर चन्द लोगों के शासन की व्यवस्था पर आधारित वर्ग विभाजन तथा श्रम विभाजन के बिना प्राचीन युग में नगरों का अस्तित्व सम्भव नहीं था। लेकिन तब ऐसा नगर अपना उत्तराधिकारी या चिह्न छोड़े बिना मिट कैसे गया? इसके खण्डहरों पर इसके प्रत्यक्ष प्रभाव में या इसकी प्रतिद्वंद्विता में नये नगरों का उदय होना चाहिए था। इराक में नगरों के विजेताओं ने उन्हें आबाद रखा। बेबीलोन का महान शासक और विधिप्रवर्तक हम्मूरबी (ईसा पूर्व सत्रहवीं सदी) आरम्भ में ऐसे ही बर्बर विजेताओं में से एक था। मिस्र में भी यही हुआ। लेकिन भारत में नागर संस्कृति की ऐसी अपेक्षित अखण्डता नहीं देखने को मिलती।

मेसोपोटामिया की खुदाई के अन्य पुरावशेषों के तुलनात्मक अध्ययन से पता चलता है कि ईसा पूर्व तीसरी सहस्राब्दी में यहाँ के नगरों के विदेशी नगरों से व्यापारी सम्बन्ध थे। मोटे तौर पर नागर सिन्धु संस्कृति का काल हम ३००० ई० पू० से २००० ई० पू० तक मान सकते हैं। अधिक-से-अधिक १७५० ई० पू० के कुछ समय बाद ही इसका अन्त हुआ। अन्त होने के पहले लम्बी अवधि तक इस संस्कृति का ह्रास होता रहा परन्तु इसका वास्तविक विनाश एकाएक ही हुआ है। मोहनजोदड़ो में नगर में आग लगाकर लोगों की हत्याएं की गयीं। इस हत्याकाण्ड के बाद नगर की आबादी नहीं के बराबर रह गयी। इस प्रकार की विनाश लीला के हड़प्पा से बहुत कम सबूत मिले हैं क्योंकि यहाँ के ऊपरी स्तरों को नष्ट कर दिया गया है। यहाँ की सामग्री (मुख्यतः ईंटों) को ले जाकर आधुनिक इमारतें खड़ी की गयीं, परन्तु इससे भी कहीं अधिक इसका इस्तेमाल हुआ रेल मार्ग के लिए उपलब्ध सबसे सस्ती मिट्टी के रूप में। प्रचण्ड अन्त के इन प्रमाणों

से पुराने सस्कृत ग्र्था के उन अलकारिक वणनो की साथक व्याख्या सम्भव हुई जिनमे कहा गया है कि शत्रुओ को युद्ध मे निदयता से कुचल दिया गया है, उनकी सम्पत्ति लूट ली गयी है और नगर नप्ट कर दिये गये हैं। इस प्रकार जिस कास्य युग को यानी ईसा पूव दूसरी सहस्राब्दी की पशुचारण अवस्था को भारतीय सस्कृति के प्रारम्भ के रूप म ग्रहण किया जाता था वह वस्तुत अधिक प्राचीन और निश्चित रूप स श्रेष्ठतर नागर सस्कृति पर बबरता की विजय थी। हमारी सहज अपेक्षा के अनुसार जहा एतिहासिक प्रगति को नया सवेग मिलना चाहिए था, वहा हम प्रबल ह्रास के दशन करत हैं।

यहा इतिहासकार के सामने एक विचित्र समस्या खडी हो जाती है। सिन्धु सभ्यता के किसी भी अभिलख को अब तक पढ पाना सम्भव नही हुआ है। इसके अलावा, छाप लगान के लिए बनी मुहरा पर अकित चिह्नो तथा मिटटी के बतनो के ठीकरो पर उकेरे गय कुछ चिह्नो के रूप म ही ये अभिलेख उपलब्ध हैं। सिन्धु लिपि अज्ञात है और अब तक पढी नही गयी है। यह लिपि पढी गयी होती तो भी हमे *कुछ व्यक्तिया के नाम या व्यापारी सगठनो के तथा एक दो देवताओ* के नामो के अलावा अधिक जानकारी नही मिलती। पुरातात्त्विक सामग्री को लिखित दस्तावजो अभिलेखो आदि स तुलना करने के बाद ही समस्त प्राचीन इतिहास रचा जाता है। सिन्धु घाटी स पुरातात्त्विक सामग्री तो काफी अधिक मिली है परन्तु यहा स प्राप्त अभिलेखा को पढ पाना अभी तक सम्भव नही हुआ है। किसी भी पुरावशष के साथ किसी एक भी व्यक्ति अथवा घटना का सम्बन्ध जोड पाना सम्भव नही हुआ है। हम यह भी नही जानते कि सिन्धु सभ्यता के लोग कौन-सी भाषा बोलते थे। दूसरी ओर जिन बबर आक्रमणकारियो ने इस *सहस्राब्दी-पूण सस्कृति को पूणत नष्ट कर डाला है उनके भी उल्लेखनीय पुराव* शष नही मिले हैं। इसीलिए पुरान सस्कृत लेखा का कई निर्णायक बातो के बार म निश्चित अथ लगाना सम्भव नही हुआ है, क्योकि कुछ महत्त्वपूण शब्दा का विशिष्ट स्थला अथवा वस्तुओ स जोड पाना सम्भव नही हुआ है। कुछ शब्दा को तो समझ पाना भी सम्भव नही है। सिन्धु सभ्यता के अन्तकाल और नय किन्तु काफी छोटे भारतीय नगरो के सम्भाव्य प्राचीनतम उदयकाल के बीच ६०० वर्षो का स्पष्ट अन्तर है, इसके बाद भारतीय इतिहास का प्रवाह अबाध गति स बहता है। इस अन्तरकाल मे विध्वसक और विध्वस्त दोनो ही इस उप-महाद्वीप के एक कोन मे आज के पश्चिमी पाकिस्तान म सक्रिय रहे। देश के अन्य भागो मे खाद्य-सामग्री एकत्र करनवाल लोगो की अतिविरल आबादी थी और य लोग पाषाण-युगीन कबीलाई गिरोहो के रूप म अपने अपने ढग का जीवन बिता रहे थे। भारत के प्रमुख सास्कृतिक विकास की प्रारम्भिक को और ईसा पूव दूसरी तथा तीसरी सहस्राब्दी के भारतीय इतिहास लेखन की सम्भावना को बडी गहरी क्षति पहुची है।
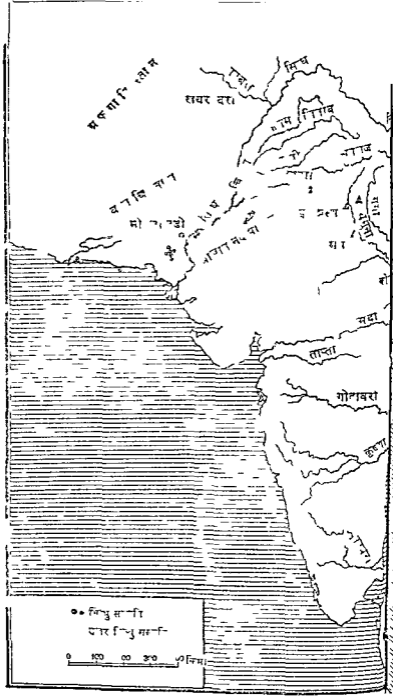
गोदावरी

३ २ सिन्धु सभ्यता मे उत्पादन

सामान्यत सिंधु सभ्यता की इस प्रमुख विशेषता पर कोई गौर नही करता कि वह भारत के उपजाऊ तथा सुविकसित क्षेत्र मे नही फल सकी। इसका क्षेत्र काफी बडा तो था, पर विशेष प्रकार का था। इस सभ्यता का विस्तार उत्तर से समुद्रतट तट कोई एक हजार मील था और शायद इतना ही पश्चिम की ओर समुद्र के किनार था। इस सभ्यता की व्यापारी चौकिया अथवा छोटे छोट उप निवेशो का धीरे धीरे खोज लिया गया है। य स्थल गुजरात म खभात की खाडी स लेकर मकरान तट के सुतकाजेन दोड तक दूर दूर तक बिखरे हुए हैं। शेष भारत की तुलना म यह सारा प्रदेश शुष्क है। सम्भव है कि प्राचीन काल म यहा की जलवायु कुछ बेहतर रही हो परन्तु अधिक बहतर नही। जलवायु के अन्तर का सहज कारण आधुनिक काल मे जगलो का बडी मात्रा म काटा जाना भी हो सकता है। क्या कारण है कि इस उपमहाद्वीप मे पहले बडे नगरो का विकास एक ऐसी नदी की घाटी म हुआ जो लगभग मरुप्रदेश से होकर बहती है?

इस प्रश्न का उत्तर काफी सरल है। पानी के लिए नदी की जरूरत होती है और मुख्य खाद्य मछली का स्रोत भी यही है। बाद म यह नाव द्वारा दूर दूर तक भारी सामान ले जाने का सुलभ साधन बन जाती है। इसमे पहले दौर मे आदिम आबादी मे वद्धि होती है। जलोढ मरुक्षेत्र भी अपने ढग से उतना ही महत्त्वपूण है। इसस आरम्भिक आबादी नदी के समीप की एक दीघ पट्टी म सीमित रह जाती है। एक अवस्था और सीमा के बाद खाद्य-सामग्री को एकत्र करना असम्भव हो जाता है जगल म मात्र झाड-झखाड के कुछ नही होता। इससे जितनी असुविधा हुई उसस कही अधिक दो बडे लाभ हुए। एक भारत के घने जगलवाले प्रदशो की तरह यहाँ जगली जानवरो खतरनाक सरीसपा और कीडो से रक्षा का प्रबन्ध करन की उतनी आवश्यकता नही रह गयी। दूसरे ऐस प्रदेश म कृषिकम न केवल आवश्यक हो जाता है बल्कि भारी जगलो को काटे बिना ही सम्भव हो जाता है। आग लगा दने से या पत्थरो के औजारो स ही ऐस क्षेत्र साफ हो सकत हैं। परन्तु मानसूनी वर्षा से पोषित भारत के घने जगलवाल प्रदेशो को तभी कृषियोग्य बनाया जा सकता है जब लोहधातु प्रचुर मात्रा म उपलब्ध हो। यदि नियमित सिंचाई का प्रबन्ध हो तो जलोढ मिट्टी उपजाऊपन मे बेजोड है। इस बात को बडी आसानी से सिद्ध किया जा सकता है। ससार की प्राचीन सभ्यताओ का विकास ठीक ऐसी ही नदियो के किनारे हुआ है। नील तथा दजला फरात की घाटियो की जलवायु भी अतिशुष्क ही है। डन्यूब घाटी की संस्कृतियो तथा चीनी सभ्यता के आरम्भिक स्थलो के इद गिद भी जलोढ मरुस्थल का ऐसा ही उत्तम वातावरण था। यहा के लाएस यानी पवनोढ मिट्टी के (हलके जगलवाले) गलियारे खती के लिए काफी उपयोगी सिद्ध हुए। इसके

विपरीत, अमेजान और मिसीसिपी ससार की विशालतम नदियाँ होन पर भी प्रागतिहासिक काल मे इनके किनार सभ्यताओ का विकास नही हुआ। अमेजोन तट के जगल इतने घने हैं कि आज भी उन्हें साफ करने से कोई विशेष लाभ नही होगा। और अमरीका के मध्य पश्चिमी प्रदेश के तृणी ढेले इतन मोटे थ कि फौलाद के भारी हल के आगमन के पहले वहा खेती करना सम्भव न था। इसी प्रकार भारत की पवित्र नदी गगा के तट पर या इसके समीप ईसा पूव पहली सहस्राब्दी तक किसी महत्वपूण शहर की स्थापना नही हुई थी और तब तक सिन्धु घाटी की सभ्यता विस्मति के गभ म विलीन हो चुकी थी।

सिन्धु घाटी की सस्कृति कास्ययुग की थी। यद्यपि छुरी तथा घरेलू औजारो के रूप म अब भी चट पत्थर के बढिया फलका का इस्तेमाल होता था परन्तु हडप्पा और मोहनजोदडो के सबस अच्छे औजार कास के ही थे, जो मजबूत थे और उपयोगी भी। य औजार ताब क नही बल्कि असली कासे के थे, जा ताँब तथा वग के साथ अल्पमात्रा म अन्य कुछ धातुएँ मिलाने से बनता था। ताब की कच्ची धातु राजस्थान से प्राप्त की जाती थी और वहाँ यह इतनी अधिक मात्रा म उपलब्ध थी कि इस धातु का पश्चिम के देशा को निर्यात भी किया जाता था। बबीलानी तथा अन्य पूववर्ती लख इस निष्कष का समथन करत हैं। सिन्धु प्रदेश और इराक के बीच के व्यापार विनिमय का बडा केन्द्र फारस की खाडी के बहरीन द्वीप म था। मेसोपोटामिया के आख्यानो का दिलमून यही द्वीप है। यही पर अमर मान जानवाले सुमेर के पौराणिक शासक नोह् जिउसुद्र ने जल प्रलय से बच निकलन क बाद अपन दिन बिताये थे और अमरत्व के रहस्य की खोज मे निकले हुए वीर गिलगमश ने उसे खोज निकाला था। मिट्टी के फलका पर उत्कीण कीलाक्षर लेखो मे जानकारी मिलनी है कि अलिक दिलमून नामक एक विशेष श्रेणी के व्यापारी इस बहरीन द्वीप से व्यापार करत थे। आधुनिक खुदाई से यह बात भलीभाति सिद्ध हो चुकी है यद्यपि करीब १ ०० ००० कब्रो के टीला की खुदाई होनी अब भी बाकी है। सिन्धु सभ्यता के नगरा से और मेसोपोटामिया से जा बटननुमा गोलाकार कुछ मुहर मिली हैं व सम्भवत बहरीन म ही बनी थी। बाद म इन व्यापारिया ने असीरी राजा के विशेष आश्रय मे और उसकी सामदारी म व्यापार किया। लाभ का बडा हिस्सा राजा ल लेता था परन्तु वह उनका सबस बडा ग्राहक भी अवश्य रहा होगा। मसोपोटामिया के निवासी सिन्धु प्रदेश को सम्भवत मेलुख्ख कहत थे। परन्तु १७५० ई० पू० के बाद मेलुख्ख का कही कोई उल्लेख नही मिलता जिसका अथ यह है कि व्यापारी सम्बन्ध टूट गये थे, सम्भवत आक्रमणकारिया के कारण। दोना देशा के बीच मे और भी कइ व्यापार-केन्द्र थे, जैसे मगान या मक्कान, जिसकी अभी तक ठीक से पहचान नही हो पायी है परन्तु जो सम्भवत बहरीन

और भारत के बीच समुद्र-तट पर रही था।

भारतवासी तांबे के अलावा मोर, हाथीदांत तथा हाथीदांत की वस्तुएँ, जसे कघ (जो आज भी भारत म उसी नमून पर बनत हैं जसे कि सिधु सस्कृति म बनन थ और जो बाला से जुएँ निकालन के लिए अत्यावश्यक हैं), वानर मोती (मीनचक्षु) और कपास के वस्त्रा का निर्यात करते थे। इनके बदले म व चांदी और अन्य वस्तुआ का आयात करत थ परन्तु य अन्य वस्तुए कौन-कौन सी थी इसके बारे म अभी हमे स्पष्ट जानकारी नही मिली है। इराक की खुदाई म भारतीय उत्पत्ति की मुद्राएँ तथा अन्य वस्तुए मिली हैं। अत उस समय मेसोपोटामिया म भारतीय व्यापारिया की कोई छोटी पर उद्यागी बस्ती अवश्य रही हागी। दूसरी ओर जान पडता है कि भारत म मसोपोटामिया वासिया की एसी कोई बस्ती नहा थी रही भी हो तो वह उतनी महत्त्व की नहा थी। सिधु घाटी मे मसोपोटामियाई प्रभाव की जा थोडी-सी मुहरें मिली हैं व विशुद्ध स्थानीय बनावट की जान पडती हैं। आवागमन समुद्री माग स हाता था। इस प्राणान्तक तथा विपदाक्रान्त समुद्रतट के समीप स नौसचालन के लिए एक बडा विचक्षण तरीका खोजा गया था। यदि किनारे की जमीन आँखा स आेझल हो जाये तो नाविक एक कौवा छोडते थे। यह कौवा (दिशा काक) उस दिशा म उडता था जिधर किनारे की भूमि सबसे नजदीक होती थी। बाइबल के एक उल्लख के अनुसार नोह ने भी ठीक यही तरीका अपनाया था। प्रथम उसन अपनी नाव म यह जानन के लिए एक कौवा छोडा कि जमीन किस दिशा की ओर है और फिर यह जानन के लिए कि जमीन उपजाऊ है उसन एक पालतू कबूतर छोडा। इराक के फारा नामक स्थान की खुदाई म एक एसी मुहर मिली है जिस पर एसी ही एक नाव के साथ दिशा-सूचक पक्षी की आकृति अकित है। प्राचीन भारतीय कथाओ म भी दिशा-काक के बारे म जानकारी मिलती है। एक जातक कथा के अनुसार बबीलोन (बावेरु) जानवाल व्यापारी ठीक इसी प्रकार समुद्र यात्रा करते थ। मेसोपोटामिया के लोग कौवे म परिचित नही थे, यह तथ्य भी इस बात का सूचक है कि भारत के साथ उनके व्यापारी सम्बन्ध समान स्तर के नही थ।

भारत स निर्यात का जानेवाला जिन वस्तुआ का उपर उल्लेख किया गया है वे विलास की वस्तुए है। अनाज का उत्पादन दश मे ही होता था। उस प्रदेश म आज जिस प्रकार गेहूँ, चावल तथा जौ का उत्पादन होता है उसी प्रकार उस सुदूर अतीत म भी होता था जिसकी हम चचा कर रहे हैं। सिधु तथा उसका सहायक नदिया म मछली की कभी कोई कमी नही रही। सिंध द्रोणी की मिट्टी आज भी बडी उपजाऊ है। सिधु सभ्यता की मुहरा पर दा प्रकार के मवेशियो की आकृतियाँ उत्कीर्ण हैं—उत्तम कूबडवाल खास भारतीय जबू प्रकार के

और सपाट पीठवाले 'ऊरस' प्रकार के जो अब भारत से लुप्त हो गये हैं। इन मुहरो पर गडा, हाथी, मेढा तथा सयुक्त रूप मे कई सारे पशुओ की आकृतिया भी अकित हैं। यह दलील सही नही है कि इस प्रदेश मे तब अधिक वर्षा होती थी और इसलिए अधिक जगली पशु विचरण करते थे। पजाब मे सोलहवी सदी मे भी गडे पाये जाते थे और उनका शिकार होता था। हिमालय क्षेत्र के हाथियो का सफाया सामन्ती युग मे हुआ। परन्तु सिधु सभ्यता की अर्थव्यवस्था मे गडे का कोई महत्त्व नही था और हाथी को तब तक शायद पालतू नही बनाया गया था। भस भसा, जिनकी भारत मे आज काफी तादाद है सिधु सभ्यता को केवल कुछ ही मुहरों पर उत्कीर्ण हैं। एक मुहर पर भसे द्वारा एक या अधिक शिकारियो को उछालने का दृश्य उत्कीर्ण है अत लगता है कि उस समय तक शायद इसे पालतू नहीं बनाया गया था। परन्तु इन मुहरो का उद्देश्य अपने समय के पशु जीवन अथवा सामान्य जीवन के चित्रण से भिन्न था। एक मुहर पर पशुओ से घिरे हुए तीन मुहवाले एक देवता—कालान्तर के पशुपति शिव के आदिरूप—की आकृति उत्कीर्ण है। ऐसी देवी आकृतिया कुछ अन्य मुहरो पर भी अकित हैं। एक मुहर पर पाल डाडे तथा पतवार सहित एक नौका का दृश्य अकित है। दो मुहरो पर ऐसा दृश्य अकित है जिसमे एक पुरातन और भारतीय विशेषतावाले वीर को अपने दोनो हाथो से एक एक व्याघ्र का गला घोटते हुए दिखाया गया है। इन मुहरो पर मेसोपोमियाई मुहरो के उस दृश्य का प्रभाव स्पष्ट है जिसमे सुमेरी वीर गिलगमेश को सिंहो का गला घोटते हुए दिखाया गया है। सिधु सभ्यता की एक मुहर मे गिलगमेश के कई पराक्रमो मे उसके साथी वृषभ मानव एनकिदु को भी पहचाना जा सकता है। इससे भी प्रसगवश भारत और मेसोपोटामिया के बीच के सम्बन्ध सिद्ध होते हैं। इस प्रकार इन मुहरो का कुछ धार्मिक महत्त्व था। ये छाप लगाने की मुहरें हैं (मेसोपोटामिया की मुहरो की तरह) गीली मिट्टी की तह पर लुढ़कायी जाने वाली बेलनाकार मुहरें नही हैं। सामान की पेटिया पर अथवा भरे हुए कलशो पर सुरक्षा के उद्देश्य से इन मुहरो के छाप लगाये जाते थे। चीन की तरह मेसोपोटामिया मे इन छापो का उपयोग दस्तावेजो पर हस्ताक्षरो के रूप मे भी होता था। परन्तु सिधु सभ्यता के नगरो से मिट्टी के फलको पर या अन्य किसी वस्तु पर ऐसे हस्ताक्षरित दस्तावेज नही मिले हैं। माल की गठरिया अथवा कलशो को ढककर रस्सी से बाध दिया जाता और फिर गाँठो पर मिट्टी का पलस्तर चढ़ाकर उस पर मुहर लगा दी जाती थी। आज यह सब करने पर यदि सील यथावत् बना रहता है तो उससे केवल इतना ही प्रमाणित होगा कि माल मे कोई हेरफेर नही हुआ है। परन्तु प्राचीन काल मे यह सील अवश्य ही किसी न किसी प्रकार के निषेध का सूचक रहता होगा और इस प्रकार माल को सुरक्षित
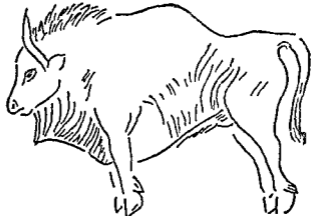
चित्र ६ ल लोजरी बास्स स्थान से प्राप्त फ्रास क उत्तर हिमयुग के चित्रकार द्वारा खाचो गया वनवृषभ का पूव रखाकृति। चुनी हुयी भूमिगत गफाआ मे चित्रित पशुआ के बड पमाने वाल एम चित्र जो मूलरेखा के अनुसार हूबहू बनाय गय हैं एसी रूपरेखाओं वाल स्थलो से और एक-दूसरे से कई सौ किलोमीटर अन्तर के स्थाना पर पाये गये हैं। एसे उत्किीर्ण वक्डो से आग बन्कर ही बाद म सिन्धु घाटी की उत्कीण मुहरें बनी हैं।

रखता होगा। वस्तुत भारत म इन मुहरो के जो कई छाप मिले हैं उनके पीछे रस्सी गाँठ अथवा सरकण्डा के निशान नही मिल हैं। इसस स्पष्ट होता है कि ये सील किसी पासल पर नही लगाय गय थ। सुमेर स विशेष प्रकार की ऐसी भी मुहरें मिली हैं जिनका उपयोग धार्मिक अनुष्ठानो म होता था (व्यावसायिक मुहरा स य सिफ इसी माने मे भिन्न हैं कि ये कुछ बडी हैं)। ये सभी मुहरें लगभग उसी आकार के उन छोटे उत्कीण शालग्रामा की परम्परा म बनी है जिन पर यूराप के हिमयुगीन कलाकार स्थूल रेखाचित्र तयार करते थे। इन स्थूल रेखाचित्रा म ही, बडे पैमाने पर वे अँधेरी गुफाआ म वनवृषभ अथवा अ य पशुआ के हूबहू चित्र तयार करत थे। प्रतिचित्राकन की इस प्रक्रिया का कोई खास आनुष्ठानिक उद्देश्य और महत्त्व था। बाद म जाकर समाज ने यद्यपि इन अलकृत मुहरा का इस्तमाल पूजा अथवा प्रजनन सस्कार स भिन्न कार्यों के लिए किया, फिर भी इनका मूल ऐन्द्रजालिक आशय ईसा पूव पहली सहस्राब्दी तक नष्ट नहा हुआ था।

सिन्धु सस्कृति की सबस महत्त्वपूण विशषता—उनकी अनाज पदा करन की विशष पद्धति—का पुनर्निर्धारण करना अत्यावश्यक है। यह काय मिस्र और मेसोपोटामिया की समान स्तर की नदी घाटी सस्कृतिया के साथ तुलना करन से ही सम्भव हो सकता है। सिन्धु की द्रोणी मे सिफ दो भव्य नगर थ—मोहन

जोन्डो और हड़प्पा। इनकी तुलना म शेष सभी बस्तियाँ अथवा उनक भग्नावशेष अति लघु हैं। आशा के विपरीत ऐसी लघु बस्तियाँ भी निश्चय ही काफी कम हैं। मिस्र म नील नदी के प्रथम महाजलप्रपात और इसके मुहाने के दलदल-भरे डल्टा के बीच म जो सकरी घाटी है, उसम प्राचीन युग की घनी सघनतम आबादी थी। यहा नदी की ७५० मील लम्बाई में दस हजार वगमील स भी कम क्षेत्र मे अत्यन्त पुरातन पद्धति के कृषि उत्पादन से रोमन-काल म ७० लाख लोगा का भरण-पोषण होता था इतना ही नही बचा हुआ अनाज न केवल रोमवासिया के काम आता था वल्कि भूमध्य सागर के अन्य देशा के साथ उनका व्यापार म भी इस्तमाल होता था। दोना ओर की उजाड पथरीली चट्टानो क बीच म नील नदी की घाटी ३० मील स अधिक चौडी नही है। इसम भी खेती योग्य जलोढ मिट्टी की भरती का विस्तार कभी भी १० मील से अधिक नही रहता। परन्तु नील नदी की भीषण वार्षिक बाढ मिट्टी की नयी भरती डालती रहती है, हालाकि इसमे सहायक सिद्ध हो सकनेवाली वर्षा का खास मिस्र म करीब-करीब अभाव ही है। मेसोपोटामिया म ईसा पूव तीसरी सहस्राब्दी के उत्तरकाल म नहरो के पानी से खेतो की सिंचाई होती थी। यह प्रदेश सिन्धु द्रोणी के प्रदेश स छोटा था और उसस अधिक उपजाऊ भी नही था, फिर भी यहाँ एक दजन स अधिक प्रमुख और कई छोटे-छोटे नगर थे। प्रत्यक नगर तथा उसके पृष्ठ प्रदेश का अपना एक राज्य था अपन अपने उद्योगधन्धे और व्यवसाय थे। और य नगर अक्सर एक-दूसरे स लडत रहत थ। क्या कारण है कि सिन्धु प्रदेश म केवल दो ही बडे नगर थ, और उनके साथ फरना-जस भव्य स्मारक और मसोपोटामिया जसे बहुत-सारे नगर-टीले नही मिलते ?

इसका उत्तर यह जान पडता है कि सिन्धु प्रदेश के लोग नहरो स सिंचाई नहा करते थे और न ही उनके पास भारी हल था। सिन्ध और पजाब में आज कृषि की जो स्थिति है वह इन्ही दो आधुनिक साधना के कारण है। केवल बाढ की सिंचाई से अधिक खेती सम्भव नही है, यद्यपि जहाँ बाढ से उपजाऊ मिट्टी जमा हो जाती है वहाँ गहरी जुताई के बिना भी बढिया उपज होती है। यही वजह है कि सिन्धुलिपि मे आमतौर स पाया जानेवाला हेगी का भावचित्र तो पहचान म आ जाता है (कुछ लोग इसे उँगलिया सहित हाथ का चित्र भी मानते ह), किन्तु इसमे हल के लिए कोई चिह्न नही है। इस प्रदेश मे अब केवल पाच बडी नदिया हैं इसीलिए इस पजाब (पच-आप) यानी पाँच नदियो का प्रदेश कहत हैं। प्राचीन काल मे इस प्रदेश मे सात बडी नदियाँ थी जिनमे से दो—घग्घर और सरसुति—सूख गयी हैं। सिन्धु नदी मे प्राकृतिक बाढें आज भी आती हैं। यहाँ की बाढ स सिंचित भूमि आज भी सर्वाधिक उपजाऊ है यद्यपि यहा मिस्र की तरह बाढ़ स गहरी मिट्टी जमा नही होती और यह उतनी उवर

भी नही है। जान पडता है कि सिन्धु घाटी के लोगो न बाढवाले क्षेत्र का विस्तार कर लिया था, परन्तु यह उन्होंने नहरें खोदकर नही बल्कि बहाव रोकने वाले बाँधो का निर्माण करके किया। कभी-कभी ये बाँध मौसमी भी होते थे। फसल से प्राप्त अतिरिक्त अनाज को इन प्रमुख नदियो के रास्ते ऊपर या नीचे की प्रमुख राजधानियो को भेजा जा सकता था। इन राजधानियो मे अनाज की सफाई-कुटाई तथा वितरण के लिए धान्य-कोठार बने हुए थे। इस अतिरिक्त उपज से ही व्यापारियो तथा नाविको का आलीशान मकानो और गरीब बस्तियो मे रहनेवालो का घरेलू उपयोग और विदेशो म बिक्री के लिए चीजें तयार करने वाले कारीगरो का और नगर-सफाई का काम करनेवाले निम्न वर्ग के लोगो का भरण-पोषण होता था। जान पडता है कि सिन्धु नगरो के लगभग उदयकाल से लेकर अन्तकाल तक अतिरिक्त अनाज की यही स्थिति कायम रही। सिन्धु संस्कृति की विशेषता यह है कि इसने न तो नये नगरों को जन्म दिया न यहाँ मिस्र की तरह राजवंशो मे सुविज्ञापित परिवर्तन हुए और न ही ये लोग बडी संख्या मे गगा के उतने ही उपजाऊ किन्तु वनाच्छादित मैदान मे फैले।

३ ३ सिन्धु सभ्यता की प्रमुख विशेषताएँ

अब समस्या है उन तरीको के बारे मे कुछ तर्कसंगत अनुमान लगाने की जिनके द्वारा उत्पादको से अतिरिक्त अनाज वसूल किया जाता था। इसके लिए यह देखना जरूरी है कि ईसा पूर्व तीसरी सहस्राब्दी के मिस्र और मेसोपोटामिया के विकासक्रम से सिन्धु घाटी के नगर ठीक किन अर्थो मे भिन्न थे। तब इन भिन्नताओ का स्पष्टीकरण सिन्धु समाज के पुनर्निर्धारण का एक तरीका हो सकता है।

जैसाकि पहले कह चुके हैं पहली बात है—महती परिवर्तनो का अभाव लगता है जैसे दोनो नगर पूर्ण नियोजन के साथ प्रकट हुए हो। जहा तक पता चलता है दोनो की मूल योजना एक सी है। सिन्धु सभ्यता के अन्तकाल तक दोनो नगरो मे परिवर्तन नही हुए। मिट्टी के बर्तन, औजारो की बनावट और मुहरें एक सी बनी रही। लिपि मे भी कोई परिवर्तन नही हुआ। इसके सर्वथा विपरीत भारत के ऐतिहासिक युग म हर सदी म अक्षरो के स्वरूपो म इतना अधिक परिवर्तन होता रहा कि पाण्डुलिपियो अथवा अभिलेखो के तिथि निर्धारण के लिए लिपि एक काफी अच्छा साधन—कभी कभी तो एकमात्र ज्ञात साधन—सिद्ध होता है। इन नगरो का भूस्तर शनै शनै ऊचा होता गया। मोहनजोदडो मे, हर साल आनेवाली बाढो की सीमा के ऊपर तक मकान की निचली मंजिलो को भर दिया जाता, और फिर ऊपर नयी मंजिलें बनायी जाती। कुछ मकान अपने आप ढह जाते तो उनके समतल किये गये मलबे पर नये मकान बनाये जाते थे। सडको की सतह भी ऊँची होती गयी। लेकिन इनकी योजना ज्यो

न्यो वनी रही। इसी प्रकार, पुरानी दीवारा पर अथवा कमरे के उसी ढांच
थाने-बहुत परिवतन के साथ और अधिक ऊँचे मकान खडे कर दिय जाते थे।
ते-वढाते इटो के मूल घरे पर कुएँ इतने ऊपर उठ गय हैं कि आज अधिकाधिक
री खुदाई करते जान पर वे कारखाना की चिमनिया-जस दिखायी देते हैं।
स और अव्यवस्था के चिह्न केवल अन्तिम अवस्था में ही दृष्टिगाचर होत हैं।
री स्तर में कुछ मकान जो वेतरतीब और घटिया सामग्री स वने हैं सडका
चले आये हैं। इसका अथ यह है कि नगर के ऐसे मुहल्ले तब तक ध्वस्त हो
थे। आंवें जो पहले किसी भी स्तर मे नगर के भीतर नही दिखायी देते, व
नगरसीमा के भीतर लगाय जाने लगे। इटो के भट्ठे कही नही दिखायी
थ। नगर के एक हजार वर्षों के समृद्धिकाल में म इटें कही दूर ऐस स्थान पर
यार की जाती थी जहाँ ईंधन सुविधा से उपलब्ध था। वहाँ से बलगाडिया
थवा नावा द्वारा ये इटें महानगर म लायी जाती थी। लकडी बडी-वडी नदियो
रास्ते हिमालय स लायी जाती थी। अन्तिम दौर मे बने मकानो मे कुछ पुरान
मारता सामान का और धूप में सुखायी गयी बिना पकी इटा का इस्तमाल किया
या है। सिन्धु सभ्यता के इस एक हजार वर्षों के काल मे मिस्र मे पूरे एक
जन राजवशा ने शासन किया अक्कदिया ने सुमर पर अधिकार कर लिया,
रगान महान ने एक साम्राज्य की स्थापना की जो उसके उत्तराधिकारिया के
ाथा नष्ट हो गया। इस कालावधि म मेसापाटामिया के प्रत्यक नगर के ढांचे म
हत्वपूण परिवतन हुए परन्तु भारतीय नगर यथावत बने रहे।

दूसरा विशेपता यह है कि, उन दा समान्तर सस्कृतिया की तरह सिन्धु
नगरा मे सावजनिक स्मारक या सजावट देखन को नही मिलती। अपवाद
सम्भवत एक ही है। कोई बडा सभागार ता नही मिला है, परन्तु मोहजोदडो
म स्तम्भयुक्त पाश्व अथवा प्रकोष्ठवाला जो ७० मीटर लम्बा मण्डप मिला है
उसका उपयोग सम्भवत सावजनिक काय के लिए होता था। सिन्धु नगरा में न
कोई अभिलेख मिल है, न सूच्याकार स्तम्भ अथवा मूर्तियाँ और न ही किसी
प्रकार का कोई जनादेश प्राप्त हुआ है। कुछ आलीशान मकानो की दीवारें
सात फुट चौडी हैं भलीभाँति पकी हुई इटों की हैं जिससे जाहिर होता है कि
य मकान कई मजिला के थे। परन्तु नदी-तट की अन्य समकालीन सभ्यताआ के
राजप्रासादा अथवा मन्दिर समूहा की शान निराली ही थी। जहाँ तक पता
चला है सिन्धु नगरो मे सडक की ओर की दीवारें बिना किसी सजावट के
सपाट होती थी। पच्चीकारी, भित्तिचित्र चमकदार खपडे, खास तौर स तयार
की गयी प्रतिमायुक्त इटें गचकारी, यहा तक कि अलकृत द्वार भी यहाँ दखने को
नहा मिलते। सामान्यतया घर का प्रवेशद्वार बगल की गली की ओर रहता था,
और यह दरवाजा भी सँकरा होता था ताकि आसानी मे बन्द किया जा सके।

अन्य शब्दों में, इन मकानों में निहित सम्पत्ति का उस प्रकार सजावटी प्रदर्शन नहीं होता था जैसा कि मन्दिरों में अथवा सैनिक विजय के वैभवगौरव में होता रहा है। साथ ही, इनकी संचित धन-सम्पदा असामाजिक तत्त्वों या लुटेरों से पूरी तरह सुरक्षित नहीं थी। नगर पर जिस किसी का भी शासन रहा हो पर समुचित सुरक्षा-व्यवस्था का अभाव था।

इससे तीसरी प्रमुख विशेषता सामने आती है—प्रबल प्रहारी साधनों की विस्मयकारी कमजोर व्यवस्था। मोहेंजोदडो से प्राप्त हथियार वहाँ के बढ़िया औजारों की तुलना में कमजोर हैं। भाले पतले और पसाका रहित हैं, पहले जोरदार आघात में ही इनकी नोक मुड जाती होगी। तलवारें बिलकुल नहीं मिलती। जो कठोर चाकू और कुल्हाडे मिले हैं वे हथियार नहीं बल्कि औजार हैं। धनुर्धर के लिए तो एक भावचित्रात्मक संकेत अस्तित्व में आ गया था, परन्तु तीरों के फनक काँसे के नहीं पत्थरों के होते थे। प्रजा पर शासन करनेवाली सत्ता जो भी रही हो वह अधिक बलप्रयोग नहीं करती थी। दोनों ही नगरों में एक ओर दुर्ग के टीले हैं हड़प्पा में कालान्तर में इसकी किलेबन्दी कर दी गयी थी। आरम्भ में यहाँ एक दस मीटर ऊँचे कृत्रिम चबूतरे पर बिना किलेबन्दी के ही कुछ भवन आदि बनाये गये थे। चबूतरे की भित्तियों के साथ ढलानवाले भाग बने हुए थे जो संस्कार-समारोहों के लिए तो सुविधाजनक थे, परन्तु सुरक्षा की दृष्टि से निरुपयोगी थे।

सिन्धु सभ्यता में परिवर्तन का अभाव केवल आलस्य अथवा रूढ़िवादिता के कारण नहीं है, इसके अधिक गहन कारण हैं। यहाँ लोग सीखने के प्रति जान बूझकर उदासीन रहे जब कि नये-नये प्रयोग करते रहने से स्थिति में बड़ा सुधार होता। सिन्धु प्रदेश के व्यापारी बेबीलोन और सुमेर में नहरों से होनेवाली सिंचाई से निश्चय ही परिचित थे। सिन्धु प्रदेश के विमान से जो चित्र उतारे गये हैं उनमें सिंचाई के आधुनिक साधनों के अलावा कोई नहरें नजर नहीं आती। ये लोग खुली भट्ठी में ढाली गयी काँसे की साधारण कुल्हाड़ी का ही एक औजार के रूप में इस्तेमाल करते रहे जबकि सिन्धु सभ्यता के कारीगर निश्चय ही ऐसे कुल्हाड़े और बसूले बनाने में समर्थ थे जिनमें लकड़ी के हत्थे डालने के लिए कोटर या छेद बने हों। इस प्रकार के औजारों के नमूने केवल ऊपरी सतहों में ही मिले हैं, और ये निर्विवाद रूप से उत्तर पश्चिम की ओर से आये हुए उन आक्रमणकारियों के हैं जिनकी (भारत से बाहर की) कब्रों में ऐसे औजार प्राप्त हुए हैं। यही हाल तलवार-जैसे अधिक सक्षम हथियारों का है, सिन्धु सभ्यता में इनका आगमन बाहर से हुआ।

सिन्धु नगरों के लिए कोई पूर्ववर्ती उदाहरण न मिलना पहली बार इनकी नींव पड़ना और एकाएक एक दो सदी में ही इनका बनकर तैयार हो जाना

इस बात का सूचक है कि इनके निर्माण की प्रेरणा बाहर से मिली है। इनका दीर्घकालीन परिवर्तन रहित स्थायित्व यही सिद्ध करता है कि, इनके जिस रूप को विकसित किया गया था वह स्थानीय परिस्थितियों के अनुरूप था। यह विकास भी इतनी द्रुतगति से हुआ कि सिन्धु प्रदेश के पश्चिम तथा उत्तर-पश्चिम मे बलूचिस्तान में जिन प्रागैतिहासिक गाँवों के पुरावशेष मिले हैं उनसे इनका क्रमश उदय होना सम्भव नही जान पडता। बलूची शैली के मृत्भाण्ड हड़प्पा की नींव के ठीक नीचे तो मिले हैं पर स्वयं नगर मे नही मिले हैं। नगर निर्माता परदेशियों ने बडी संख्या मे आक्रमण नही किया था। सिन्धु सभ्यता के स्थापत्य और सामान्य शिल्प की अपनी कुछ खास विशेषताएँ हैं, सुमेरिया-जैसी विस्तृत नागर संस्कृति से इन्हे ग्रहण नहीं किया गया। साथ ही जैसाकि पहले बताया जा चुका है सिन्धु नगरों मे स्थानीय पद्धति से बनी हुई कुछ पुरातन (गिलगमेश-एनकिदु) सुमेरी प्रकार की मुहरें भी मिली हैं। लेकिन ये सुमेरी लोग भी दजला फरात नदीतटों के मूल निवासी नही थे, ये मूलत किसी पहाडी प्रदेश से आये थे। उनके प्रमुख मन्दिर जिन्हें जिगुरात या जिक्कुरात कहते हैं, ७० फुट या इससे भी अधिक ऊँचे कच्ची ईंटों के चबूतरों पर बनाये गये थे। ये चबूतरे वस्तुत कृत्रिम पहाड़ियाँ ही थीं। मेसोपोटामिया के नगरों (हस्सुना) के निम्नतम स्तरों के नीचे जिस प्रकार के आदिकालीन मृत्भाण्ड मिले हैं वैसे भाण्ड ईरानी पठार के उदाहरणार्थ, जेरमो स्थान के ईसा पूर्व पाचवी सहस्राब्दी के किसानो के भी मिले हैं। यही स्थिति मिस्र की है। जान पडता है कि जिन लोगों ने पहली बार शक्तिशाली मिस्री राज्यों की नींव डाली थी, वे बाहर से आये थे। मिस्र (गबेल अल-अरक) से प्राप्त एक प्रागैतिहासिक छुरे की अद्भुत मूठ पर अंकित दृश्य, जिसमे एक मल्लयोद्धा को दो सिंहो का गला घोंटते हुए दिखाया गया है पुन एक बार गिलगमेश की कथा का स्मरण कराता है। यह दृश्यांकन यद्यपि उस काल का है जब नील घाटी मे नगरो का विकास अभी-अभी शुरू हुआ था, फिर भी इसकी एक विशेषता है इसमे सिंहहंता को ऐसा चोगा पहने हुए दिखाया गया है जैसा मिस्रवासी कभी नही पहनते थे। सुमेरी और भारतीय सिंहहंता एकदम नग्न हैं। कला मे इस प्रकार की बाह्य प्रवृत्तियाँ इस बात की स्पष्ट सूचक हैं कि इन महान संस्कृतियों के बीज बाहर से लाये गये थे। फिर भी जिन तीन नदी घाटी संस्कृतियों की हमने तुलना की है वे अनुकूल किन्तु एकदम भिन्न भिन्न स्थानीय परिस्थितियों के कारण, सर्वथा पृथक सभ्यताओं के रूप मे विकसित हुई।

इसकी सर्वोत्तम व्याख्या निम्न प्रकार से सम्भव जान पडती है। इन शक्तिशाली नदी घाटी संस्कृतियों का जन्म देनेवाले लोग किसी सीमित किन्तु विकसित क्षेत्र अथवा क्षेत्रों से आये थे। सीमित इस अर्थ मे कि, प्रत्येक जन समूह के लिए

उनकी अज्ञात मूल भूमि मे और अधिक विस्तार के लिए स्थान नही रहा होगा, और विकसित इसलिए कि इन तीनो ही महान सभ्यताओ के निर्माताओ को कृषि इट निर्माण मकानो के निर्माण तथा इनके समुचित नियोजन और थोड़ा बहुत सैनिक तन्त्र का ज्ञान था। सैनिक तन्त्र की आवश्यकता दो कारणो से थी। कभी कभी पानी के लिए लडाई करनी पडती थी। मरुप्रदेश म बहनवाली नदियो की विस्तीर्ण जलोढक घाटियो मे कृषि के होने मात्र से ही आहार-सग्राहको को अन्न-उत्पादक नही बनाया जा सकता था। भारत के परवर्ती युगो म भी परिवर्तन की इसी समस्या का बार बार सामना करना पडा है। आहार-सग्राहको की अपेक्षा अन्न-उत्पादको की वृद्धि अधिक तजी से होती रही और ये अधिकाधिक क्षत्र पर अधिकार जमाते गये। इससे दोनो के बीच सशस्त्र सघर्ष होना स्वाभाविक ही था। फिर वह समय भी आया जब यह आनुषगिक खोज हुई कि अधिक मजदूरो की जरूरत को शस्त्रबल द्वारा, अर्थात दास बनाकर, जल्दी पूरा किया जा सकता है।

इन प्राथमिक सस्कृतियो के सम्भाव्य मूल अथवा कम स कम आदिरूप चताल हुयुक (अनातोलिया) और जरिको (फिलस्तीन) के ईसा पूर्व सातवी सहस्राब्दी के प्राचीन स्तरो म खोजे गये हैं। इनम से पहले स्थल पर एक छोटा सा शहर था जिसमे मकान पूरी तरह एक-दूसरे स सटे हुए थे और मकान म उतरने के लिए ऊपर छत मे बने द्वार से सीढियाँ डालने की व्यवस्था थी। टोकरियो के अनुकरण पर मिटटी के बर्तन अभी अभी बनने शुरू हुए थे। पत्थर की मूर्तियाँ बनती थी और उनकी पूजा होती थी। जरिको म मृत्भाण्ड पूर्व लघु पाषाण युग का प्रस्तर खण्डो से निर्मित एक अदभुत किलाबन्द बुर्ज मिला है। यह बुर्ज झरने की रक्षा के लिए आवश्यक था, क्योंकि उस शुष्क प्रदेश मे पानी का यही एकमात्र स्रोत था। यह आवश्यक नही है कि इन दोनो म से कोई भी स्थल नील घाटी की मेसोपोटामिया की अथवा सिन्धु घाटी की सभ्यता का निकटतम स्रोत रहा हो। अभी तक ऐसा कोई प्रमाण नही मिला है जिसस इनके बीच किसी प्रकार का प्रत्यक्ष सम्बन्ध सिद्ध हो। पुरातात्त्विक विधियो स इनके बीच के दिक और काल के अन्तर को भरने के लिए अभी काफी समय लगेगा। जो भी हो निरन्तर विकसित होकर बडे नगर-राज्यो मे रूपान्तरित होने मे बाधक होने वाले अनुपयुक्त प्रदेशो म आबाद ये आरम्भिक छोटी कृषक बिरादरियाँ ही वह अपरिहार्य बीज है जिसस कालान्तर मे नदी घाटियो की वैभवशाली सभ्यताओं का उदय हुआ।

३ ४ सामाजिक ढाचा

सिन्धु नगरो के सामाजिक स्वरूप के बारे म कुछ कहने के पहले इन दोनो नगरो की एक और खास विशेषता का उल्लेख आवश्यक है। सर्वोत्तम भवन
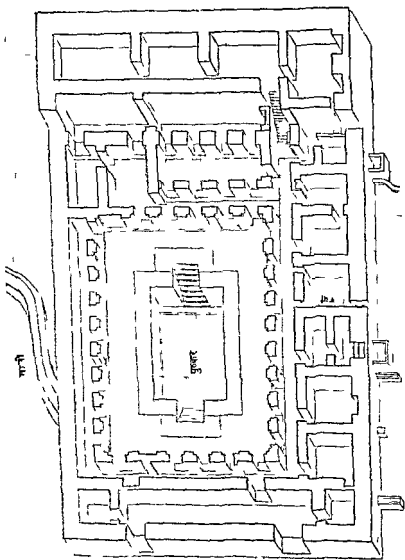
चित्र ७ मोहनजोदड़ो के विशाल स्नानागार का विन्यास (पुनर्निमित)

समूह के समीप ही किन्तु एक १० मीटर ऊँचे इटो क चबूतरे पर बने धनी लागों के मकाना से स्पष्टत पृथक, दुग का टीला है। दोना नगरा के टीले समान आकार के और आयताकार हैं। हड़प्पा के टीले का आधुनिक काल म इटो वा खदान के रूप म इस्तेमाल हुआ है इसलिए यह नष्ट हा चुका है। और माहजोदडो के इस टीले के एक भाग पर ईसा की दूसरी सदी का एक बौद्ध-स्तूप आज भी मौजूद है। यदि मान लें कि टील पर बने भवना की योजना तथा इनका विन्यास एक-सा था ता यह स्पष्ट हाता है कि आरम्भ मे इन भवना का इस्तेमाल सावजनिक कार्यों क लिए होता था, न कि सनिक काय के लिए। किलाबन्दी बाद मे हुई। मोहजोन्डो मे इस स्थान पर अनेक कमरो वाला एक एसा भवन मिला है जो शुरू मे कई मजिला का था। इसके भीतरी खुले प्रागण म करीब २३ × ३६ फुट का ८ फुट गहरा एक आयताकार कुण्ड है। इसम इटा की बढ़िया चुनायी हुई है, और कुण्ड की दीवार के मध्य म जलावरोधक डामर की एक परत है। कुण्ड के तल तक पहुचने के लिए दानो सिरो पर सीढ़ियाँ बना हुई हैं जिन पर आरम्भ म लकडी के तख्त बिछे हुए थ। कुण्ड का सम्भवत साफ करने के लिए ही एक बढ़िया नाली द्वारा इसके पानी को बाहर निकालने की व्यवस्था की गयी थी। प्रागण के समीप के ही एक कमरे म कुआ बना हुआ था जिससे परिश्रमपूवक पानी निकालकर इस स्नानागार को भरा जाता था। शेप जा कमरे हैं उनके द्वार आमन-सामने नही हैं कुछ कमरा म पहली या और ऊपर की मजिला तक पहुचने के लिए सीढ़ियाँ बनी हुई हैं। यह विशाल स्नानागार' नहाने धोन के लिए नही बना होगा क्योकि हर मकान मे बढ़िया गुसलखाने और अच्छे कुएँ थे और सिंधु नदी दुग के टील के पास से हा बहता थी। निश्चय ही इस स्नानागार का सम्बन्ध एसी किसी विस्तृत सस्कार विधि स रहा होगा जिसका वहाँ के निवासियो के लिए विशेष महत्त्व था।

कालान्तर के प्राचीन भारतीय साहित्य म मिलनवाले सस्कार-कुण्डो के उल्लेखा का यदि तुलनात्मक अध्ययन किया जाये तो इस स्नानागार' का मूल प्रयोजन काफी हद तक स्पष्ट हो जायेगा। सस्कृत म इन्हे पुष्कर अथात् कमलताल कहत हैं। पूरे ऐतिहासिक युग म ऐसे कृत्रिम ताल बनाये गय हैं पहले स्वतन्त्र रूप म बाद म मन्दिरो के समीप। ऐसे ताल या कुण्ड आज भी बनाये जाते हैं। स्पष्ट है कि प्राकृतिक कमलताल स काम नही चलता था। धार्मिक सस्कार से सम्बन्धित स्नान तथा शुद्धिकरण के अलावा, ऐस पुष्कर प्राचीन काल म राजाओ और पुरोहिता के अभिषेक के लिए भी आवश्यक थ। भारतीय राजा का अभिषक होता था यूरोप की तरह अभ्यजन नही। इसके अतिरिक्त तीर्थस्थाना म सीढ़िया (आधुनिक भारतीय घाट) विशेष रूप से पायी जाती हैं। धार्मिक स्थल के लिए तीर्थ शब्द का प्रयोग इस बात का सूचक है

क प्रारम्भ मे जल को पार करने के लिए घाट उतरना पडता था। ये दो विशेष-ताएँ मोहजोदडो के 'विशाल स्नानागार' को कालान्तर में भारत के पवित्र पुष्करा स भलीभाँति जोड देती हैं। परन्तु प्राचीनतम उल्लेखा मे पुष्कर के एक तीसरे प्रयोजन का भी वणन है जो इसे आदिम प्रजनन सस्कारा स जोडता है। पुष्कर सामायत जल विहारिणी अप्सराओ के क्रीडास्थल मान जाते थे। जसाकि वणन है ये अप्सराएँ अनुपम सुदरियाँ होती थी और वीर पुरुपो को आकर्षित करके उनके साथ समागम करती थी और इस प्रकार अत मे उह मृत्यु की ओर ल जाती थी। य जल विहारिणी सुदरियाँ नृत्य और गायन मे भी पारगत होती थी। इन अध-देवी अप्सराओ के अपन अपने नाम थे और प्रत्यक अप्सरा एक विशेष क्षेत्र से सम्बधित होती थी। अनेक प्राचीन भारतीय राजवश किसी-न किसी अप्सरा के साथ किसी वीर के अस्थायी समागम से उत्पन्न हुए माने जात हैं। य अप्सराएँ किसी के साथ विवाह करके स्थायी सामाय गृहस्थ जीवन नही बिता सकती थी। इससे मोहेंजोन्डो के 'विशाल स्नानागार' के साथ कुछ विचित्र ढग से निर्मित कमरो की उपयोगिता पर प्रकाश पडता है। यह व्यवस्था उस सस्कार की अग थी जिसम पुरुप न केवल कुण्ड के पवित्र जल मे स्नान करते थ बल्कि मातृदेवी का प्रतिनिधित्व करनेवाली उन देवदासिया के साथ सम्भोग भी करते थे। ये देवदासियाँ दुग के भवन समूह म रहती थी। यह निष्कष खीच-तानकर नही निकाला गया है। सुमेर बबीलोन के इश्तर के मदिरो मे ऐसी ही प्रथाएँ थीं जिनम बड़े परिवारो की लडकियो को भी भाग लेना पडता था। स्वय देवी इश्तर एक चिरकुमारी होने के साथ-साथ वारागना भी थी, मातृदेवी थी परन्तु किसी देवता की पत्नी नहीं थी।[1] वह नदी की भी देवी थी। वास्तव म सिधु प्रदेश का दुग का यह टीला मेसोपोटामिया के जिक्कुरात का ही प्रतिरूप है। मातृदेवी का अस्तित्व मिट्टी की उन छोटी किन्तु डरावनी मूर्तिया से भी सिद्ध हाता है जिनमे स्त्रियो को सिर को पूरी तरह ढकने वाल पक्षीरूप भारी मुखौटे डाले हुए दशाया गया है। ऐसी मूर्तियाँ प्राक् सिधु गावो के भग्नावशेपा मे और इन दो सिधु नगरो म भी मिली हैं। ये मूर्तियाँ महज गुडिया या खिलौने नही हैं, बल्कि किसी ऐसी देवी की मूर्तियाँ है जो जन्म और मृत्यु की अधिष्ठात्री मानी जाती थी। उसकी बडी मूर्तियाँ बनाने की आवश्यकता नही थी, क्याकि प्रतिमा के बिना ही उसकी ओर से उसकी देव-दासियाँ सभी आवश्यक सस्कार विधिया पूरी कर देती थी।

अब इस स्थिति की मिस्र और मेसोपाटामिया के साथ तुलना करके देखना जरूरी है। सिद्धात रूप से मिस्र का फरुन एक दवी शासक था, राज्य की भूमि

---

1 इश्तर का एक पति था और उसका नाम था तम्मज या दुम्मजो—अनुवादक

का अधिनायक था। परन्तु वस्तुस्थिति यह थी कि वह बहुसख्यक शस्त्रधारी कुलीन-वग और उससे भी बडे पुरोहित वग के सहयोग से ही शासन कर सकता था। नील नदी की सकीण घाटी म उसके शासन का एक आवश्यक प्रयोजन था। खाद्य सामग्री के अलावा शेष सारा आवश्यक कच्चा माल—इमारती लकडी, खनिज या धातुएँ आदि—बडे प्रयास से, और कभी कभी तो सनिक अभियान म भी आयात करना पडता था। आयात के बाद उस माल का बटवारा करना जरूरी होता था। अलग अलग गाँव यह सब करने म असमथ थे, क्योकि कार्यों और सामग्री के बटवारे का सचालन बिना किसी झगडे के होना जरूरी था। यह सचालन और बँटवारा—और आवश्यकता पडने पर आक्रमण और युद्ध भी—फरन का मूलभूत काय था। यही कारण है कि फरन के शासन और स्मृति से सम्बन्धित प्रत्येक वस्तु का जसे पिरामिडो का, निर्माण भव्य स्तर पर किया गया है। चूकि सिन्धु प्रदेश से ऐसे स्मारक नही मिले हैं इसलिए हम इस नतीजे पर पहुचते हैं कि यहा पर दवी युद्ध-नायको का वशानुगत शासन नहा था। जसा कि पहले बताया जा चुका है सिन्धु नगरो में किसी राजप्रासाद के अवशष नही मिले है, और जो हथियार मिले हैं वे बहुत थोड और कमजोर हैं। किसी महान विजेता की स्मृति म खडा किया गया कोई भी स्मारक मोहेजोदडो या हडप्पा म नही मिला है। कुछ प्रसिद्ध अग्रेज पुरातत्त्वविदो ने इन दो बडे सिन्धु नगरो को एक साम्राज्य की उत्तरी और दक्षिणी राजधानियाँ माना है। उनका यह मत न केवल मिस्र के सादश्य पर बल्कि सम्भवत उनकी इस भावना पर भी आधारित है कि भारत मे इतनी विकसित किसी भी वस्तु का अस्तित्व केवल एक सुदृढ साम्राज्यी शासन (अग्रेजो जस) के फलस्वरूप ही सम्भव है। इस मत पर और टिप्पणी अनावश्यक है।

मेसोपोटामियाई सस्कृति सिन्धु सभ्यता क अधिक समीप थी। मिस्रियो की तरह आर्थिक आवश्यकताओ के लिए उन्ह दूसरे दश जीतने की जरूरत नही थी और आन्तरिक बँटवारे के लिए किसी प्रबल केन्द्रीय सत्ता की भी जरूरत नहीं थी। मेसोपोटामियाई अथव्यवस्था मे व्यापार ने (यह व्यापार पूव और पश्चिम के देशो के अलावा अफ्रीका तट के दशो क साथ भी चलता था) बडी महत्त्व की भूमिका अदा की है। परन्तु जहाँ मेसोपोटामियाई नगर म कई मन्दिर होते थे जिनकी अपनी भूमि थी और जो व्यापार म भी भाग लते थ वहाँ सिन्धु नगर मे केवल एक जिक्कुरात टीला मिलता है और आम लोगो के लिए किसी प्रभावशाली या लोकप्रिय धार्मिक स्थल के अस्तित्व का कोई प्रमाण नही मिलता, फिर घरेलू या पारिवारिक पूजा सस्कारो का चाह जो भी स्वरूप रहा हो। मेसोपोटामिया मे व्यापारियो का ऊचा स्थान था भूमि दास पशुधन तथा अन्य सामग्री के रूप म उनके पास प्रचुर सम्पत्ति थी परन्तु उनके मकान वभवशाली

मिंधु नगरो के मकानो जसे नही थे और उनकी साफ-सफाई की व्यवस्था भी खराब थी। उनके उत्तराधिकार के नियमो, अनुबंधो कर्जों तथा बंधको के बारे म हमे काफी जानकारी मिलती है। परन्तु सिंधु सभ्यता का एसा कोई दस्तावेज नही मिला है। यह भी एक बडी पहेली है कि सिंधु सभ्यता के व्यापारी मेसोपोटामिया के साथ व्यापार करते थे, फिर भी उन्होंने वहाँ की लेखन-पद्धति— मिट्टी के खपडा या फलको पर नुकीली कील से अक्षर उकेरन की पद्धति—का नही अपनाया। क्या कारण है कि उन्होंने विदेश के बेहतर औजारो का नहा अपनाया? खेती के लिए नहरो की सिंचाई और गहरी जुताई का सहारा क्यो नही लिया? कुछ सिंधु व्यापारिया ने फरात तट के समीप इस पद्धति म उपजाई गयी बढ़िया फसल अवश्य ही देखी होगी। इसका यही उत्तर हो सकता है मिंधु प्रदेश के व्यापारी को इन सुधारों को अपनाने में कोई लाभ नजर नही आया होगा। इमस यह निष्कर्ष निकलता है कि समस्त भूमि महान मंदिर तथा उसके पुरोहित-समुदाय की सम्पत्ति रही होगी, और इसका बंदोवस्त भी सीधे उन्ही के हाथ म था। एक बार प्रतिष्ठित हो जाने पर प्राचीन जगत के अधिकाश पुरोहिता की तरह इन्होन भी हर नयी पद्धति का विरोध किया होगा। इन पुरोहिता को परिवतन की जरूरत नहीं थी और व्यापारियो के लिए परिवतन लाभप्रद नही था। मेसोपोटामिया मे एक शक्तिशाली लौकिक शासक, इशक्कु, होता था, जो युद्ध के समय नगर की सना का नेतृत्व करता था और जो अन्तत एक दवी अथवा अध दवी राजा बन गया था। वह अपने नगर के मंदिरा की शासन-व्यवस्था म अधिक दखल नही देता था, परन्तु विजित नगरा मे मनमानी करने की उस पूरी स्वतन्त्रता थी। सिंधु प्रदेश मे ऐसी राजप्रथा के भी प्रमाण नही मिलते। राजपद अत्यावश्यक ही नही था। खेतीहर किसान विशेष बलप्रयोग के बिना ही अपना अतिरिक्त अनाज सौंप देत थे। सिंधु समाज का मूलभूत वचारिक बल शक्ति प्रदशन अथवा हिंसा म नही बल्कि श्रम में निहित था। यही बात कालांतर के कई युगों के भारतीय समाज के बारे में भी दोहरायी जा सकती है। शान्तिमय धार्मिक गतिहीनता के मध्य बीच बीच म युद्ध, आक्रमण विजय और अराजकता क प्रचण्ड दौर—यही रहा भारतीय इतिहास का स्वरूप। मिंधु प्रदेश म यह गतिहीनता दीर्घकाल तक टिकी अडिग रही।

यहाँ के व्यापारी अपनी सम्पत्ति अपनी हवलियो की सुदृढ चारदीवारी के भीतर जमा करन म स्वतंत्र थे परन्तु ऐसा एक भी मकान नही मिला है जिस हम सही माने मे महल या राजप्रासाद कह सकें ऐसा भी कोई भवन नही मिला है जो आकार प्रकार और महत्व म दूसरो से काफी बढा चढा हो। इसका अर्थ यह है कि सिंधु प्रदेश के व्यापारिया पर हल्के कर लगाये गये थ और मसोपोटामिया के व्यापारिया की तुलना म वे निश्चय ही कही अधिक मुनाफा कमात

थे। ऐसा कोई राजा नही था जो व्यापार मे बडा साझेदार बनकर उनका अधिकाश मुनाफा हथिया ले। दूसरी ओर, सनिक सुरक्षा की यवस्था अपर्याप्त थी या बिलकुल ही नही थी, और इसलिए उन्हें अपनी और अपनी सम्पत्ति की रक्षा स्वय ही करनी पडती थी। यह बात उनके उस विचित्र नराश्यपूर्ण और भारी तथा सपाट स्थापत्य से सिद्ध होती है जिसका उल्लेख हम पहले कर चुके हैं। सिन्धु नगरो के खण्डहरो की खुदायी म इस बात के सबूत मिले हैं कि इनके अन्त काल के पहले भी नगर मे लुटेरे और डाकू सक्रिय थ। व्यापारियो का हिसाब किताब वस्त्र तालपत्र या ऐसी ही किसी नष्ट हो जानेवाली चीज पर लिखा जाता होगा। परन्तु सीमित स्थानीय लेन-देन के लिए उन्हे अधिक लिखा पढी की आवश्यकता नही थी स्मृति के सहारे ही काम चलता होगा। यह प्रथा भी कालान्तर के भारतीय समाज मे जारी रही—जबानी अनुबन्धो का पूरी तरह पालन किया जाता रहा। विदेशी पर्यवेक्षको को यह बात अचरज मे डाल देती है।

अनाज का सग्रह और वितरण महान मन्दिर की ओर से होता था। धान्य-कोठार टीले-नुमा दुग के भवन-समूह के अन्तगत या उसके समीप थे, और इस-लिए उसी के अग थे। अनाज की सफाई-कुटाई करनेवाले मजदूर समीप की चाल मे रहते थे जिसके कमरे एक-जसे किन्तु बडे घटिया बने हैं। ये मजदूर सम्भवत मन्दिर के दास थे मेसोपोटामिया मे भी कल्लु या गल्लु नामक एसे दास थ। उत्पादन की प्रक्रिया मे मन्दिर किस हद तक भाग लेता था, यह तो ज्ञात नहीं है, परन्तु विदेशी उदाहरणो के आधार पर लगता है कि यह सहभागिता पूरी पूरी रही होगी। किन्तु यह बात ध्यान देने योग्य है कि व्यापारियो की मुहरो पर किसी देवी की आकृति उत्कीण नही है। बिना किसी अपवाद के सभी टोटेम पशु नर हैं। जिन थोडी-सी मानवाकृतियो को पहचाना गया है, वे भी नर की ही प्रतीत होती हैं। इसका एक कारण सम्भवत यह जान पडता है कि व्यापारियो ने अपने अलग ऐसे गौण सम्प्रदाय विकसित कर लिये थे जिनमे मातृदेवी की कोई प्रत्यक्ष साझेदारी नही थी। ऐसी स्थिति मे व्यापार के मुनाफे के बारे म भी यही बात सच होगी परन्तु भू राजस्व की बात निराली थी।

बस सिन्धु सस्कृति का पुनर्निर्माण इसी सीमा तक सम्भव है। जाहिर है कि इस व्यवस्था का विस्तार नही हुआ। उत्तर की ओर और समुद्रतट के समीप सिन्धु सभ्यता की बस्तियाँ बहुत थोडी और नगण्य है। मुख्य शहरी आबादी तो ईसा पूव तीसरी सहस्राब्दी के अन्त समय म ही घट गयी थी। अब तकसगत सवाल यही है कि नगरो के अन्तिम विध्वस के बाद कितनी-कुछ सिन्धु सस्कृति जीवित रही। निश्चय ही, दस्तकारी और व्यापार से सम्बन्धित बहुत कुछ बचा रहा। कालान्तर के भारतीय वजनो और सम्भवत मापो (यह बात उतनी

स्पष्ट नहीं है) की भी परम्परा अक्सर सीधे मोहेंजोदड़ो और हड़प्पा तक पीछे चला जाती है। कुछ आख्यान और अनुश्रुतियाँ भी बची रही होंगी, जैसे, जलप्रलय की भारतीय कथा, जो सुमेर-बेबीलोन की और बाइबल में वर्णित विश्वव्यापी जलप्लावन की कथा के ढाँचे पर गढ़ी गयी है। यह कथा प्राचीन नहीं बल्कि परवर्ती संस्कृत साहित्य में देखने को मिलती है, और यह नये और पुराने के आर्यों और आर्य पूर्वों के उत्तरोत्तर समागम के उन बहुत से लक्षणों में से एक है जिसके कारण भारतीय साहित्य और कानूनी व्यवहार का प्रत्याशित क्रम कभी-कभी उलट जाता है। यह तथ्य ध्यान देने योग्य है कि मिस्र में जनजीवन के बुनियादी ढाँचे एवं स्वरूप में कोई गहरा परिवर्तन हुए बिना ही वहाँ एक के बाद एक कई राजवंश शासन करते रहे। जो परिवर्तन दिखायी देते हैं वे केवल फरून के राजप्रासाद तक ही सीमित हैं, और इसका कारण है विदेशों से एकाएक नये खनिज मिल जाना अथवा युद्ध में बन्दी बनाये गये बहुत-सारे दासों पर अधिकार होना। आम जनता का जीवन लगभग पूर्ववत् बना रहा। कुछ आयजनों ने मिस्र पर भी आक्रमण किया था। नये-नये आक्रमणकारियों के साथ *मेसापोटामिया की भाषा और धार्मिक सम्प्रदाय तो बदले परन्तु वहाँ के नगर* स्थायी बने रहे। वहाँ शासन चाहे सुमेरियों का रहा हो या बेबीलोनियों का या असीरिया का या ईरानियों का अधिक-से-अधिक यही हुआ कि सत्ता का केन्द्र एक नगर से दूसरे नगर चला गया। मेसोपोटामियाई सभ्यता का अन्तिम विनाश तभी हुआ जब नहरों की सिंचाई-व्यवस्था नष्ट हो गयी और अन्न उपजानेवाली भूमि मरुक्षेत्र में बदलती गयी। सिन्धु नगरों के पूर्ण विनाश का सम्भवतः एक ही कारण था—उनकी कृषि-व्यवस्था का नष्ट हो जाना। चूँकि यहाँ नहरों की व्यवस्था नहीं थी इसलिए इसके दो ही अर्थ हो सकते हैं। पहला तो यह कि, जैसाकि अक्सर हुआ है नदियों ने अपने पाट बदले होंगे। इससे नगर-नौकाश्रय नष्ट हो गये और अनाज पहुँचाना कठिन हो गया। दूसरे, आक्रमणकारी मूलतः कृषक नहीं थे। उन्होंने बाढ़ की सिंचाई के लिए बनाये गये बाँधों को जिनसे एक चौड़े भूक्षेत्र में उपजाऊ मिट्टी जमा होती थी, तोड़ डाला। इससे अनाज का उत्पादन बन्द हो गया और इसके साथ ही दीर्घकालीन *गतिहीनता से विघटित होते आ रहे नगर भी नष्ट हो गये।* वास्तविक जीवनक्षम समाज का पुनर्निर्माण नये और पुराने के समागम से ही सम्भव हुआ।

चौथा अध्याय

आर्य

४ १ आयजन

सस्कृत म और इससे प्रभावित अधिकाश भारतीय भापाआ म आय श न का अथ है—स्वत त्र श्रेष्ठ अथवा तीन उच्च वर्णों का सदस्य। अ य अनेक श न्दो की तरह विगत शता दियो म इस श द का भी अथ बदला है। बाद के दिनो मे यद्यपि इसका इस्तेमाल महोदय अथवा 'श्रीमान' जसे आदर सूचक श न्दो के अथ म हुआ है किन्तु एकदम आरम्भिक दिनो म यह शब्द मानव जातीय समूह के रूप में किसी विशेप कबीले या कबीला का सूचक था। अधिकाश इतिहासकार इ ही प्राचीन आर्यों से भारतीय इतिहास शुरू करते हैं। कुछ लेखक अब भी यह मानते हैं कि सि धु सभ्यता के जनक आय लोग थे। इस मत का कारण यह पूवग्रह है कि भारतीय सस्कृति की प्रत्येक उच्च उपल धि आर्यों की ही देन हो सकती है। जमनी के भूतपूव नात्सी शासन तथा उसके अधिकृत दशन ने आय श द को जो घृणित जातीयवादी अथ दिया उसस उलझन और भी बढ गयी है। इस विपय म यह भी कुछ स न्देह स्वाभाविक है कि वस्तुत कोई आय कभी थ भी या नही और यदि थे तो वे किस तरह के लोग थे।

आर्यो की प्रमुख विशेपता एक ऐसी विशेपता जिसके कारण एक बडे जन समूह के लिए यह नाम उचित जान पडता है है—उनका एक सामा य भापा परिवार। ये महत्त्वपूण भापाएँ सारे यूरेशिया मे फली हुई हैं। सस्कृत लटिन तथा यूनानी प्राचीन आय भापाए थी। लटिन से दक्षिणी यूरोप म रोमास भापा समूह (इतालवी स्पेनिश फासीसी रूमानियन आदि) का विकास हआ। इसके साथ ही टयूटानिक (जमन अगरेजी स्वेडिश आदि) और स्लाव (रूसी पोलिश आदि) भापावग भी आय भापा-परिवार के अन्तगत आत हैं। अनेक वस्तुओ के

शब्दो की आपस मे और आर्येतर भाषाओ के शब्दो से तुलना करके देखने पर यह बात सिद्ध हो जाती है। यूरोप की फिनिश, हगेरियन तथा बास्क भाषाएँ आय-परिवार की नही हैं। हिब्रू और अरबी, भले ही इन भाषाओ के स्रोत सुमेर की प्राचीन सस्कृति तक पीछे जाते हो, आय भाषाएँ नही हैं, ये सेमेटिक भाषाएँ हैं। तीसरा विस्तत आर्येतर भाषा परिवार चीनी मगोलाई है, जिसके अन्तगत चीनी जापानी, तिब्बती मगोलाई तथा अन्य अनेक भाषाओ का समावेश होता है। यह भाषा परिवार सास्कृतिक और ऐतिहासिक दष्टि से सर्वाधिक महत्त्व का है, यद्यपि भारत के लिए इतना नही। इदो-आय भाषाएँ सस्कृत स विकसित हुई हैं। इस प्रकार आरम्भ मे विकसित हुई भाषाएँ हैं पालि जो मगध मे बोली जाने के कारण मागधी भी कहलाती है, और अन्य अनेक प्रान्तीय प्राकृत भाषाएँ। इन्ही स हिन्दी पजाबी, बगला मराठी आदि आधुनिक भाषाएँ निकली। किन्तु भारत म आर्येतर भाषाओ का भी एक विस्तत और सास्कृतिक दष्टि से महत्त्वपूर्ण वर्ग है जिसमे द्रविड भाषा समूह के अन्तगत तमिल तलुगु कन्नड मलयालम तथा तुलु भाषाओ का समावेश होता है। इनके अलावा छोटे छोटे कबीलो की बहुत-सारी बोलिया हैं जिनसे हम भारतीय भाषाओ की आरम्भिक अवस्थाओ के बारे म काफी जानकारी मिलती है। एक समय इन सब बोलियो को ऑस्ट्रिक भाषा परिवार के अन्तगत रखा जाता था परन्तु मुडारी उराँव टोडा आदि के बीच के अन्तर को देखते हुए यह शब्द अब अनुपयुक्त समझा जाने लगा है। अब मुख्य प्रश्न है क्या भाषा-समुदाय या भाषा परिवार के एक सामूहिक उदगम के आधार पर यह निष्कर्ष निकालना न्यायसगत है कि किसी आय जाति या आयजनो का कोई अस्तित्व था?

'प्रजाति' शब्द की चाहे जितनी लचीली व्याख्या की जाये, यह मानना कठिन है कि स्कण्डेनविया के गौराग निवासी और सावले बगाली एक ही प्रजाति के है। इसलिए यूरोप के चोटी के कुछ भाषाविद करीब एक सदी पहले ही इस निष्कर्ष पर पहुच थे कि आय जाति की बात उसी प्रकार हास्यास्पद है, जिस प्रकार 'लघुकपालीय व्याकरण' की। आय एक भाषाशास्त्रीय शब्द है, मानवजातीय इकाई स इसका कोई सम्बन्ध नही। फिर भी, यह एक सचाई है कि प्राचीन काल म एस लोग मौजूद थे जो स्वय को आय कहते थे, और दूसरे लोग भी उन्हे आय कहते थे। हखामनि सम्राट दारयवहु प्रथम (दारा या डरियस मृत्यु ४८६ ई० पू०) अपने अभिलेखो म अपने बारे म कहता है 'हखामनिशिय पास, *पारसपुत्र आय वशज आय*। अत आर्यों का एक एसा ऐतिहासिक जन समुदाय था जिसम हखामनि कुल और पारसी कबीले का भी समावेश होता था। पवित्र वेद प्राचीनतम भारतीय ग्रन्थ हैं और इनके अनुसार आय लोग वे हैं जो वेदो म वर्णित देवताओ की उपासना करते हैं। तिथियुक्त अभिलेखो और हस्तलेखो स
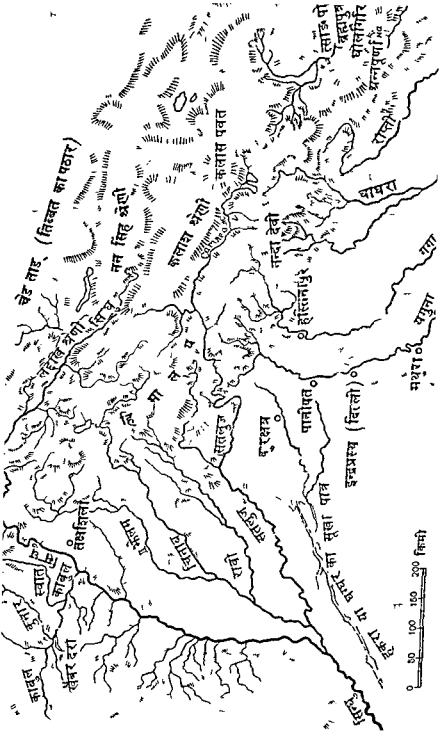
क्रमश पीछे जाते हुए भारत की समस्त लिखित सामग्री को, वेदो को भी, एक प्रकार के कालक्रम में आयोजित करना सम्भव है। परवर्ती ग्रन्थ पूववर्ती ग्रन्था का या तो उल्लेख करते हैं या उनका अनुकरण करते हैं। भाषा की पुरातनता से पूवकालिक्ता सिद्ध होती है। इस प्रकार,' ऋग्वेद प्राचीनतम ग्रथ सिद्ध होता है, इसके बाद यजुर्वेद (जिसकी शुक्ल और कृष्ण दो शाखाएँ हैं) और सामवेद का स्थान है, और काफी बाद मे अथर्ववेद की रचना हुई, जिसमे मन्त्र-तन्त्र पर विशेष बल दिया गया है। एक सगत अनुमान यह है कि ऋग्वेद के अधिकाश भाग की रचना लगभग १५०० १२०० ई० पू० के बीच म पजाब मे हुई अथवा कम-से-कम इसमे उल्लिखित घटनाएँ इस काल की हैं। परन्तु भारत के बाहर के आर्यों की तरह य वदिक आय भी उसी प्रकार आपस म निरन्तर लडते रहे जिस प्रकार य अनार्यों और आय पूव लोगा स लडे। अत यह निष्कष युक्तिसगत जान पडता है कि आय भाषाएँ बोलनेवाले केवल कुछ ही लोग अपने को आय कहते थे। दारयवहु के पुत्र क्षयाष की सेना मे आयनामक टुकडियाँ थी, और यह भी जानकारी मिलती है कि मीडियावासी जो पारसियो के पहले हुए आरम्भ में 'आय' कहलाते थे। 'ईरान' शब्द की उत्पत्ति आर्यानाम्' अर्थात् 'आर्यों का (देश) स हुई है। यद्यपि यूनानी, पारसी और पजाब के भारतीय लोग आय भाषाएँ बोलत थे, किन्तु सिकन्दर के समकालीन इतिहासकारो ने 'आय शब्द का प्रयाग इस नामवाल केवल उसी कबीले के लोगो के लिए किया है जो उस समय सिंधु नदी के दाहिने तट पर बस हुए थ।

आदिम आय भाषा बोलनवाले मूल लोग किस प्रकार के थे ? जसाकि पहले बताया जा चुका है, आदिम भाषाओं मे 'वक्ष', पशु 'मछली आदि जातिवाचक शब्दो की बजाय हर प्रकार के पक्षी, पशु, मुरगा-मुरगी तथा पौधे के लिए पथक पथक शब्द हैं। उदाहरणाथ, भाषाशास्त्रियो ने नितान्त स्थानीय शब्दा को छाड-कर, 'वक्ष शब्द के लिए आय भाषाओ मे पाय जानवाले समान धातु शब्दो की तुलना की है। इससे जान पडता है कि मूल आय वक्ष भूज था जो उत्तरी यूराप और हिमालय मे तो हाता है परन्तु ऊष्ण जलवायु म नही। उनकी मछली सम्भवत सामन थी। इस प्रकार के विश्लेषण को आगे वढाया जा सकता है। धरातल पर पौधो (जिनकी खेती होती है और जो किस्मे दूर-दूर तक यात्रा कर चुकी हैं, उन्हें छोडकर), जगली पशुओ, पक्षियो और मछलिया का सामान्य वितरण काफी हद तक निर्धारित हो चुका है और ज्ञात है। उन पालतू किस्मा के बारे मे कुछ छूट देनी होगी जिन्हे मनुष्य एक स्थान से दूसरे स्थान ले गय होंगे। उदाहरण के लिए, चाय और इसके लिए प्रयुक्त यह शब्द ऐतिहासिक काल मे चीन से आया। इससे हम यह निष्कष नही निकाल सकते कि चाय आय शब्द अथवा आय पेय था, कि चीनी एक आय भाषा है या कि चीन आर्यों का

मूल र्श था। ऐसी संदिग्धताओं को दूर कर देने के बाद निष्कर्ष यह निकलता है कि मूल आर्य लोग यूरेशिया के उत्तरी क्षेत्रों से परिचित थे, और सम्भवत वहां उनका मूल स्थान था।

किन्तु भाषाशास्त्रीय विश्लेषण का दायरा और इसकी उपयोगिता सीमित है। आर्यों की सगोत्रीय शब्दावली में अद्भुत समानता है। उल्लिखित भाषाओं में माता पिता भ्राता, श्वसुर, विधवा आदि के लिए प्राय एक-से शब्द मिलते हैं। इससे हम निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि मूल सामाजिक संगठन एक-सा था और ये लोग भी वस्तुत एक ही थे। साथ ही, पाद (पर) के लिए तो सर्वसामान्य आर्य शब्द मिलता है परन्तु 'हस्त (हाथ) के लिए ऐसा कोई शब्द नहीं है। *संस्कृत के दुहितृ (पुत्री) शब्द का अर्थ दूध दुहनेवाली भी होता है, और यह* शब्द आर्य भाषाओं में व्यापक रूप से पाया जाता है। इसके आधार पर कुछ यूरोपीय विद्वानों ने आर्यों के घरेलू जीवन का एक मनोहर चित्र तैयार किया है। दुर्भाग्यवश दूध के लिए कोई सर्वसामान्य शब्द नहीं मिलता। प्राचीन आर्य भाषाओं में 'गाय और अश्व के लिए सर्वसामान्य शब्द मिलते हैं जिससे पता चलता है कि ये पशु उनकी अर्थव्यवस्था के मूल आधार थे। परन्तु इस पद्धति का बहुत दूर तक इस्तेमाल करने का अर्थ होगा हास्यास्पद परिणामों पर पहुंचना। जब अन्य कोई साधन उपलब्ध न हो तभी इस पद्धति का उपयोग उचित है।

४ २ आर्यों की जीवन-पद्धति

एक व्यापक सिद्धान्त के रूप में यह कहा जा सकता है कि कोई भी भाषा जब तक वह बेहतर उत्पादन प्रणाली में जुड़ी न हो विविध भाषाओंवाले बहुसंख्यक लोगों पर लद नहीं सकती। आक्रमणकारी आर्यों के गिरोह बहुत बड़े नहीं रहे होंगे, क्योंकि जिस भूमि से वे आये थे वहाँ उन अधिकांश सभ्य तथा खेतीहर प्रदेशों से अधिक आबादी का पालन सम्भव नहीं था जिन पर उन्होंने आक्रमण किये। तब वे अपने को और अपनी भाषा को दूसरे पर कैसे थोप पाये ? संस्कृति को इसके व्यापक अर्थ में उनकी प्रमुख देन क्या थी ? भारत पर हमला करने *वाले आर्यों के बारे में काफी कुछ कहा जा सकता है।* लिखित और भाषिक प्रमाणों के आधार पर भारतीय ईरानी लोगों के लिए ई० पू० दूसरी सहस्राब्दी के आगे आर्य नाम का प्रयोग निश्चय ही न्यायसंगत है। पुरातत्व से हमें जानकारी मिलती है कि ये खास आर्य ईसा पूर्व दूसरी सहस्राब्दी में युद्धप्रिय खानाबदोश लोग थे। उनके भोजन का मुख्य स्रोत और सम्पत्ति का मापदण्ड मवेशी थे जिन्हें वे महाद्वीप के विशाल विस्तार में चराते रहते थे। घोड़े को वे रथ के साथ निपुणता से तो नहीं जोत पाते थे परन्तु इससे उन्हें सामरिक दावपेंचों के लिए गति और युद्ध में श्रेष्ठता मिली। आर्य कबीलों का संगठन पितृसत्तात्मक था, कबीले में पुरुष ही अधिनायक और सम्पत्ति का स्वामी होता

था। आय देवता भी अधिकतर पुरुष ही हैं, पर कुछ देवियाँ पहले के युगा से और पहले के लोगा से ली गयी थी।

जब हम आय सस्कृति की चचा करते हैं तो इसका अथ हमे स्पष्ट होना चाहिए। तुलना मे आय लोग ईसा पूव तीसरी सहस्राब्दी की उन महान नागरी सस्कृतिया से श्रेष्ठ नही थ जिन पर उन्होने हमला किया और जिन्हें प्राय नष्ट कर डाला। आर्यों के एसे कोई विशिष्ट मृदभाण्ड अथवा खास औजार नही हैं जिनके आधार पर आय सस्कृति का पुरातात्त्विक विवेचन किया जा सके। वस्तुत जिस बात के कारण इन लोगा को विश्व इतिहास मे इतना महत्त्व मिला है, वह थी इनकी बेजोड गतिशीलता जो इन्हे मवशियो के चल खाद्य भण्डार के रूप मे, युद्ध म अश्व रथ के रूप मे और भारी माल ढोन के लिए बलगाडी के रूप मे प्राप्त हुई थी। इनकी मुख्य उपलब्धि यह थी कि इन्होने ईसा पूव तीसरी सहस्राब्दी की महान नदी घाटी सभ्यताओ से दूर बसी हुई छोटी, अवरुद्ध तथा प्राय पतनोन्मुख कपक बिरादरियो के बीच के अवरोधो को बडी निममता से नष्ट कर डाला। आर्यों ने उन स्थानीय शिल्पा को अपना लिया जो उनके लिय उपयोगी थे, और आगे बढ गये। उनके आक्रमण से मची हुई तबाही का जीर्णोद्धार करना बरबाद हुए लोगा के लिए प्राय असम्भव हो जाता था। फिर भी, आय और मिस्री (और बाद के असीरी) आक्रमणो म मूलभूत अन्तर था। मिस्र का फरन लूट, भेंट, ताबे के खनिज पर अधिकार अथवा अपनी याजनाआ पर काम करने के लिए दास प्राप्त कर लेने के बाद वापस लौट जाता था। एकदम ही नष्ट कर दिया गया हो तो बात निराली है अन्यथा आक्रान्त प्रदेश म जीवन बहुत-कुछ पुराने ढग स ही चलता था। परन्तु जिन पुरानी बस्तियो पर आर्यों का हमला होता था और इनमे से अधिकाश बस्तिया अगम्य स्थानो म होती थी और फलत उस आक्रमण के लिए अनुपयुक्त थी, वहाँ मानव समाज और मानव इतिहास की नयी शुरुआत, वह भी यदि सम्भव हुई तो एक नितान्त नय स्तर स होती थी। इसके बाद छोटी खेतीहर इकाइयो और बन्द कबीलाई बिरादरिया मे पहल जसा अलगाव असम्भव हो जाता था। वे शिल्प विधियाँ जो प्राय निरथक कमकाण्डो से सम्बन्धित होने के कारण स्थान विशेष मे ही बडे जतन से गुप्त रखी जाती थी, अब सवसामान्य ज्ञान बन गयी। साधारणत आय और आय-पूव लोगा के मेल जोल स प्राय नयी आय भाषा के साथ, नयी बिरादरियाँ बनी।

ईसा पूव दूसरी सहस्राब्दी म मध्य एशिया स आर्यों की दो लहरें आयी—पहली लहर इस सहस्राब्दी की शुरुआत म आयी, और दूसरी अन्त समय म। इन दोना ने भारत को प्रभावित किया और सम्भवत यूरोप को भी। य दोना ही गतिविधिया सुविचारित, नियोजित अथवा निर्देशित नही थी। उनकी अपनी मातृभूमि (मोटे तौर पर आधुनिक उजबकिस्तान) के चरागाह सम्भवत लम्ब

सूखे के कारण, मवेशियों और उनके मालिकों के भरण-पोषण के लिए पर्याप्त नहीं थे। देशान्तरण सदव ही किसी निर्धारित दिशा म नहीं हुआ। भारत म पहुचे हुए लोगो मे से कुछ या तो खदेड दिये जाने के कारण अथवा नय प्रदेश की परिस्थितियाँ सतोषजनक न होने के कारण, वापस लौट गय। यह बात ईसा पूव दूसरी सहस्राब्दि के उत्तराद्ध की कुछ हित्ती मुहरो पर उत्कीण कूबडवाल विशिष्ट भारतीय बल को देखने से स्पष्ट हो जाती है। हित्ती भाषा का मूल भी आय भाषा मे है। खत्ती शब्द जो हित्ती का ही पर्याय है, सस्कृत के क्षत्रिय और पालि के खत्तिय शब्द से सम्बधित जान पडता है। हित्तियो न अनातोलिया के खेतीहर जनसमुदाय को पराजित किया वहाँ बस गये, और अपना शासन शुरू कर दिया। उनके और भारतीयो के बीच कोई सतत और घनिष्ट सम्बध नहीं रहे। परन्तु जो सम्पक था चाह वह कितना भी खण्डित और अल्पकालीन क्यों न रहा हो वह इस दृष्टि से महत्त्वपूण था कि लोहे का ज्ञान जिससे हम हित्तियो को पहली बार परिचित देखते हैं (फिर उन्हाने यह रहस्य चाह किसी भी पुराने जनसमुदाय से प्राप्त किया हो), आर्यों की दूसरी लहर के साथ भारत पहुँच सका।

भारतीय आर्यों के भाईबन्द नजदीक ईरान म थे। ईरान और मीडिया के लोग भी सस्कृत से मिलती जुलती आय भाषा बोलते थे। ई० पू० १४०० के आसपास के मितन्नी अभिलेखो से पता चलता है कि एक आय भाषा मे भारतीय-आय देवताओ की उपासना करनेवाल लोग इरान की उरमिया झील के समीप बसे हुए थे। ईरान मे इन्ही इन्द्र, वरुण मित्र आदि देवताओ की उपासना होती थी परन्तु ईसा पूव छठी सदी के अन्तिम समय म जरतुश्त ने इनको बहिष्कृत कर दिया। केवल अग्नि ही एकमात्र ऐसा भारतीय-आय देवता था जिसकी दोनो ही उपासना करते रहे। सस्कृत का देव शब्द ईरानी मे दानवसूचक बन गया। परन्तु अवेस्ता मे (आर्यों के) अधिकृत प्रदेश के रूप मे सप्तसिंधु यानी सात नदियो के प्रदेश (पजाब बाद मे दो नदियाँ सूख गयीं) का उल्लेख है। कुछ इन्दो ईरानी वीर कस्पियन तट के प्रदेश—आजकल के गिल्यान और मजन्देरान प्रदेश—से अपनाये गये। ईरानी ग्रन्थो म राजा यिम के 'वर के बारे मे जानकारी मिलती है यह 'वर' एक ऐसा आयताकार स्थान था जिसमे, जब तक कोई पाप न करे मृत्यु अथवा जाडे का शीत घुस नहीं सकता था। दरअसल यह एक प्रकार स 'स्वणयुग का ही एक सीमित रूप था। तब दयालु राजा यिम न निषेध भग के कारण दण्ड की भागी बना अपनी प्रजा का बचाव के लिए स्वय मृत्यु का वरण किया, और इस प्रकार वह पहला मर्त्य बना। भारत म ऋग्वेद का यम भी प्रथम मर्त्य प्राचीन पतृक मृत्यु देवता है और यह आज भी मृतको का ही देवता है। आरम्भकाल म जब किसी भारतीय आय की मृत्यु होती थी तो वह यम के सरक्षण म ही अपने

पूवजा से जा मिलता था। कालातर म यह यम नरक मे मृतको को यातनाएँ देनवालो का अधिनायक बन गया, और बाकी दवता स्वग के स्वामी बन गये। ईरान के धार्मिक ग्रथो म यिम के 'वर' के बारे म जिस प्रकार की परम्परागत जानकारी मिलती है ठीक उसी लम्बाई चौडाई के आयताकार बाडे सोवियत पुरातत्ववेत्ताओ ने उजबकिस्तान मे खोज निकाले हैं। प्रागतिहासिक काल के य निमाता पत्थर की दीवारो से सटे हुए छोटे छोटे कमरो म रहते थे और सकट के समय य अपने पशुआ को बीच की खुली जगह मे बाध देते थे। इदो-आर्यों के महान देशान्तरण के पहले यिम और उसका अधिकार-क्षेत्र एक प्रागतिहासिक वास्तविकता थी। बाद म यही 'वर' यूनानी आख्यानो में औजियन (गदगी स भरी) की अश्वशाला क रूप म प्रकट हुआ, जिसे हेराक्लीज ने साफ किया।

ऋग्वेद के सूक्तो को चौदहवी सदी के उत्तराद्ध मे दक्षिण भारत में ठीक से सम्पादित किया गया, लिपिबद्ध किया गया और उन पर भाष्य लिखे गये। तब तक ऋग्वद के पाठ को अक्षर व अक्षर कण्ठस्थ रखा गया था (जसाकि भारत के कुछ पण्डित आज भी करत हैं) और इसे आम तौर पर लिपिबद्ध नही किया गया था। इसस निष्कष निकलता है कि समूची वदिक परम्परा जीवित नही रह पायी। ऋग्वेद का कमक्षेत्र पजाब की भूमि थी। इस वदिक परम्परा को वहन करने वाल पुरोहित-वशक्रम के मन्त्रियो से इस भूमि स सारे सम्बध टूट गय थे, इसलिए यहा के विविध स्थलो के नामो का सही अथ लगाना उनके लिए प्राय असम्भव हो गया था। स्थानो नदियो तथा व्यक्तियो के नामो के अलावा भी ऐसे अनक महत्वपूण शब्द हैं जिनके अथ लगान मे आज भी कठिनाई होती है क्योकि भाषा बदल गयी है। पुरानी बाइबिल (पूवविधान) की तुलना म वेदो का ऐति हासिक महत्त्व कुछ कम ही है क्योकि बाइबिल को उन लोगो न सदैव ही एक इतिहास के रूप म प्रस्तुत किया जो अपनी उस विशेष भूमि से सम्पर्क बनाय रखे थे। फिलस्तीन का पुरातात्त्विक अध्ययन भारत की अपेक्षा कही अधिक उन्नत और अधिक वज्ञानिक ढग म हुआ है और इससे बाइबिल की अनक घटनाओ की पर्याप्त पुष्टि होती है। दूसरी ओर आय लोग हमेशा ही स्थान बदलते रहते थ। और नदियों तथा पवता के नाम अक्सर ही उनके साथ यात्रा करते रहते थे। वेदो की पवित्र नदी सरस्वती कभी अफगानिस्तान की हेलमद (प्राचीन पारसी म हरहवति और असीरी म अरक्तु) नदी थी, फिर पूर्वी पजाब की एक नदी सरस्वती कहलाई जो ऋग्वद-काल के बाद सम्भवत प्रथम सहस्राब्दी म, सूख गयी।

बिना अन्य बहतर सामग्री के अभाव म ऋग्वद को यदि हम इसके वतमान रूप म ही ग्रहण करें तो इससे कम से कम जिस विरोधक काय की पुष्टि होती है वह है सिधु नगरो का विध्वस। वेदों का प्रमुख देवता अग्नि है इसकी स्तुति

मे अन्य किसी भी देवता की अपेक्षा अधिक सूक्त रचे गये हैं। अग्नि के बाद महत्त्व का देवता है इन्द्र जो हिंसक, पितसत्तात्मक कास्ययुगीन कबीले का, जैसे कि प्रथम लहर के आर्य निश्चित रूप से थे, मानवीय युद्धनेता जैसा जान पड़ता है। वस्तुत यह अब भी एक अनिर्णीत प्रश्न है कि क्या इन्द्र सचमुच आर्यों का युद्ध मे नेतत्व करनेवाला एक देवत्वप्राप्त युद्धनेता अथवा ऐसे सक्रिय मानवीय नेताओं के एक सिलसिले का द्योतक नही है। कई बार इन्द्र का अतिमात्रक सोमरस (एक अत्यन्त नशीला पेय जिसकी अभी तक ठीक से पहचान नही हो पायी है) पीने के लिए और अपने आर्य अनुयायियों के विजय-अभियान का नेतत्व करने के लिए आवाहन किया जाता है। इन्द्र ने आर्यों के शत्रुओं को नष्ट कर डाला और अनार्यों (अदेवयु) के कोष भण्डारों को लूटा। इन्द्र ने शबर, पिप्रु अशमानस शुष्ण (जो सम्भवत अनावृष्टि का साकार रूप था) नमुचि आदि अनेक दानवों की हत्या की। इनमे से कई नाम अनार्यों के जान पड़ते हैं। वैदिक देवाख्यानों को सम्भाव्य ऐतिहासिक वास्तविकता से पृथक करना हमेशा ही एक कठिन काम रहा है, आलकारिक स्तुति रणक्षेत्र मे सैनिक विजय की सूचक हो भी सकती है, और नहीं भी। नमुचि की 'सेना की स्त्रियाँ मानवी थी अथवा मातदेवियाँ थी? इस दानव की क्या दो पत्नियाँ थी या कि यह दो नदियों के उस स्थानीय देवता का सूचक है जिसे हम अक्सर मेसोपाटामिया की मुहरों पर अकित देखते हैं? भारत मे पहुचने के पहले आर्यों ने अन्य नागरी सभ्यताओं को नष्ट किया था। इन्द्र ने आर्य मुखिया अभ्यावर्तिन चायमान के लिए हरियूपीया के बचे खुचे वरशिखों को मार डाला। नष्ट किया गया यह कबीला वचीवता का था। इन्द्र ने इनके १३० कवचधारी योद्धाओं की प्रथम पंक्ति को यव्यावती (रावी) नदी के तट पर मिट्टी के घड़े की तरह चकनाचूर कर दिया सारी शत्रु सेना की 'पुराने चिथड़े की तरह धज्जियाँ उड़ गयी और शेष लोग भयभीत होकर भाग गये। ऐसी यह ओजस्वी भाषा हड़प्पा मे घटित किसी वास्तविक संघर्ष की परिचायक है, फिर यह संघर्ष आर्यों के दो समूहों के बीच हुआ हो या आर्यों और अनार्यों के बीच। ऐसी स्थिति मे यकीन होने लगता है कि हड़प्पा का समाधि क्षेत्र एच जिसका समय आर्य पूर्व नागरी संस्कृति के बाद आता है अपनी ऊपरी सतह मे आर्य समाधियों का सूचक है। इसी प्रकार नार्मिनि नगर को मोहेंजोदड़ो के साथ मिलाने का लोभ होता है परन्तु इस नगर के बारे मे ऋग्वेद से हमे इस बात के अलावा अधिक जानकारी नही मिलती कि यह सम्भवत आग से नष्ट हुआ था। आर्यपूर्व लोगों के अपने अनेक लक्कड़कोट और दुर्ग थे जिनमे कुछ मौसमी (शारदी) थे और कुछ अन्य इतने मजबूत थे कि उन्हें 'आयसी' यानी पीतल के कहा गया है। शत्रुओं को काले (कृष्ण) और चपटी नाकवाले (अनासस) कहा गया है। इन्द्र (पुरन्दर) ने घनी आबादीवाले जिन पुरों या

दुर्गों को नष्ट किया, उन्हें आलंकारिक भाषा में 'कृष्ण भ्रूणा से गर्भित' कहा गया है।

जिस एक साहसिक कार्य के लिए इन्द्र की बार-बार स्तुति की गयी है, वह है नदियों की मुक्ति'। उन्नीसवीं सदी में, जब प्रकृति-सम्बन्धी मिथकों से हर प्रकार की घटना को यहाँ तक कि होमर के काव्य में वर्णित ट्राय के विध्वंस को भी समझाया जा रहा था, तब उपर्युक्त कथन का अर्थ लगाया गया—वर्षा लाना। इन्द्र बादलों में बन्द जल को मुक्त करनेवाला वर्षा का देवता बन गया। परन्तु वर्षा का वैदिक देवता पर्जन्य है। जिन नदियों को इन्द्र ने मुक्त किया था वे 'कृत्रिम व्यवधानों से रोकी गयी' थीं। दानव वृत्र 'एक विराट सर्प की तरह पर्वत की ढाल पर लेटा हुआ था'। इन्द्र ने जब इस दानव की हत्या कर दी तो पत्थर गाड़ी के पहिए की तरह लुढ़कने लगे' और पानी दानव की निर्जीव देह के ऊपर से बह निकला'। इस वर्णन की समस्त आलंकारिकता के बावजूद इसका केवल एक ही अर्थ हो सकता है—बाँध का विध्वंस। योग्य भाषाशास्त्रियों के विश्लेषण के अनुसार वृत्र शब्द का अर्थ बाधा अथवा व्यवधान है, कोई दानव' नहीं। इस अपूर्व साहसिक कार्य के लिए इन्द्र को वृत्रहन कहा गया है। यही शब्द ईरानी में वरेथ्रघ्न बनकर आलोक के महान जरतुश्ती देवता अहुर-मज्द के लिए प्रयुक्त होने लगा। ये मिथक और रूपक उन विधियों की स्पष्ट जानकारी देते हैं जिनसे अन्ततोगत्वा सिन्धु प्रदेश की कृषि नष्ट हो गयी। साथ ही इन्द्र ने विबालि नदी (अभी तक अज्ञात) को जो अपने तटों को लाँघकर बहने लगी थी सही धारा में बहाया। जैसाकि पहले बताया जा चुका है, सिन्धु सभ्यता में विशेष बाँध बाँधकर जो कभी-कभी अस्थायी होते थे बाढ़ के पानी से सिंचाई करने की प्रथा थी। इससे आर्यों के मवेशी झुण्ड के लिए भूमि अत्यन्त दलदली हो जाती होगी, और बाँधी गयी इन नदियों के कारण पशुओं का दूर-दूर तक चराना असम्भव हो गया होगा। इन बाँधों के विनाश के साथ ही सिन्धु नगरों में आर्यों के लम्बे समय तक आबाद बने रहने की सम्भावना भी नष्ट हो गयी, क्योंकि वहाँ साल भर में बहुत कम वर्षा होती थी।

ऋग्वेद में प्रमुख रूप से जिन अनार्य लोगों का उल्लेख है परन्तु बहुत अधिक नहीं वे हैं पणि। धनी विश्वासघाती, लालची, युद्ध में इन्द्र के सामने टिकने में अक्षम—ऐसा ही उनका सामान्य वर्णन है। ऋग्वेद के एक बाद के किन्तु प्रसिद्ध सूक्त में इन पणियों और इन्द्र की संदेशवाहक श्वानदेवी सरमा (सरोवर की देवी) के बीच का एक संवाद दिया हुआ है। यह संवाद न केवल सस्वर पाठ के लिए बल्कि स्पष्टतः अभिनय के लिए भी था और इसलिए यह किसी महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक घटना का आनुष्ठानिक कीर्तिगान था। भाष्य आमतौर पर यही

बताते हैं कि पणियों ने इन्द्र की गायें चुराकर छिपा दी थीं। सरमा दूती बनकर यह माँग करने आयी थी कि वे गायें इन्द्र के अनुयायियों को यानी देवों को लौटा दी जायें। दरअसल, सूक्त में गायों की चोरी का कोई जिक्र नहीं है परन्तु गायें भेंट देने की सीधी और स्पष्ट माँग की गयी है, जिसे पणि तिरस्कारपूर्वक ठुकरा देते हैं। तब उन्हें इसके भयंकर परिणामों की चेतावनी दी जाती है। जान पड़ता है कि आक्रमण करने के लिए आर्यों का यह एक आम तरीका था। पणि नाम आर्य प्रतीत नहीं होता परन्तु इससे व्युत्पन्न कई महत्त्वपूर्ण शब्द संस्कृत में और संस्कृत से बाद की भारतीय भाषाओं में आ गये हैं। आधुनिक बनिया नाम संस्कृत के वणिक से बना है परन्तु इस वणिक के लिए पणि के अलावा अन्य कोई मूल स्रोत ज्ञात नहीं है। संस्कृत का पण शब्द सिक्के का सूचक है और क्रय-विक्रय तथा व्यापार की सामान्य वस्तुएँ पण्य कहलाती हैं। प्राचीनतम भारतीय सिक्कों के भारमान ठीक वही हैं जो कि मोहेंजोदड़ो से प्राप्त एक खास वर्ग के वजनों के हैं और ये ईरान अथवा मेसोपोटामिया में प्रचलित मानकों से भिन्न हैं। ऐसा लगता है कि कुछ सिन्धुजनों ने आर्यों की लूट-खसोट से अपने को बचा लिया और इस प्रकार व्यापार व उत्पादन की पुरानी परम्परा जारी रखी।

ऋग्वेद में स्थायी बस्ती (ईंटों से बने नगरों की बात तो बहुत रही) लिखने पढ़ने, कला तथा स्थापत्य के बारे में कोई जानकारी नहीं मिलती। यज्ञादि अवसरों का सस्वर पाठ ही उनका संगीत था। उनका शिल्प-कौशल मुख्यतः रथ औजार तथा युद्धास्त्रों के निर्माण से आगे नहीं बढ़ा था। निर्माता थे त्वष्ट देवता और उसके अनुयायी जो सभी मूलतः सिन्धु सभ्यता के जान पड़ते हैं। परन्तु अभी कबीले के भीतर वर्ण भेद या वर्ग भेद पैदा नहीं हुआ था। कारीगर अभी भी कबीले के स्वाधीन सदस्य थे उन पर जाति विशेष की मुहर नहीं लगी थी। परन्तु अगले ही चरण में जब कबीलों का विघटन होने लगा वे जातियों में बँट जाते हैं। बुनाई का काम स्त्रियाँ ही करती थीं, यद्यपि पुरुष ऋषि के सूक्त रचना के काम को भी बुनाई कहा गया है, मानो यह करघी पर बुना जानेवाला कोई नमूनेदार कपड़ा हो। पुरुषों के सामुदायिक जीवन का केन्द्र सभा थी। यह सभा शब्द कबीले की संसद और सभाभवन दोनों का ही द्योतक है। कबीलाई परिषद् के अलावा सभा पुरुषों के लिए और केवल पुरुषों के लिए विश्राम-स्थल भी थी। सभा जूए का अड्डा भी होती थी। प्राचीनतम वेद ऋग्वेद के एक कालान्तर के किन्तु प्रसिद्ध सूक्त में एक ऐसे जुआरी का उल्लेख है जो अपने इस असाध्य व्यसन में लीन है और उसे घर परिवार की तनिक भी परवाह नहीं है। कहीं कहीं रथों की दौड़ नर्तकियों तथा मुक्केबाजों के भी उल्लेख मिलते हैं। स्पष्ट है कि आर्य लोग बर्बर थे और इनकी संस्कृति तुलना में उन नागर लोगों की संस्कृति से घटिया स्तर की थी जिनको इन्होंने नष्ट किया।

४ ३ पूर्व की ओर प्रगति

कालान्तर की ऋग्वेदिक सैनिक गतिविधियाँ ऐतिहासिक जान पड़ती हैं, क्योंकि उनका श्रेय इन्द्र देवता को नहीं, बल्कि मानवों, वीरों अथवा राजाओं को दिया गया है। इस प्रकार की सबसे प्रसिद्ध घटना है—दस राजाओं के संघ पर राजा सुदास (उच्चारण सुदा) की विजय। सुदास को पैजवन यानी पिजवन का वंशज और दिवोदास का पुत्र कहा गया है। यहाँ अन्त्यपद 'दास' कुछ विचित्र लगता है। बाद की संस्कृत में दिवोदास नाम का अर्थ होगा—'स्वर्ग का सेवक', परन्तु आरम्भ में अनार्य शत्रुओं को 'दास' अथवा दस्यु कहा जाता था। उनका एक खास रंग (वर्ण जो बाद में जातिवाचक शब्द बन गया) था—कृष्ण, जो उन्हें आर्यों से अलग करता था। यह शब्द सिर्फ उनके सांवले रंग का सूचक है, जब कि नवागत आर्य कुछ उजले रंग के थे। कई सारी विजयों के बाद ही 'दास' का अर्थ गुलाम (इसके समानार्थी अंग्रेजी शब्द स्लेव तथा 'हेलट' भी आरम्भ में मानवजातीय वर्गों के नाम थे) शूद्र जाति का और सेवक हो गया, और 'दस्यु' शब्द का अर्थ हो गया—'लुटेरा' या 'डाकू'। आरम्भकाल में ही एक आर्य राजा के नाम के साथ 'दास' शब्द का जुड़ जाना यह सूचित करता है कि १५०० ई० पू० के तुरन्त बाद ही आर्यों और अनार्यों में कुछ मेल मिलाप हो चुका था। पता चलता है कि सुदास भरत जन के या सम्भवतः भरतों की एक विशिष्ट शाखा त्रित्सु के मुखिया थे। आज हमारे देश का जो भारत नाम है उसका अर्थ है 'भरतों का देश'। भरत निश्चय ही आर्य थे। परन्तु आरम्भिक आर्यों के लिए जातीय शुद्धता कोई अर्थ नहीं रखती थी। यहाँ के आदिवासी तत्त्वों को ग्रहण करना उनके लिए सहज सम्भव था, और उन्होंने इन्हें ग्रहण भी किया।

ऋग्वेद में सुदास के विरोधियों के भी नाम दिए गए हैं। उस समय, और बाद में भी बहुत समय तक, कबीले और उसके मुखिया का नाम एक ही होता था, विशेषतः बाहरवालों के लिए। यहाँ शत्रुओं के दस से अधिक नाम हैं। यह भी निश्चित है कि इन दस में से कुछ आर्य कबीले थे। पक्थ के बारे में कहा जाता है कि इसका सम्बन्ध आजकल के पाकिस्तान और अफगानिस्तान के पख्तून अथवा पठान से है। ये लोग पश्तो बोलते हैं जो एक इंडो-ईरानी भाषा है। इन लोगों का ऋग्वेदिक मूल सम्भव जान पड़ता है, क्योंकि हिरोदोतस ने भी 'पक्त्यन' नाम के एक भारतीय कबीले का उल्लेख किया है। अलिन का अर्थ भ्रमर है और मत्स्य का मछली और ये दोनों ही आरम्भिक टोटेम (गणचिह्न) नाम हैं। अलिनों के बारे में हमें कोई जानकारी नहीं मिलती, पर मत्स्य कबीले के लोग ऐतिहासिक युगों में आधुनिक भरतपुर के पास, ऋग्वेदिक रणक्षेत्र के काफी पूर्व में बसे हुए थे। वैयाकरण पतंजलि जिन्होंने ईसा पूर्व दूसरी शताब्दी में उत्तरी-पश्चिमी पंजाब में अपने ग्रन्थ की रचना की थी, उदाहरणस्वरूप प्राच्य भरत

को एक अनार्यवाचक पद मानते हैं क्योंकि पूरु के अलावा भरत और कहीं नहीं हैं। सामान्यत, इन तथा अन्य उद्धरणों से आर्यों के प्राच्य गमन के बारे में स्पष्ट जानकारी मिल जाती है। सुदास के दस शत्रुओं में एक शिग्रु भी थे। शिग्रु शब्द का अर्थ होता है सहिजन अथवा शोभांजन का पेड़ ('मोरिंगा टेरिगोस्पर्मा' परन्तु कुछ लोगों के अनुसार यह सवगा का पेड़ है)। मथुरा से प्राप्त एक कुषाण लेख में इस नाम के एक ब्राह्मण गोत्र का उल्लेख है परन्तु वर्तमान गोत्र-सूचियों में यह कहीं ढूँढने को नहीं मिलता। इसमें कोई सन्देह नहीं कि कबीलों के ये नाम टोटेमिक स्वरूप के हैं। परन्तु सबसे आश्चर्य की बात यह है कि सुदास के शत्रुओं में भृगु भी थे जो उस समय स्पष्टतः एक कबीले का नाम था। भाषाशास्त्र की दृष्टि से यह शब्द फ्रिजिअन (एशिया माइनर के फ्रिजिया देश के निवासी) से सम्बन्धित है। एक अन्य स्थान पर भृगुओं द्वारा इन्द्र के लिए बनाये गये एक रथ की विशेष प्रशंसा की गयी है। परन्तु पुरातन संस्कृत के युग से लेकर आज तक इस नाम की यदि कोई स्मृति शेष है तो वह है एक बहिर्विवाही ब्राह्मण गोत्र-समूह जो आज भी शक्तिशाली और महत्त्वपूर्ण है। ब्राह्मण वर्ग में इनका समावेश बाद में हुआ परन्तु ये सभी से आगे निकल गये।

दस राजाओं के (दाशराज्ञ) युद्ध का कारण यह था कि इन दस ने परुष्णी नदी को मोड़ने का प्रयत्न किया था। आजकल की रावी नदी का एक भाग परुष्णी कहलाता था। परन्तु रावी ने अनेक बार अपना पाट बदला है। सिन्धु नदी समूह के पानी के दिशा-परिवर्तन को लेकर भारत और पाकिस्तान के बीच आज भी काफी बड़ा विवाद चल रहा है। 'चाटुकार' पुरु यद्यपि सुदास के शत्रु थे, परन्तु वे आर्य थे और भरतों के निकट सम्बन्धी भी थे। बाद की परम्परा में तो भरत पुरुओं की एक शाखा के रूप में ही प्रकट होते हैं। ऋग्वेद के विभिन्न सूक्तों में वही कुल-पुरोहित निष्पक्ष भाव से पुरुओं को शाप भी देता है और आशीर्वाद भी जिससे पता चलता है कि उनके और भरतों के बीच का मनमुटाव स्थायी नहीं था। इनके बीच का झगड़ा आर्यों और अनार्यों के बीच के झगड़े से भिन्न प्रकार का था। पुरु हड़प्पा क्षेत्र में बसे रहे और बाद में उन्होंने अपना शासन पंजाब तक फैलाया। इन्हीं पुरुओं से ३२७ ई० पू० में सिकन्दर का सबसे कड़ा मुकाबला हुआ था। आधुनिक पंजाबी कुलनाम 'पुरी' की उत्पत्ति सम्भवतः पुरु नामक कबीले से ही हुई है।

दस राजाओं पर विजय का गुणगान करनेवाले पुरोहित ऋषि का कुलनाम वसिष्ठ (सर्वश्रेष्ठ) है। यह नाम परम्परागत सात प्रमुख बहिर्विवाही ब्राह्मण समूहों में से एक है। मूल पुरोहित कुशिक (उल्लू) गोत्र के विश्वामित्र थे। ऋग्वेद में पुरोहित का कार्य अभी किसी जाति विशेष से जुड़ा नहीं था। दरअसल इस प्राचीनतम वेद में जाति भेद यदि कहीं दिखायी देता है, तो वह है गौरवर्ण आर्यों

मे और कृष्णवर्ण अनार्यों मे। जैसाकि प्राचीन यूनान और रोम मे भी होता था परिवार कुल अथवा कबीले की उपासना विधियो की जिम्मेदारी किसी पुरुष को सौंपी जाती थी। कबीले द्वारा ऐसे पुरुष का नियोजन वरिष्ठता, चुनाव अथवा प्रथा के अनुसार होता था। यद्यपि वेदो मे यज्ञ मे भाग लेनेवाले पुरोहितो के विशिष्ट पदो की सूची मिलती है, परन्तु पुरोहित-पद पर ब्राह्मण जाति का एकाधिकार होने के बारे म कोई जानकारी नही है। लेकिन वसिष्ठ एक नये प्रकार के पुरोहित थे। वह दो वदिक दवता मित्र और वरुण—जो किसी समय क्रमश सूय और आकाश के दवता थे—के बीज से पैदा हुए थे। उनकी मा का कोई उल्लेख नही है। इसके विपरीत, ऋग्वेद की उसी एक ऋचा में कहा गया कि, वसिष्ठ उवशी (अप्सरा अथवा जलदेवी) के मन स उत्पन्न हुए (उवश्या मनसो धिजात) ऐसे कुम्भ से भी पैदा हुए जिसमे दोनो देवताओ क वीय का समागम हुआ, और उन्हे द्युति मे आवत एक पुष्कर म खोजा गया। सतही तौर पर उलझा प्रतीत होनेवाला यह विवरण वस्तुत काफी स्पष्ट और सुसगत है। इसका अथ यह है कि वसिष्ठ किसी आय पूव मातदवी के मानवीय प्रतिनिधियो की सन्तान थे, और इसलिए उनके कोई पिता नही थे। पितसत्तात्मक आर्यों मे शामिल होने के लिए जहाँ एक ओर किसी सम्मान्य पिता की आवश्यकता थी वहाँ दूसरी ओर अनाय माता को नकारना भी जरूरी था। आज भी मौजूद एक अन्य प्रमुख ब्राह्मण गोत्र-समूह के सस्थापक अगस्त्य भी इसी प्रकार एक कुम्भ से पदा हुए थे। कुम्भ का अथ है गर्भाशय और इस प्रकार यह मातदेवी का प्रतीक है। इन सात प्रमुख कुल पुरुषो का मानो सप्त ऋषियो का, समय प्राचीन सुमेरी अथवा सिन्धु सभ्यता के युग तक पीछे जा सकता है। ब्राह्मण धमग्रन्थो म इनके नामो की जो सूचियाँ हैं उनम कोई ताल मेल नही है। आठवें ऋषि विश्वामित्र ही सही माने में आय थे। ऐसे कुम्भजात ऋषियो का आर्यों के उच्च पुरोहित वग मे समाविष्ट कर लेना एक मौलिक नवाचार था। आर्यों और आदिवासियो के इस नय सयोग से विशेषज्ञो का एक ऐसा वग—ब्राह्मण वण—विकसित हुआ जो बाद म समस्त आय कमकाण्ड के एकाधिकार का दावेदार बन गया। आज जितने भी प्राचीन धमग्रन्थ प्राप्त हैं, वे इसी वग न सुरक्षित रख इसी वग द्वारा पुन लिखे गये और इसलिए इनमे ब्राह्मणो का महत्त्व बढ़ा चढ़ाकर बताया गया है। फिर भी, इन्होने एक काय अवश्य किया जिसके महत्त्व पर बहुत ही कम ध्यान दिया जाता है इन्होने एक दूसरे के शत्रु बन हुए समूहो को साथ ही उनकी बहुत-सारी नयी उपासना विधियो को भी सवसामान्य देवताओ की उपासना करनेवाले एक समाज म सम्मिलित किया।

ऋग्वेद से ही जानकारी मिलती है कि ब्राह्मण पुरोहितो का एक ऐसा नया पेशा अकुरित हो रहा था जो आवश्यकता पडने पर एक से अधिक स्वामी की

सवा करने के लिए तत्पर रहता था, फिर वह स्वामी आय हो या अय काई। ऋषि वश अश्य दास राजा बलबूथ और तरक्ष को धयवाद देता है, और विविध प्रकार के दान के लिए, जिसम सौ ऊँट भी थे, उनके कबीलो को आशीर्वाद दता है। प्राचीन भारतीय परम्परा म ऊट के उल्लेख बहुत कम मिलत हैं और भारत के बाहर भी लगभग १२०० ई० पू० तक इसे पालतू नही बनाया गया था। और, मोट तौर पर इस सूक्त का रचना-काल भी यही है। बलबूथ और तरक्ष नामा मे आय ध्वनि नही है और य अयत्र भी सस्कृत ग्रथो म देखने को नही मिलत। इस सबसे यह भी ध्वनित होना है कि वेदा म उल्लिखित कुछ असुर-दानव ऐतिहासिक असीरी रहे हाग जिनम से राजा तिगलथ पिलेसर (ततीय) न हेलमन्द नदी तक आय प्रदेश पर आक्रमण करके विजय प्राप्त की थी। एक अय सूक्त का रचयिता आर्य ऋषि पणियो के मुखिया बबु' को उसके आश्रय के लिए आशीर्वाद देता है।

पूव की ओर बढनेवाले आय उन आर्यों से भिन्न थे जिन्होंने पहली बार भारत पर आक्रमण किया था। अब अतिरिक्त श्रम के लिए एक नये प्रकार के आदिवासी भत्य, दास, उपलब्ध थे। नये और पुराने के आय पूव और आर्यों के मेल से एक अनिविशिष्ट पुरोहित वग अस्तित्व म आ गया था। इस युग के बारे म अभी तक हम कोई पुरातात्त्विक जानकारी नहा मिली है। सूक्ता की जानकारी स जिस एक भौतिक वस्तु का चित्र सुस्पष्ट होता है वह है रथ। परन्तु यह आशा रखना व्यथ है कि किसी दिन खुदाई मे हमे वदिक रथ मिल जायेगा। आर्यों के कोई विशिष्ट मृत्भाण्ड नही थे यद्यपि उत्तरी (चित्रित) धूसर भाण्ड जल्दी हा यह स्थान ग्रहण कर लते हैं। पुरातत्ववेत्ताओ का ईसा पूव दूसरी सहस्राब्दी के अन्त समय तक का आर्यों अथवा इदो-आर्यों का कोई शिल्प भी नही मिला है। यह अनुमान उचित ही है कि कुछ विचित्र वदिक देवता जिनके बारे मे अयत्र काई जानकारी नही मिलती आयपूव लोगा से अपनाये गय है। जस अरुणोदय का दवी उपस, इन्द्र के हथियारा को बनानेवाला शिल्पी देवता त्वष्ट और नातिविश्रुत दवता विष्णु जिसको बाद म जाकर भारत मे बनी प्रसिद्धि मिली फिर उसका अतीत चाहे जो रहा हो। इनम से उपस के साथ व्यास नदी के तट पर इन्द्र की भिडन्त की घटना प्रसिद्ध है जिसम उपस की बलगाडी चकनाचूर हो गयी और वह भाग गयी। बाद म इन्द्र और त्रित नामक वीर ने मिलकर त्वष्ट के पुत्र त्वाष्ट को जो तीन सिरावाला असुर ऋषि था और जिसका नाम बहुत-कुछ अपने पिता-जसा ही था मार डाला। जिस सूक्त म इस हत्या का वणन है उसके रचयिता वही त्वाष्ट्र माने जाते हैं जिनका सिर काटा गया था। इसका अथ यह है कि उपस की भाति त्वाष्ट का भी विनाश सम्भव नही था। उसके तीनो सिर पक्षी बन गये जिनम स कम से-कम दो

नात ब्राह्मण गोत्र के टोटेम हैं। इसके अलावा, उपनिषदों के उपदेष्टाओं की परम्परा में त्वाष्ट्र का स्पष्ट रूप से ऊँचा स्थान है। इन देवकथाओं के अधिक गहन विश्लेषण में जाने से हम मूल समस्या से दूर भटक जायेंगे, हालांकि एक ईरानी आख्यान में भी तीन सिरोंवाले दानव के वध का वर्णन है, और उसमें का सम्बन्ध यूनानी इओस से है। परन्तु ब्राह्मणों की कम-से-कम इतनी देन तो है ही कि उन्होंने वेदों में ही इन्द्र के शत्रुओं और उनके द्वारा पूजित मूलतः विरोधी देवताओं के साथ कुछ बन्धुता स्वीकार की।

४ ४ ऋग्वेदोत्तर आर्य

सभी आर्य पूर्व की ओर नहीं बढे और न ही उनकी अग्रगति एकसमान थी। यह इतनी सरल बात नहीं थी कि और अधिक आर्य भारत में पहुँचते रहे और पहले के आर्यों को आगे ढकेलते गये। पुरु जन ईसा पूर्व चौथी सदी के अंत समय तक पंजाब में टिके रहे, यद्यपि उन्होंने भी दूर के प्रदेशों में अपनी शाखाएँ भेजकर उपनिवेश स्थापित करने पड़े क्योंकि उनके मूल प्रदेश में बहुत अधिक पशुचारी लोगों का भरण-पोषण नहीं हो सकता था। रेगिस्तान के कारण दक्षिण की ओर विस्तार सम्भव नहीं था। पूर्व की ओर यमुना के समीप अधिकाधिक घने जंगल थे, इन्हें जब तक लोहे के औजारों से साफ नहीं किया जाता तब तक कोई लाभ नहीं था। आगे बढ़ने के दो ही मार्ग थे, एक, पंजाब और गंगा की घाटी के बीच के निम्न जलविभाजक पर सकरी पट्टी, और दूसरा हिमालय की तराई के किनारे-किनारे जहाँ उथली भूमि को आग से भली भाँति साफ किया जा सकता था। तांबा राजस्थान की खानों में उपलब्ध था, परन्तु लौह अयस्क, कम-से-कम ऐसे बढ़िया लौह अयस्क जो लाभदायक सिद्ध हों, काफी दूर थे। केवल धातु और धातुकर्म का ज्ञान पर्याप्त नहीं था, मुख्य समस्या थी खनिज भण्डारों तक पहुँचने की। इसलिए आर्य कबीलों को छोटी-छोटी टुकड़ियों में विभक्त होना पड़ा, परन्तु इनमें से अधिकांश टुकड़ियों के बारे में हमें कोई जानकारी नहीं मिलती, यहाँ तक कि इनके नाम भी हम मालूम नहीं। यूनानी अथवा भारतीय ग्रन्थों में इनमें से कुछ के केवल उल्लेख मात्र मिलते हैं।

यजुर्वेद की जानकारी से १००० ८०० ई० पू० के काल के बारे में कुछ निष्कर्ष निकालने में हमें मदद मिलती है। इसी वेद से सम्बद्ध शतपथ ब्राह्मण इस जानकारी को ६०० ई० पू० तक आगे बढ़ाता है। कोई निश्चित तिथि ज्ञात नहीं है, समाज और कबीलों की अन्तहीन विविधता के बारे में हम केवल अनुमान ही लगा सकते हैं। सिकन्दर के समय तक पंजाब के कुछ कबीलों में यह प्रथा थी कि वे आवश्यकतानुसार घर-घर में अनाज का वितरण करते थे और अतिरिक्त अनाज का व्यापार विनिमय में इस्तेमाल करने की बजाय उसे जला डालते थे। दूसरे कुछ कबीले सम्पन्न बन गये आक्रामक राज्यों में बदल गये।

ईसा की सातवा सदी के प्रारम्भ मे चीनी यात्री युवान च्वाड को यह देखकर बडी हैरानी हुई कि निम्न मध्य सिंधु प्रदेश की काफी बडी आबादी अभी तक पशुचारी अवस्था म है और उनम यूथ विवाह की अशिष्ट कबीलाई प्रथा मौजूद है। ये लोग सम्भवत वेदोत्तर अभीरो के वशज थे, परन्तु इस उदाहरण स कम से कम इतना ता प्रमाणित होता ही है कि आय जीवन के रीति रिवाज कुछ खास प्रदेशो मे ऐतिहासिक मध्ययुग तक जीवन्त रहे। किसी भी एक काल को लेकर सम्पूण दश के बारे म कोई सवसामान्य बात कहना सम्भव नही है। अधिक से-अधिक हम उन मूलभूत परिवतनो की ही खोजबीन कर सकत हैं जिनका अन्तत सारे दश मे फलाव हुआ।

यजुर्वेदिक समाज तथा इसके कमकाण्ड का आधार पशुचारी जीवन था, यह बात एक सरसरी नजर डालने से ही स्पष्ट हो जाती है। फिर भी, एक सूक्त स जो ऋग्वेद के प्राचीनतम ढांचे के अनुरूप नही है (और जिसका आज भी पठन होता है) पता चलता है कि कृषि और धातुओ का महत्त्व बढता जा रहा था। सूक्त है मेरे लिए दूध रस घत मधु सहभोजन और सहपान (सग्धि और सपिति) कषण वर्षा जय विजय धन-सम्पत्ति समद्धि घटिया जौ (कुयव) का आहार भख से मुक्ति चावल यव तिल मोठ मूग गेहू मसूर ज्वार बाजरा और जगली धान की (यज्ञ से वद्धि) हो। मेरे लिए पत्थर मिटटी गिरि पवत बालू वक्ष स्वण कास्य सीसा, वग लोहा ताँबा अग्नि, जल कन्दमूल पौधे जुती भूमि की उपज अनजुती भूमि की उपज पालतू और जगली मवेशी सबकी यज्ञ द्वारा वद्धि हो। यह सूक्त ८०० ई० पू० के आसपास का है और इससे पता चलता है कि लौहयुग के आय अब उत्पादन की नयी नयी समस्याओ का सामना कर रह थे जब कि ऋग्वेदिक कास्य युग के इनके पूवज एक समद्धतर सभ्यता की लूट स सन्तुष्ट होने के बाद ही नय चरागाहो की खोज म जुट गय थे।

अब सिंधु सभ्यता के क्षेत्र के पूर्वी भाग म और उसके परे रहनेवाले लोगो का भविष्य उज्ज्वल था। यमुना नदी से ५० मील दूर तक के प्रदेश म पहुँचने मे आर्यों का कोई विशेष कठिनाई नही थी। इस प्रदेश के विरल जगल को आग लगाकर साफ किया जा सकता था। परन्तु आग से साफ की गयी भमि को आबाद करने के लिए जसा सामाजिक सगठन जरूरी था वह साधारण कबीले के स्तर स आगे बढ चुका था। सबसे निम्न जाति—कबीले मे अब जाति भद पदा हो गया था—अब शूद्र कहलाती थी सम्भवत किसी कबीले के नाम पर (जसे निम्न सिंधु प्रदेश म सिकन्दर के विरुद्ध लडनेवाला औक्सीद्रकोई कबीला)। कबीले के मवेशियो की भाति य शूद्र-दास भी कबीले अथवा कुल समूह की सामूहिक सम्पत्ति होत थे। इन दासो को तीन उच्च वर्णों की तरह कबीले की सदस्यता के अधिकार प्राप्त नही थे। तीन उच्च वर्णों को ही सही

माने म आय और कबीले के पूण सदस्य माना जाता था। य तीन वण हैं क्षत्रिय (योद्धा और शासक), ब्राह्मण (पुरोहित), और वश्य (कृषि और पशु-पालन द्वारा समूचा अतिरिक्त अनाज पदा करनेवाला अधिवासी)। 'वण' श द का अथ हो गया—इन चार वग-जातियो म से कोई भी एक। इन जातिया की वगव्यवस्था उन कबीला म अस्तित्व म आयी जिनमे सम्पत्ति धारण की सीमा विस्तृत हो चुकी था और जो काफी बड़े पैमाने पर व्यापार विनिमय म भाग लेते थे। परन्तु यह बात प्रत्यक आय कबीले के बारे मे सही नही थी। बहुत स कबीलो म अभी कोई वग भेद पदा नही हुआ था और कुछ मे केवल आय शूद्र का ही भद था। यदि प्राचीन यूनान और रोम की तरह शूद्र को खरीदा या बेचा नही जाता था तो इसका कारण यह नही था कि भारतीय आर्यो के मन म उनके प्रति कोई दयाभाव था। इसका स्पष्ट कारण यही था कि अभी माल उत्पादन और व्यक्तिगत सम्पत्ति का पर्याप्त विकास नही हुआ था। मवेशी एक प्रकार स गिरोह की सामूहिक सम्पत्ति होत थ यह बात सहज ही प्रमाणित हो जाती है। गोत्र शब्द का अथ है 'गोष्ठ यानी गाया का बाडा, और इसका अथ बहिर्विवाही कुल भी है। पता चलता है कि एक गोत्र की गाया को दूसरे गोत्रा की गाया से अलग पहचानन के लिए उनके बदन या कान पर विशेष चिह्न दाग जाते थे। जिस सामाजिक इकाई की जसी सम्पत्ति होती थी वसा ही उस नाम मिल गया, और बाद के धमसूत्रो म यह नियम ही है कि यदि किसी मत व्यक्ति का कोई निकटस्थ उत्तराधिकारी न हो तो उसकी सम्पत्ति पर गोत्र का अधिकार हो जाता है।

कालान्तर के भारतीय समाज पर शूद्र जाति का बडा विचित्र प्रभाव पडा। भारत म उत्पादन के जस साधन और सम्बन्ध थे उनम प्राचीन यूरोप जसी (विशेषत यूनानी रोमन पद्धति की) चलसम्पत्तिमूलक दासप्रथा का कोई बढावा या महत्त्व नही मिला। हरण करने योग्य अतिरिक्त अनाज शूद्र हमशा ही पदा करत रह। जाति प्रथा के विकास से एक ऐसे सामान्य वग-समाज का पूर्वाभास मिलता था जो कबीले की अलगाववाली अवस्था से आगे बढ गया हो। कुछ ब्राह्मण एक स अधिक कुलो अथवा कबीला की पुरोहिती करने लग गय थे, जिसका अथ यह था कि कई समूहा के बीच किसी-न किसी प्रकार के सम्बन्ध बनते जा रहे थ। आर्थिक पैमाने के दूसरे छोर पर कुछ ब्राह्मण छोट छोटे समूहो म और अपने मवेशियो को साथ लकर पूव के घने जगलो की ओर आगे बढ रह थे—कभी कभी अकेले हा सम्पत्ति और रक्षा अथवा शिकार के हथियारा के बिना ही। जाहिर है कि ये किसी को भी हानि नही पहुँचा सकत थ, और इनका विशष महत्त्व इस बात म था कि इन्होने जगलो मे रहनेवाले अन्न संग्राहक वदर नागा स समझौता कर लिया अक्सर उनम शामिल हो गय या उनके साथ

मनोभाव से रहे। इनकी दरिद्रता और प्रकट रूप से अहिंसक वृत्ति ही इनकी एकमात्र रक्षक थी। दूसरी ओर, आवश्यकता पडने पर व्यापारी अपने साथ शस्त्रधारी क्षत्रियो को ले जाते थे जो आदिवासियो (निषादो) से उनकी रक्षा करते थे। ये क्षत्रिय धीरे धीरे ऐसे वैतनिक सनिक-समूह बन गये जो भाडे पर किसी के लिए भी लडने को तैयार रहते थे।

धमग्रन्थो मे यज्ञों मे होनेवाले प्राणीवध के बारे मे प्रचुर जानकारी मिलती है। ऐसे सामूहिक यज्ञकम अग्नि के अलावा अय वैदिक देवताओ के लिए भी, यद्यपि पवित्र अग्नि के सामने ही, आयोजित किये जाते थे। यज्ञ-अनुष्ठान की अवधि तथा जटिलता निरन्तर बढती गयी। यज्ञो में इतनी सख्या मे और इतने प्रकार के प्राणियो का वध होता था कि आज हमे यकीन करने मे कठिनाई होती है। बलि योग्य श्रेष्ठतम 'पशु थे—मनुष्य बैल और अश्व, परन्तु, जसी कि यजुर्वेद तथा ब्राह्मण ग्रन्थो से जानकारी मिलती है, यज्ञो मे प्राय हर प्रकार के पशु एव पक्षी का वध होता था। असीम आनुष्ठानिक वध का यह अतिबीभत्स व्यवसाय यह प्रमाणित करता है कि समाज के जीवन निर्वाह के साधन नि शेष होने लगे थे। ऊपर उल्लिखित सूक्त से पता चलता है कि मवेशी खाद्य और समृद्धि-लाभ ही यज्ञ का मुख्य उद्देश्य था। साथ ही यह सब दूसरो पर आक्रमण करके भी प्राप्त किया जा सकता था। युद्ध में विजय के लिए आमतौर पर युद्ध नेता की सफलता के लिए ये यज्ञ अत्यावश्यक समझे जाते थे। उदाहरणार्थ, अश्वमध यज्ञ का अथ आर्यों की अथव्यवस्था के एक महत्त्वपूण पशु को मारना और उसे खाना मात्र नही था। पटरानी को वध्य अश्व के साथ सम्मिलित होना पडता था जो एक बीभत्स प्रजनन अनुष्ठान था सम्भवत पूवकाल के किसी ऐसे अनुष्ठान का बदला रूप जिसमे राजा अथवा उसके प्रतिनिधि की बलि दी जाती थी। वध के पहले अश्व को साल भर चाहे जिधर घूमने के लिए खुला छोड दिया जाता था। यदि किसी अय कबीले के लोग ऐसे अश्व को रोकते तो इसे युद्ध की चुनौती समझा जाता था। निरन्तर के इन युद्धो और यज्ञों से ब्राह्मणो की यज्ञीय दक्षिणा मे वद्धि हुई और क्षत्रिय व्यस्त रहने लगे। परन्तु यज्ञ का एक अधिक गहरा और स्वीकृत सामाजिक प्रयोजन भी था। ब्राह्मण-ग्रन्थ साफ-साफ कहते हैं 'वश्य की तरह दूसरा को कर देनेवाला दूसरा द्वारा भक्षणीय दूसरा द्वारा दमनीय । शूद्र की तरह दूसरा का दास, इच्छानुसार निकाल बाहर करने योग्य इच्छानुसार वध करने योग्य। इन दोना वर्णों को जो प्रधान उत्पादक थे आज्ञाकारी बनाने के लिए सम्पूण कबीले की यज्ञीय यात्रा के अवसर पर दो उच्च वर्णों के बीच म घेरा जाता था। इसे देखते हुए जाति व्यवस्था क बुनियादी वग-स्वरूप के बारे मे सन्देह की कोई गुजाइश नही रह जाती यद्यपि यह वग-व्यवस्था अभी उत्पादन की आदिम अवस्था म ही थी।

पहले-पहल जिन करो के बारे म जानकारी मिलती है, वे 'बलि' कह
क्योकि यह ऐसी भेंट थी जो कुल अथवा कबीले के लोगो द्वारा यज्ञ के अवस
मुखिया को दी जाती थी। केवल इसी सक्राति काल मे एक ऐसे विशिष्ट अधि
क बारे मे जानकारी मिलती है जो भाग-दुघ (राजा का अनुभाजक) कहलाता
था। उसका काम था—राजा के निकट अनुयायियो के बीच बलि भेंट का समुचित
बँटवारा करना, और सम्भवत करो को भी निर्धारित करना।

अभी नगर कहलाने लायक बस्तिया बहुत ही कम थी। सकट के समय कबीले
या कुल के सारे लोग उस लकडकोट के भीतर जमा हो जाते थे जहाँ सामान्यत
मुखिया रहता था। धातुओ की कमी और पजाब की नदियो के निरन्तर पाट-
परिवर्तन के कारण बडी या स्थायी बस्तियाँ बसाने मे कठिनाइया थी। सबसे
छोटी इकाई ग्राम कहलाती थी। बाद मे इस शब्द का अर्थ 'गाव' हो गया, परन्तु
इस समय यह शब्द केवल ऐसे सगोत्र-समूह (सजात) का सूचक था जो अपने
मवेशियो तथा शूद्रो के साथ अक्सर ही स्थान बदलता रहता था। ग्राम का
नतृत्व करनेवाला व्यक्ति ग्रामणी कहलाता था, जो मुखिया के प्रति उत्तरदायी
कबीले का एक अधिकारी होता था। ग्रीष्मकाल म यह ग्राम अपन मनुष्यो और
पशुओ को पानी के समीप किसी अच्छे चरागाह मे ले जाता था। वर्षाकाल मे ये
लाग किसी ऐसी ऊँची भूमि मे डेरा डालते थे जहाँ सामान्यत बाढ नही पहुच
सकती थी, यहाँ ये लोग कुछ अनाज पदा करत थे। अभियान के दौरान दो
ग्राम यदि वे एक ही कबीले के हो तो भी मिलते तो उनमे कोई-न-कोई बखेडा
अवश्य खडा हो जाता। इसकी जानकारी हमें नय शब्द सग्राम से मिलती है
जिसका अक्षरश अर्थ होता है 'ग्रामो का मिलन' परन्तु सस्कृत मे इस शब्द का
अर्थ हो गया युद्ध'। कबीलाई राज्य (राष्ट्र) के ये विविध ग्राम सामूहिक यज्ञ
के अवसरों पर अथवा किसी सामान्य शत्रु का मुकाबला करने के लिए ही एकत्र
होत थे। इन लोगों का राजा एक ऐसा व्यक्ति होता था जो कबीले के बहुत
सारे कुलस्वामियो का मुखिया होता था। राजा का यह पद बारी बारी से अथवा
निर्वाचन से भी मिलता था और वशानुगत विशषाधिकारो से भी। राजन्य
(राज्य करने योग्य) शब्द का राजकुमार राजा और आमतौर पर हर क्षत्रिय
के लिए समान रूप से इस्तेमाल होता था। कबीले की प्रथाओ और नियमो ने
राजा के विशेषाधिकारो को बहुत सीमित बना दिया था। लकिन निरन्तर के
युद्धो के कारण य अधिकार बढते गय और राजपद को एक परिवार म सीमित
रखने की प्रवृत्ति भी बढती गयी। आन्तरिक शान्ति बनाय रखने के लिए सम्भाव्य
प्रतिद्वन्द्वियो का, चाहे वे राजकुमार हो भूतपूर्व राजा हो अथवा शक्तिशाली
कुलस्वामी हों अक्सर ही दमन करना अथवा उन्हें निष्कासित (अपरुद्ध) कर
देना जरूरी हो गया। जबदस्ती के ऐसे निष्कासन से, जो प्राचीन अथेन्स के

देशनिष्कासन जसा ही था, षडयन्त्र और कुचक्र बढने लगे और कबीले के बधन और अधिक ढीले होन लगे। वग-व्यवस्था पर आधारित एक नियमित राजतत्र जो कबीलाई एकता की प्रमुख प्ररक शक्ति स सवथा मुक्त था, अब जल्दी ही अस्तित्व मे आनेवाला था।

४ ५ नगरीय पुनरुत्थान

ऊपर जिस समाज का वणन किया गया है उस सभ्य कहना कठिन है। ब्राह्मण परम्परा वदो को आज भी समस्त भारतीय वाङमय म श्रेष्ठतम मानता है। परन्तु वदो के बारे मे वस्तुस्थिति सचमुच यही होती तो फिर भारतीय सस्कृति के बारे म कुछ लिखने लायक रह ही नही जाता। उच्चतर सस्कृति के विकास के लिए एक ऐसे सामाजिक जीवन की आवश्यकता थी जो वदिक समाज की न्यूनताओ और अन्तहीन कलहो से रहित हो। यज्ञ बलियो के असह्य अतिरेक ने तथा इन बलियो के समथक समाज-दशन ने वदिक समाज को सीमान्त तक पहुचा दिया था। नय समाज की मुख्य कथा अगले अध्याय का विषय है, परन्तु यहा हम उसकी पूवपीठिका पर कुछ विचार कर ही सकते है। एक नय उत्थान के रूप म उत्तर भारत म नगरीय जीवन की शुरुआत ईसा पूव प्रथम सहस्राब्दी के प्रथम चरण म हुई। लगभग ७०० ई० पू० से आग के सूक्ष्मता स तौले गय चाँदी के सिक्को से जिस प्रकार की नगरीय दिनचर्या व्यापार और व्यवस्थित हिसाब किताब का अस्तित्व सम्भव प्रतीत होता है वह साक्षरता के बिना सम्भव नही था। परन्तु यह अभी तक निर्धारित नही हो पाया है कि उस समय ठीक कौन-सी लिपि प्रचलित थी और उसका किस हद तक इस्तेमाल होता था। यह निश्चित है कि पजाब के अधिकाश क्षेत्र म बसे हुए आय कबील अनपढ थे परन्तु यह एक सबल अनुमान है कि कुछ बाद की ब्राह्मी लिपि कम स कम इसके प्राथमिक रूप म नय नगरो म ज्ञात थी। बाकी के लिए जस बुद्ध न एक गहस्थ के पुत्र को राजगह-जसे नगर मे शिष्ट आचरण करने के बार म समझाया तो यह ध्यान मे रखना जरूरी है कि ई० पू० सातवी सदी म सही माने म दो स अधिक बडे नगरो का अस्तित्व सम्भव नही था। शेष सब ऐस कस्ब थे जिनमे सभी लोग एक-दूसरे को जानते थे अथवा ऐसे गाँव थे जिनमे मटरगश्ती के लिए शायद ही कोई सडक हो। जो अब सामान्य नागरिक जान पडता है वह उस समाज के लिए एक नयी बात थी जिसन सामाजिक जीवन के मुख्य केन्द्र के रूप म सभा (पुरुषो का मिलन स्थल) का त्यागकर अभी 'सथागार (प्रतिनिधि सभा) को नही अपनाया था।

हड़प्पा (जो विजय के बाद कुछ समय तक आबाद रहा) और मोहेंजोदडो (जो हमले के बाद ही हमेशा के लिए खडहर बन गया) के अतिम विनाश के बाद जो नगर अस्तित्व म आय वे सिंधु प्रदेश की पूर्वी सीमा पर और उसके परे

थे। निश्चय ही य अभी छाटे पैमाने के नगर थे। परन्तु इन नगरो के कारण खेती पर पशुचारी व्यवस्था की अपेक्षा कही अधिक बाझ पडा, और पशुचारी व्यवस्था का अब भी महत्त्व था। यजुर्वेद म ही बारह बैला की जाडियो म खीचे जानवाल हला क बारे म जानकारी मिलती है। ऐसे हला का इस्तमाल आज भी होता है, गहरे कूड बनान और भारी मिट्टी को उलटने के लिए य अत्यावश्यक हैं, अन्यथा भूमि से बढिया फसल नही मिलेगी और वह अपनी उर्वरता खो देगी। मजबूत हल तो वास के औजारा स लकडी को छीलकर बनाया जा सकता था, परन्तु पजाब की, विशेषत जलविभाजक के समीप की पथरीली जमीन की जुताई के लिए लोहे के फाल की ही जरूरत थी। यह लोहा कहाँ स आया? तलवारा और अन्य औजारो के लिए, जा अभी भी काँसे के बनते थ अधिकाधिक मात्रा म जिस ताँबे की आवश्यकता थी उसके क्या नय स्रोत नही थ?

ये धातुएँ यथेष्ट मात्रा म ८०० ई० पू० क आसपास से पूर्व की ओर स मिलने लगी। भारत म लाहे और ताँबे की कच्ची धातु क सर्वोत्तम भण्डार गगा की घाटी के पूर्व म दक्षिण पूर्व विहार (ढालभूम मानभूम और सिंहभूम जिला) म हैं। परन्तु इस प्रदेश म आज भी घने जगल हैं और वर्षा अधिक होती है, और इन जगलो को साफ करने पर भी यहा कृषि उतनी लाभप्रद नही होगी जितनी कि गगा की खास घाटी म हाती है। यही कारण है कि, समीप ही धमन भट्टिया और धातु के कारखाने हाने पर भी आज तक यहाँ काफी हद तक आदिम कबीलाई जीवन का अस्तित्व है। हम जानते हैं कि इस प्रदेश के ताबे को निकाला गया था। ताम्र अयस्क के भण्डारा के समीप ही धातु-कचरे क और अवशिष्ट राख के अनात-कालीन ढेर मिले हैं और लगभग १००० ई० पू० की ताम्रनिधियाँ तो गगा क पूरे मैदान म ही मिली हैं। इन निधिया म मछली मारने क कुछ भाले हैं कुल्हाड़ियाँ हैं अर्द्ध मानवाकृति-जैसी वस्तुएँ हैं और भी कई प्रकार की वस्तुएँ हैं। इनमे करीब दो फुट लम्बी और अनगढ छेनी जैसी धारवाली सबसे बडी बल्लम-नुमा कुल्हाडिया इतनी बेढगी हैं कि इन्हे औजार नही कहा जा सकता। ये वस्तुएं निश्चय ही व्यापारियो की निधियाँ हैं। इनका निर्माण स्वय आदिवासियो ने नही किया था, क्योकि ताँबे के शोधन के लिए नियन्त्रित आग की अत अच्छे भट्ठा की, आवश्यकता होती है। ऐसे भट्ठा स बढिया मृत्भाण्ड भी तैयार किये जा सकते हैं, और यह माना जाता है कि य ताम्र-वस्तुएँ पहल पहल मृत्भाण्डा के आवो से ही तैयार की गयी थी। परन्तु इन ताम्रनिधिया के साथ जितने भी मृत्भाण्ड मिले है व सारे अनगढ अधपके तथा गेरू म पोते हुए हैं और खुदाई क दौरान ही उनके टुकडे टुकडे हो जाते हैं। इसलिए इस प्रदेश म सिन्धु सभ्यता क लागो और आर्यों की जो सामान्यत उत्तर के चित्रित धूसर भाण्डो का इस्तेमाल करने लग गये थ बस्तियाँ सम्भव नही थी। निष्कर्ष यह है कि

इनका सम्वन्ध अग्रगामी आय व्यापारियो से था। परन्तु गेरुए रग के ऐसे ही घटिया मत्भाण्ड आर्यों की हस्तिनापुर-जसी नयी बस्तियो मे चित्रित धूसर भाण्ड के नीचे और प्राकृतिक भूतल के ठीक ऊपर प्राप्त हुए हैं। इससे स्पष्ट होता है कि सारे आय पजाब म ही पशुपालन म जुटे हुए नही थे। ईसा पूव दूसरी सहस्राब्दी मे, विशेषत आर्यों की दूसरी प्रमुख लहर म निश्चय ही ऐसे लोग थ जिनमे आगे बढकर खोजबीन करने की दढता एव साहस मौजूद था। ये लोग अच्छे योद्धा थ और इन्हे धातुकम का विशेषत लोहे का, भी कुछ ज्ञान था। एशिया के जिन प्रदेशो से होकर आय लोग भारत पहुँचे थे उनम ईसा पूव प्रथम सहस्राब्दी की शुरुआत तक लोहे का ज्ञान फैल चुका था। गगा की घाटी म घन जगल थे इसलिए वहा कृषक बस्तियाँ अभी सम्भव नही थी। इसीलिए आर्यों की मुख्य बस्तियो की स्थापना एक शृखला म हिमालय की तराई के साथ-साथ दक्षिणी नेपाल मे हुई और फिर यह शृखला बिहार के चम्पारन जिले मे दक्षिण की ओर मुडकर गगा नदी तक जा पहुँची। यहाँ आग लगाकर भूमि साफ की गयी थी परन्तु गगा के पास ऐसा करना सम्भव नही था। यह विधि, जिसके कारण आरम्भिक विस्तार गडक नदी के पश्चिम म तराई तक ही सीमित रहा शतपथ ब्राह्मण के एक प्रसिद्ध परिच्छेद मे समझायी गयी है। इसका समय ७०० ई० पू० के पहले होना चाहिए। लेकिन चम्पारन से दक्षिण की ओर लिया गया मोड कच्ची धातुओ के भण्डारो तक पहुँचने के लिए ही था। कच्ची धातुओ के भण्डार राजगिर की पहाडियो के परे थे और यह राजगिर गगा के दक्षिण म आर्यों की सवप्रथम बस्ती थी।

जलौघ मिट्टी के क्षेत्र को आबादी के योग्य बनाने म कठिनाइयाँ होने के बावजूद यह स्पष्ट है कि इतिहास मे पूण निरन्तरता प्राप्त प्रारम्भिक नगर नदी मार्गों पर बसे हुए हैं। इनम प्रसिद्ध नगर है कुरु प्रदेश म इन्द्रप्रस्थ (दिल्ली) और हस्तिनापुर यमुना-तट पर कोसम्बी (कौशाम्बी) और गगा-तट पर बनारस (वाराणसी काशी)। ईसा पूव प्रथम सहस्राब्दी की शुरुआत मे इन नगरो की स्थापना को केवल इसी आधार पर समझा जा सकता है कि अभय जगलो और दलदलवाले प्रदेशो स तेजी से बहनेवाली इन विशाल नदियो मे पहले से ही नौकाओ का आवागमन होता था। ऋग्वेद के एक बालखिल्य सूक्त स पता चलता है कि उचथ्य और ममता के ब्राह्मण पुत्र दीघतमा अपनी वृद्धावस्था म मल्लाह बन गये थे। ऋग्वेद म सौ डाडोवाली नौकाओ के और निकटतम भूमि से तीन दिन की जल-यात्रा के सक्षिप्त उल्लेख मिलते हैं जिनसे पता चलता है कि आय लोग नाव चलाना जानते थे। इन सारी बातो का यही एक निष्कष निकलता है कि ईसा पूव प्रथम सहस्राब्दी के आरम्भकाल क ये अज्ञातनामा साहसी अग्रगामी समुद्र तक पहुँच गय थ और इन्होने कच्ची धातुओ के भण्डारो को खोज निकाला

था, अन्यथा गंगा-तट पर वाराणसी के किले की खुदाई में तटबन्ध के नीचे पुरावशेष प्राप्त होने का कोई कारण या अर्थ नहीं हो सकता। एक बार कच्ची धातुओं की खोज हो जाने पर, फिर तराई की बस्ती शृंखला का नदी के समीप के भूभाग में उस सीमा तक विस्तार करना आसान था जहाँ तक जंगलों को साफ करना सम्भव था। यह स्थापना उतनी खयाली नहीं है जितनी कि यह लगती है। नदी में प्रचुर मात्रा में मछली उपलब्ध थी और किनारे के जंगलों में जानवरों का शिकार किया जा सकता था। आवश्यकता थी तो केवल निर्भीक साहस और उद्यम की।

अगस्त्य कुल और विन्ध्य पर्वत के दक्षिण में आर्यों के प्रवेश के बीच कुछ सम्बन्ध प्रतीत होता है परन्तु यह अभी मिथक की कोटि का ही है भले ही इसे दक्षिण भारत की महापाषाण-संस्कृति से जोड़ने का लाभ होता हो। कर्णाटक के ब्रह्मगिरि स्थान में मिले महापाषाणों का सम्बन्ध रायचूर जिले के नवपाषाण-युगीन पशुपालकों द्वारा छोड़ी हुई राख की ढेरियों से है। पत्थर के औजारों और मृत्भाण्डों के अनुक्रम से यह सिद्ध हो जाता है। रेडियो-कार्बन विधि से राख की ढेरियों का काल तीसरी सहस्राब्दी के अन्त के थोड़े पहले का निर्धारित होता है। उनके धूसर भाण्ड तथा नर्मदा की घाटी में ईसा पूर्व दूसरी सहस्राब्दी की छुट पुट बस्तियों की खुदाई में विविध प्रकार के मृत्भाण्डों के साथ यदा-कदा मिलनेवाले काँसे के टुकड़ों के आधार पर कुछ पुराविद् ईरानी सम्पर्क का अनुमान लगाते हैं। यदि ऐसा हो तो इस आरम्भिक विस्तार की प्रक्रिया एक पहेली ही बनी रहती है। सिन्धु प्रदेश की नगरीय संस्कृति जब अपने वैभव के शिखर पर थी तो क्या उस समय आद्य-आर्यों की कोई शान्त लहर इस प्रदेश से होकर गुजरी थी? क्या आर्यों ने लूटमार तभी शुरू कर दी जब बाद की लहर ने युद्ध में काँसे के हथियारों का इस्तेमाल करना जाना? दूसरी ओर, ईसा पूर्व प्रथम सहस्राब्दी के आरम्भकाल में (आर्यों द्वारा किये गये) गंगा के अन्वेषण को पुरातत्त्व में सिद्ध किया जा सकता है। रायचूर और कर्णाटक के उत्खननों में उत्तरी घुसपैठ का स्तर निश्चय ही बाद का है और यह लौहयुग की शुरुआत का सूचक है। इसके विपरीत, पाण्डु राजार ढिबि (पश्चिम बंगाल में अजई नदी पर) की 'ताम्र पाषाण युगीन पुरानिधियों में क्रमिकता का अभाव दिखायी देता है। नर्मदा घाटी के समरूप अवशेषों की तरह ये भी ईसा पूर्व दूसरी सहस्राब्दी के अन्वेषकों की सम्भवतः आर्यों की छुट-पुट अस्थायी बस्तियाँ हो सकती हैं जब कि अतरंजीखेड़ा में स्थायी बस्ती थी।

४.६ महाकाव्य युग

आरम्भिक छोटे नगरों में से कुरुदेश (दिल्ली-मेरठ) के दो नगरों ने भारतीय परम्परा पर अपनी अमिट छाप छोड़ी है यद्यपि अन्ततः वाराणसी

ब्राह्मणधर्म का एक पवित्र केन्द्र बन गयी, और यह आज भी है। ऐतिहासिक काल मे पंजाब और उत्तरप्रदेश के बीच के क्षेत्र का सामरिक दृष्टि से बडा महत्त्व था। पिछली कई सदियो म दिल्ली भारत की राजधानी रही और आज भी है। कुरुदेश के पानीपत स्थान पर लडे गये कई निर्णायक युद्धो ने देश के समस्त उत्तरी भाग के भाग्य का फैसला किया है। महान भारतीय महाकाव्य महाभारत का विषय भी कुरुक्षेत्र म लडा गया संहारक युद्ध ही है। यदि ऐसा कोई युद्ध सचमुच ही हुआ है तो ऐतिहासिक राजाओं तक की पारम्परिक राजवंशीय गणना के अनुसार यह ८५० ई० पू० के आसपास ही हुआ होगा। यह अनुमानित घटना निश्चय ही काफी छोटे पैमाने पर हुई होगी परन्तु इसका साहित्यिक महत्त्व उतना ही बडा है जितना कि यूनानी महाकाव्य के ट्रोजन युद्ध का। कुरु प्रदेश के हस्तिनापुर की मूल बस्ती प्राचीन वैदिक पुरु कबीले की किसी छोटी शाखा की थी। हस्तिनापुर के द्वितीय स्तर म जो चित्रित धूसर भाण्ड मिले हैं उन्हें व्यापक रूप म आर्यों के मृत्भाण्ड नही बल्कि पुरु-कुरुओ का मृत्तिका शिल्प माना जाना चाहिए। पाण्डवो (पाण्डु-पुत्रो) की एक दूसरी शाखा ने पारम्परिक विधि से यानी आग लगाकर, जंगल को साफ करके इन्द्रप्रस्थ (सम्भवत दिल्ली के पुराने किले का क्षेत्र) बसाया। जंगल साफ करने का यह कार्य अग्नि देवता के लिए आयोजित एक महान् यज्ञ समझकर पूरा किया गया। आग के घेरे से बाहर भाग निकलने की कोशिश करनेवाले हर प्राणी का वध किया गया और इस प्रकार इस नये क्षेत्र को हल की खेती के योग्य बनाकर आबाद किया गया। तब इन पडोसी और सम्बन्धित राज्यो मे उभय संहारक युद्ध हुआ। बाद म इसे एक ऐसे युद्ध के रूप म प्रस्तुत किया गया जिसम समस्त पृथ्वी (जिसका अर्थ है भारत) पर अधिकार प्राप्त करने के लिए लाखो-करोडो योद्धाओं ने भाग लिया। परन्तु उस समय इतना अधिक उत्पादन नही होता था कि उससे बडी सेनाओ का पोषण हो सके तथाकथित क्षेत्रीय राज्यो द्वारा सुसज्जित बडी सैनिक टुकडियो को दूर दिल्ली तक भेजना तो और भी दूर की बात रही। वास्तव म कुरु प्रदेश मे कुरु राजा द्वारा शासित एक छोटा कबीलाई राज्य पाचवी सदी तक मौजूद था परन्तु इसके बाद इसका पूर्णत लोप हो गया। सम्पूर्ण देश पर कुरुओ का प्रभुत्व कभी भी नही रहा यदि रहा है तो केवल बाद के चारणो की कल्पना म। माना जाता है कि कुरुओ के वंशज परीक्षित का तक्षशिला म बडे ठाठ बाट से राज्याभिषेक हुआ था। परन्तु ईसा पूर्व चौथी सदी के पहले तक्षशिला एक देहात मात्र था और चौथी सदी से जब इसने इतिहास म प्रवेश किया तो परीक्षित का कोई अता पता नही था। महाभारत-युद्ध के बाद वंशानुक्रम मे जो चौथा राजा हुआ उसे बाढ के कारण हस्तिनापुर छोड देना पडा। इस बात के कुछ पुरातात्त्विक प्रमाण भी मिलते हैं। वह राजा अपनी पुरु कुरु राजधानी

को आग नदी-तट पर कासम्बी म ले गया।

एक काव्य के रूप म महाभारत का विकास इस काल्पनिक महायुद्ध की सबसे बडी विशेषता है। इलियड की भाँति इस कृति का आरम्भ भी एक श्रेष्ठ राजवश के अन्त पर शोक प्रकट करने के साथ हुआ। परतु विजेता अभी भी शासन कर रहे थे, इसलिए स्वभावत ही इन गीतो का काफी जल्दी जय-गाना म बदल दिया गया—कुछ-कुछ व्यग्यात्मक रूप म। महाभारत के साथ यह जय नाम अब भी जुडा हुआ है (जयो नामेतिहासोऽयम्'—आदिपव)। किसी भी घटना का गायन करने के पहले आमतौर पर (जसाकि उस समय अय देशा म भी होता था) मगलाचरण (यहाँ वैदिक, और यूनान म होमरिक) गान की प्रथा थी। यदि अनुष्ठान-काय के लिए कोई सरक्षक मिल जाता तो उसकी वश परम्परा का भी गुणकीतन किया जाता था। मगलाचरण के वदिक सूक्तो क कारण ब्राह्मणा को महाभारत की परम्परा पर अधिकार करने मे आसानी हुई। जब तक ब्राह्मणधम के पुरोहित-वग ने अय आर्यों स अपने को काफी पथक् नहीं कर लिया, तब तक पशावर चारण (सूत) ही आरम्भिक कवि और गायक थ। ब्राह्मणो द्वारा सशोधित-सम्पादित महाभारत का आज उपलब्ध सकलन जिसम ८०,००० से ऊपर श्लोक और कुछ गद्याश हैं, २०० ई० पू० और २०० ई० के बीच के काल म तयार हुआ। आदिपव के प्रारम्भ म यह स्पष्ट कहा गया है कि उस समय २४,००० श्लोको की भारतसहिता मौजूद थी, यद्यपि यह अब पूणत लुप्त हो गयी है। विभिन वर्गों के श्रोताओं को आकर्षित करने के उद्देश्य स नय सम्पादका ने इसमे तरह-तरह के आख्यान और मिथक जोड दिये। कई घटनाएँ जिनका युद्ध से कोई स्पष्ट सम्बध नहीं है, विभिन पात्रा द्वारा वर्णित कथा के भीतर की कथाएँ जान पडती हैं। एक आधारभूत कथा की चौखट खडी करके इस विस्तार को अधिक स्वाभाविक बना दिया गया। राजा जनमेजय-तृतीय ने नागा के सम्पूण विनाश के लिए एक विराट यन किया। य नाग राक्षस इच्छानुसार सप या मानव का रूप धारण करने म समथ थे और इनम से एक ने जनमेजय के पिता परीक्षित द्वितीय को मार डाला था। अत य युद्ध-कथानक और आख्यान ऐसी कथाएँ हैं जिन्हें दीघकालीन यज्ञो (सत्रा) के अवसरो पर घुमा फिराकर कहना जरूरी होता था। अर्थात्, अपने वतमान रूप म महाभारत प्रमुखत एक महायुद्ध का नहीं बल्कि एक महायज्ञ का विवरण है। महाभारत के विस्तार की प्रक्रिया का अन्त २०० ई० म ही नहीं हो गया यह उन्नीसवा सदी तक चलती रही। देश के विभिन्न भागो के विभिन्न सस्करणा की तुलना करके महाभारत का लगभग एक ऐसा विवेचनात्मक आद्य रूप तयार करना सम्भव हुआ जो अधिक से-अधिक ईसा की चौथी सदी का हो सकता है। मूल गीता से मिलने जुलते पाठ के पुनरुद्धार का प्रश्न ही नहीं उठता।

बाद के अधिकांश प्रक्षेप धार्मिक स्वरूप के हैं, इनमे ऐसी बातें हैं जिनका वैदिक कर्मकाण्ड और धर्म से कोई सम्बन्ध नही। इन्ही के बल पर ब्राह्मणो ने, जिनकी प्राचीन प्रतिष्ठा बौद्धधर्म के प्रभाव के कारण घट गयी थी समाज मे पुन उच्च स्थान प्राप्त कर लिया। बाद मे जोडा गया सबसे प्रभावशाली अश है भगवद्गीता। कहा जाता है कि भगवान् कृष्ण ने इस गीता का उपदेश युद्ध शुरू होने के कुछ समय पूर्व ही दिया था। परन्तु यह कृष्ण एक नया देव था, इसके परम देवत्व को आगे कई सदियों तक मान्यता नही मिली। गीता की सस्कृत भाषा ईसा की तीसरी सदी के आसपास की है। परन्तु कृष्ण को देवपद प्रदान करने के काफी पहले जब महाभारत के सशोधन का पहला दौर चला और यह एकात्मक ब्राह्मणधर्मीय महाकाव्य बन गया उस समय इसका विशेष महत्त्व इसकी आधार-कथा के कारण ही था। दरअसल, इस आधार-कथा का महत्त्व जितना समझा जाता है उससे कही अधिक है। इतिवृत्त के अनुसार जनमेजय का यज्ञ जिसे वहा पर वास्तविक युद्ध से अधिक महत्त्व दिया गया है बिना समापन के अधूरा ही छोड देना पडा। इस विचित्र परिणति का श्रेय ब्राह्मण पिता और नाग माता के युवा पुत्र आस्तीक की प्रतिभा को है। जनमेजय का मुख्य पुरोहित सोमश्रवा भी ऐसे ही मिश्रित माता पिता की सन्तान था। ब्राह्मणधर्म के कठोर नियम के अनुसार ब्राह्मण पिता और किसी भी अन्य जाति की मा से उत्पन्न सन्तान को कभी भी ब्राह्मण नहा माना गया। इसलिए इस अनिस्फीत महाकाव्य के ब्राह्मण-सम्पादक अपनी वश परम्परा आय दायरे से इतनी अधिक दूर होने की बनिझक घोषणा करते हैं तो स्पष्ट होता है कि नाग लोग कोई राक्षस अथवा निम्न जाति के नही बल्कि किसी सम्मान्य जनजाति के रहे होंगे। आस्तीक यायावर (घुमक्कड) कुल मे पैदा हुआ था। इस नाम का एक परिवार ईसा की नौवी सदी तक मौजूद था और सस्कृत का प्रख्यात कवि-नाटककार राजशेखर, जो ब्राह्मण नही था या जिसने कम से कम मराठा अथवा राजपूत सामन्त के चाहमान कुल की अब्राह्मण स्त्री से विवाह किया था, इसी यायावर परिवार का था।

तो फिर कौन थे ये नाग—जो सर्प-दानव के साथ साथ मानव भी थे जिन्हे इतना दुष्ट समझा गया कि उनके विनाश के लिए विशेष प्रकार के शक्तिशाली यज्ञ का आयोजन किया गया लेकिन फिर भी ब्राह्मणो के सयोग से उनकी स्त्रियो ने वध और अतिसम्मान्य सन्तान को जन्म दिया? उपलब्ध सामग्री से इस प्रश्न का उत्तर प्राप्त करना सम्भव है। स्पष्ट है कि जातिगत अर्थ मे 'नाग' शब्द का प्रयोग जगलो मे रहनेवाले उन आदिवासियो के लिए हुआ जो अनिवार्यत एक-दूसरे से सम्बन्धित नही थे परन्तु जिनका गणचिह्न (टोटेम) नाग था या जो नाग की पूजा करते थे जैसाकि भारत के बहुत से आदिवासी (और केवल आदिवासी

ही नहीं) आज भी करते हैं। जब आर्यो न कुरु प्रदेश मे पहली बार अपनी बस्तियां स्थापित की उस समय ये नाग लोग पास के जगलो मे रहते थे। अर्द्ध-मरक्षत्रवाली खुली नदी घाटियो अथवा पजाब की निचली पहाडिया के प्रदेश की अपेक्षा गगेय प्रदश के जगला मे भोजन सग्रह अधिक आसान था। परन्तु इन्ही घन जगला क कारण नाग लोगा को जीतना या उन्ह कबीलाई दासो की अवस्था पर ले आना, जसाकि पश्चिम की ओर के दासा और शूद्रा के साथ हुआ असम्भव हो गया। जब तक वे स्वतन्त्र भाजन

यद्यपि युद्ध की मुख्य कथा से इनका तनिक भी कोई सम्बन्ध नहीं है। इसके विपरीत यदुनायक और नरदेव कृष्ण का उत्थापित 'सर्वेश्वर' पद महाकाव्य के विभिन्न स्तरों में स्पष्टतः दृष्टिगोचर होने पर भी कृष्णाख्यान तथा कृष्ण वंशावली का समावेश महाभारत के परिशिष्ट ग्रन्थ हरिवंश में किया गया है। बाद के भारतीय प्रतिमाशास्त्र में महानाग की अनेक लीलाओं का प्रस्तुतीकरण हुआ है। माना जाता है कि शेषनाग ने पृथ्वी को अपने सिर पर धारण कर रखा है, उसे जल में डूब जाने से बचाये हुए है। वह जलवासी विष्णु के लिए शय्या और छत्र दोनों बना हुआ है कालान्तर में कृष्ण इसी विष्णु का अवतार बना। नाग शिव के गले का हार है, गणेश के हाथ में एक शस्त्र है और यह एक स्वतन्त्र देवता भी है जिसकी पूजा के लिए वर्ष का एक ऐसा विशेष दिन नियत है जब धर्मपरायण लोग न जमीन खोदते हैं न धातु का इस्तेमाल करते हैं। साथ ही वह भारतीय किसानों का कृपापात्र क्षेत्रपाल (शिव का एक नाम) यानी 'खेत रक्षक' भी है। महाभारत में सस्कृतियों के समागम के बारे में जो जानकारी मिलती है वह इसकी नगण्य और अतिसंदेहात्मक ऐतिहासिक विषय-वस्तु से कहीं अधिक रोचक है।

महाभारत के महत्त्व और इसकी भ्रामक व्याख्या के कारण पूर्ववर्ती विवेचन के सार-संक्षेप का पुनः प्रस्तुत करना आवश्यक है। इस महाकाव्य में प्राचीनतम कथाओं के तीन स्पष्ट स्रोत हैं पुरु-कुरु युद्धगीत आदिवासियों के मिथक और युद्ध गाथाएं। इन विसंगत कथाओं का तत्कालीन संयुक्त किन्तु अभी भी आदिम स्तर के समाज के अनुरूप किसी तरह मेल बिठाना आवश्यक था। इसके लिए कुठाली का काम दिल्ली मेरठ मथुरा क्षेत्र ने ऐसे समय में किया जब धातुओं की विशेषतः लोह की जानकारी तो थी, किन्तु ये अधिक मात्रा में उपलब्ध नहीं थी। उत्तरकालीन वैदिक आर्य खाद्य संग्राहक अरण्यवासी नाग लोग और कृष्ण के नव-वन्य गोपालक यदि आपस में लड़ना बन्द कर देते तो मिलकर ये एक अधिक सक्षम अन्न-उत्पादक समाज का निर्माण कर ही सकते थे। परिवेश और धातुओं की न्यूनता के कारण इन तीन समुदायों में से किसी भी एक के लिए यह सम्भव नहीं था कि वह मात्र बल प्रयोग द्वारा दूसरों को अपने अधीन कर सके। इसलिए मिथकों का ही मिलन हुआ। मानवीय तत्त्वों का पुनस्संयोजन करने में कश्यप कुल ने सहयोग दिया और आख्यानों का सम्पादन भृगुओं के एक अन्य ब्राह्मण-कुल ने किया। संस्कृतियों का यह परस्पर मिलन इतना प्रभावकारी था कि महाभारत का आकार बढ़ता ही गया और सम्पूर्ण मध्ययुग में इसी ढाँचे पर पुराणों की पुनरचना हुई। यह प्रक्रिया तभी अनुपयोगी सिद्ध हुई जब सम्मिलित अन्धविश्वासों के आधार पर लोगों को एकजुट रखकर एक अधिक उत्पादक समाज का निर्माण करना सम्भव नहीं हुआ। मुसलमानों की अपेक्षाकृत आसान

विजय के कारण यह विफलता और भी पक्की हो गयी। परन्तु तब तक 'जियो और जीने दो' की मान्यता का स्थान काफी पहले से इस मान्यता ने ले लिया था कि 'तर्क विवेचन भौतिक वास्तविकता अथवा साधारण सहज बुद्धि की परवाह किये बिना उन सारी बातों पर विश्वास करो जो पुरोहित कहें'।

पाँचवाँ अध्याय

कबीले से समाज की ओर

५ १ नये धम

देश के बाहर के करोडो लागा के लिए भारत महज बुद्ध की भूमि है। एशिया की अधिकाश जनता की दष्टि म बौद्ध धम ही भारत की सबसे महत्त्वपूण उपलब्धि है न कि कोई राजतत्र प्रणाली या किसी भौतिक वस्तु का निर्यात। भारतीय प्रभाव के अतगत विकसित बौद्ध अभिप्रायो के बिना बर्मा थाईदेश, कोरिया जापान और चीन की वास्तु एव ललित कला और इसलिए ससार की कला काफी अकिंचन रह जाती। प्राचीन मगाल और तिब्बती साहित्य म बौद्ध धम-ग्र था का हिस्सा बहुत अधिक है। सन १९५९ तक तिब्बत का सम्पूण शासन चद बौद्ध विहारो और उनके द्वारा नियुक्त अधिकारिया के हाथो म रहा है। श्रीलका बर्मा थाईदेश और हिदचीन के लाग न केवल (अपनी-अपनी मायता के अनुसार) बौद्ध धम के अनुयायी है अपितु अपने विभिन इतिहासा के उपकाल म इसी धम के आद्य सभ्यकारी प्रभाव को स्वीकार करत हैं। ईसा की पाँचवी और छठी सदिया म चीन के विशेषत उसके भीतरी प्रदेश के, आर्थिक विकास म बौद्ध विहारा की जो प्रभावशाली और अपरिहाय भूमिका रही है उसे अभी हाल ही म समझा गया है। सुदूर दशा के अनगिनत यात्री रेगिस्ताना हिमाच्छादित ऊँचे ऊँचे पवता और प्रचण्ड समुद्री तूफाना क कष्टो को झेलकर बुद्ध क जीवन की घटनाआ म सम्बधित स्थलो के दशन के लिए साहसी यात्राएँ करत रहे आज भी करते हैं। अपन समय म बौद्ध धम का प्रचार पूव की अपेक्षा पश्चिम की ओर और भी अधिक प्रभावकारी रहा। बामियाँ (अफगा*निस्तान) म धूरी चट्टानो को छीलकर बनायी गयी बुद्ध की ६० मीटर ऊँची मूर्तियाँ* अपने-आप म इस बात की यथेष्ट प्रमाण हैं। मध्य एशिया म पाये गये अनगिनत

स्तूपो के भग्नावशेष भी इसी बात की गवाही देते हैं। बौद्ध धम ने न केवल मानी-वाद को प्रभावित किया बल्कि इसके पहले ईसाई धम के निर्माण म भी सहयोग दिया होगा। मत सागर की कुण्डलिया की रचना करनेवाले विद्वान् हालांकि सच्चे यहूदी थ फिर भी उनकी कृतियो म कुछ ऐसी विशेष बातें हैं जो बौद्ध उत्पत्ति की जान पडती हैं। कब्रिस्तान क लगभग ऊपर ही बन मठ मे उनके वास्तव्य की प्रथा यहूदी धम के लिए तो अप्रिय हो सकती है परन्तु बौद्धा के लिए यह प्रिय ही रही है। फिलस्तीन के इस (सम्भवत एस्सीन) सम्प्रदाय क लेखो म 'सदाचरण के उपदेशक' का जो नामोल्लेख है वह बुद्ध की उपाधि स ठीक मिलता जुलता है। इसलिए इसम कोई आश्चय की बात नही है कि पुरानी बाइबिल का पवत प्रवचन इसे पहली बार सुननेवाले इसके अनुयायिया की अपेक्षा बौद्धा को अधिक परिचित जान पडे। ईसा मसीह के कुछ चमत्कार, जसे पानी पर चलना, बुद्ध के जीवन-सम्बन्धी साहित्य म काफी पहले से प्रचलित थ। इसी प्रकार 'बरलाम और जोसफत' नामक ईसाई सत की कथा स्पष्टत बुद्ध की जीवन-कथा पर आधारित है।। बगदाद के अब्बासी खलीफा हारूँ-अल रशीद (जिसे 'अरेबियन नाइट्स की कथाओ ने अमर बना दिया है) के बरमक नामक मन्त्रियो के परिवार के पूवज किसी समय बौद्ध 'नव विहार' के वशानुगत मठा-धीश (परमक) थे। इस्लाम मे नये-नये दीक्षित हुए थे, इसलिए उन पर यह सन्देह भी किया जाता रहा कि वे अपने पुराने धम की कुछ काफिरी मान्यताएँ कायम रखे हुए हैं।

इस असाधारण विस्तार की दो आश्चयजनक किन्तु परस्पर विरोधी विशेषताएँ हैं। भारत के बाहर इस धम का प्रचार बिना बल प्रयोग के या भारत के इसी प्रकार के राजनीतिक प्रभाव के विस्तार के बिना ही हुआ। दूर-दूर के देशा म असोक (सस्कृत अशोक) का नाम आदर के साथ लिया जाता है, तो इसका कारण यही है कि वह एक महान् बौद्ध सम्राट था, न कि उसकी किसी विजय अथवा किसी प्रकार के शक्ति प्रदशन के कारण। कुषाणा ने मध्य एशिया और भारत के कुछ भागा पर सम्मिलित रूप से शासन किया, परन्तु वे बौद्ध धम के साथ-साथ अन्य भारतीय सम्प्रदायो और देवताआ के भी आश्रयदाता थ। इनम स एक देवता थ शिव परन्तु इनके पूजा विधान का प्रचार दूर तक नही हुआ। हान राजवंश क शासक मिन् ति से चीनी सम्राटा का एक सिलसिला ही शुरू हुआ जिन्होंने बौद्ध प्रचारकों को आमन्त्रित करने के लिए कोई कसर उठा नही रखी। फिर भी, अपनी जन्मभूमि म ही बौद्ध धम का लोप हो गया, केवल पूर्वोत्तर सीमा प्रदेश म ही कुछ अवशेष बचे रहे। बाह्य सफलता के विपरीत स्वदेश म इस धम का पूण लोप एक पहेली-सा जान पडता है। आज भी यदि शिक्षित भारतीयो से यह कहा जाय कि बौद्ध धम—जिसे क्षणिक पथभ्रष्ट
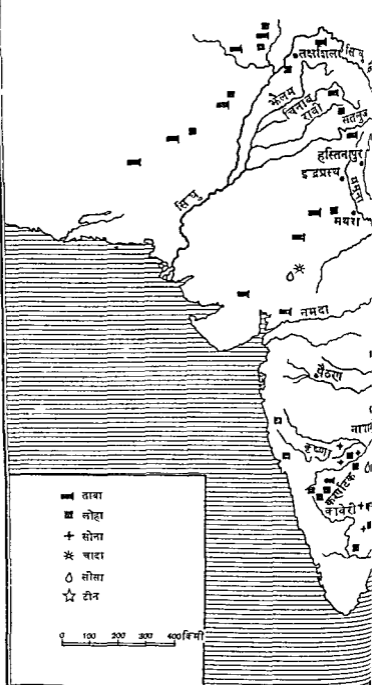
तक्षशिला
सिंधु
झेलम
चिनाब
रावी
सतलुज
हस्तिनापुर
इन्द्रप्रस्थ
यमुना
मथुरा
सिंधु
नर्मदा
पैठण
कृष्णा
कावेरी
ताबा
लोहा
सोना
चादी
सीसा
टीन
0 100 200 300 400 किमी

मान समझते हैं—विश्व-संस्कृति का उनके देश का विशिष्ट योगदान है, तो वे भौचक्के रह जायेंगे या नाराज हो जायेंगे। बौद्ध धर्म के उत्थान, प्रसार और पतन के १५०० वर्षों के पूरे कालचक्र में भारत अर्ध-पशुपालक जीवन की अवस्था से प्रथम पूर्ण राजतन्त्र की अवस्था में पहुँचा और तदनन्तर सामन्ती युग में। अतः इस धर्म ने अपनी जन्मभूमि की इन विविध अवस्थाओं में जो विभिन्न भूमिकाएं अदा की हैं उनका भारतीय सभ्यता के गम्भीर अध्ययन में केन्द्रीय स्थान होना ही चाहिए। साथ ही देश और देश के बाहर इस धर्म का जो द्वन्द्वयुक्त और पेचीदा विकास हुआ है उसे भी हमें समझना होगा।

ईसा पूर्व छठी सदी ने चीन में कन्फ्यूसियस के दर्शन को और ईरान में जरतुश्त के व्यापक सुधारों को जन्म दिया। गंगा की मध्य घाटी में कई सारे नये मतवादी उपदेशक पैदा हुए। बुद्ध इनमें से एक थे परन्तु अपने जीवन-काल में अभी उन्हें सबसे अधिक प्रतिष्ठा नहीं मिली थी। विरोधी मतों के बारे में अधिकांश जानकारी प्रतिद्वन्द्वियों के पक्षपातपूर्ण धार्मिक ग्रन्थों में ही मिलती है। परन्तु जैन धर्म भारत में आज भी जीवित है, और बुद्ध के पहले के तीर्थंकर इसके संस्थापक माने जाते हैं। मैसूर के अभिलेखों से पता चलता है कि ईसा की चौदहवीं सदी तक आजीवकों का अस्तित्व रहा है। क्रमशः इन दो सम्प्रदायों के मुख्य प्रवर्तक थे—महावीर (जैन मतावलम्बी यद्यपि पूर्ववर्ती तीर्थंकरों की एक लम्बी परम्परा में आस्था रखते हैं परन्तु इनमें पार्श्व ही ऐतिहासिक जान पड़ते हैं) और मक्खली गोसाल। ये दोनों ही बुद्ध के समकालीन थे और तत्कालीन अन्य अनेक उपदेशकों की भाँति इन्होंने भी उसी क्षेत्र में अपने मतों का प्रचार किया। स्वयं बुद्ध ने भी अपने समय के दो ज्येष्ठ उपदेशकों की शिक्षाओं को ग्रहण करके ही उन्हें आगे बढ़ाया है। ये दो उपदेशक थे—उद्दक रामपुत्र और कालाम नामक आर्य कबीले के आलार। इसलिए बौद्ध धर्म को उसके निस्सन्दिग्ध महान संस्थापक की मात्र वैयक्तिक उपलब्धि के रूप में नहीं देखा जा सकता, न ही इसका ह्रास मानवीय कमजोरियों के कारण हुआ। स्पष्टतः एक सीमित क्षेत्र में इतने सारे काफी प्रभावशाली और लब्धप्रतिष्ठ सम्प्रदायों का एकसाथ उत्थान एक ऐसी सामाजिक आवश्यकता का सूचक है जिसे पुराने मत पूरा नहीं कर सकते थे। इस आवश्यकता का विश्लेषण हो सकता है सभी नये उपदेशकों से सम्बन्धित एक से तत्त्वों की खोजबीन करके और अनुयायियों के नये वर्गों का अनुशीलन करने से। यदि यह सामान्य निरन्तरता और क्रमिक विकास की ही बात होती तो नये धर्मों का उदय सिन्धु प्रदेश में होना चाहिए था जहाँ एक महान सभ्यता के भग्नावशेष अभी मौजूद थे या फिर पश्चिमोत्तर भारत में होना चाहिए था जहाँ वैदिक संस्कृति का प्रभाव था और आगे भी कई सदियों तक रहा, या कुरुदेश में होना चाहिए था जो महाभारत की कथा का केन्द्रस्थल था और

उस प्रकार की नतिकता के लिए एक उपयुक्त क्षेत्र था जिससे यह महाकाव्य ओत-प्रोत है, या मथुरा म होना चाहिए था जहाँ स अन्तत सर्वेश्वर के रूप म कृष्ण के एक नये और शक्तिशाली सम्प्रदाय का प्रसार हुआ। कि तु क्या कारण है कि पूव के नवीनतम और कुछ सास्कृतिक बातो के मामले म अपक्षाकृत पिछडे हुए प्रदश म ही धम के इन सबसे उन्नत स्वरूपा का उत्थान हुआ ?

ईसा पूव छठी सदी म गगा की घाटी म नय वर्गों के अस्तित्व स इनकार नही किया जा सकता। एक वग स्वतत्र खेतिहरो और कृषका का था। कबील के अन्तगत वश्या का जो नव-वैदिक पशुचारी वग था, उसका स्थान अब उन कृषका ने ले लिया था जिनके लिए कबीले का कोई अस्तित्व नहीं रह गया था। व्यापारी इतन मालदार हो गये थ कि पूव क नगरो म सबस महत्त्व का व्यक्ति सामा यत श्रेष्ठी ही होता था। यह शब्द, जिसका पहल कोई अस्तित्व नही था, 'श्रेष्ठ' (मुखिया) स बना है। दरअसल, श्रष्ठी पूँजीपति अथवा साहूकार होता था और कभी-कभी व्यापारिया के सगठन (श्रेणी) का मुखिया भी। इन श्रेष्ठिया का शासन-तन्त्र से कोई प्रत्यक्ष सरोकार नही था परन्तु परम निरकुश शासक भी इनका सम्मान करत थे। गहपति (सस्कृत गहपति) शब्द का बदला हुआ अथ इस नय वग क अस्तित्व का प्रमुख परिचायक है। शाब्दिक अथ गहस्वामी' का द्योतक यह शब्द इसके बाद रोमन शब्द paterfamilias का समानार्थी बन गया। वदिक और ब्राह्मण ग्रन्था म इस शब्द का अथ है—राजसूय यज्ञ का तो नही, पर दूसर काफी महत्त्व के यज्ञा का प्रमुख याजक और यजमान। अब, पहली बार इस शब्द का अथ हो गया—किसी भी जाति के एक ऐस बडे पितृसत्तात्मक परिवार का मुखिया जो प्रमुखत अपनी सम्पत्ति के कारण सम्मान प्राप्त करता था, फिर यह सम्पत्ति व्यापार अथवा उत्पादन स प्राप्त की गयी हो अथवा खेती से परन्तु अब इस सम्पत्ति को केवल मवेशियों की सख्या स नही आँका जाना था। एक नय धनी वग का नियामक सदस्य होन क नात अब गहपति को अपने धन का चाहे जसा इस्तेमाल करन की स्वतन्त्रता थी, यद्यपि परिवार के सदस्या के भरण पोषण की जिम्मेदारी उसी की थी और वह अपने सगोत्र-समूह के उत्तराधिकार-सम्बन्धी नियमो से भी बँधा हुआ था, परन्तु अब वह कबीलाई नियमा से बँधा हुआ नहीं था। यह नयी वग स्थिति जाति और गाव के पुरान ब धनो के कारण कुछ समय के लिए अस्पष्ट रही परन्तु ये बन्धन उत्तरोत्तर ढीले पडत गय। गोत्र (गाया का बाडा) शब्द जो पहले बहिर्विवाही कुल का द्योतक था, अब से गृहपति के बडे पितृसत्तात्मक परिवार का भी सूचक हो गया, यद्यपि गहपति के पुराने अथ की भांति इस गोत्र शब्द का पुराना अथ भी पूरी तरह लुप्त नही हुआ। उन अनवरत युद्धो से, जो वैदिक यज्ञो के पहले नियमित रूप स हुआ करत थ, किसान और व्यापारी, दोनो की ही हानि होती थी। व्यापारी को

अपने कबीले और राज्य के बाहर के साथ अच्छे सम्बन्ध रखने पड़ते थे साथ ही, उसे लुटेरो से मुक्त सुरक्षित व्यापार-मार्गों की भी आवश्यकता थी। अन्त इस आवश्यकता की पूर्ति एक एम 'सार्वभौम राजतन्त्र' यानी एकराज शासन के अभ्युदय से ही हो सकती थी जो छोटे मोटे युद्धो को समाप्त करके सारे देहाती इलाको को अनुशासन मे रख सके। परन्तु व्यापार का फलाव राजनीतिक सीमाओ के बाहर हमेशा ही रहा है।

साहित्यिक उल्लेखो मे यह प्रमाणित हो जाता है कि स्वतन्त्र, पट्टेदार अथवा भूस्वामी किसानो (कस्सक कषक) का अस्तित्व अनिवार्यत गृहपति और श्रेष्ठी के अस्तित्व का सूचक है। जैसा कि पहले बताया जा चुका है दास मजदूर बडी सख्या मे उपलब्ध नही थे। अन्न सकलनकर्ता काफी कम थे, और वे खेती के लिए आवश्यक नियमित और कठोर परिश्रम के लिए क्वचित् ही तैयार होते थे। अन्न-उत्पादन को उन्होंने अधिकतर उसी समय अपनाया जब दूसरो ने उनकी भूमि को साफ किया और जब सामन्ती और आधुनिक युग मे, अकाल पडने लगे (अकाल के कारण ही कई आदिवासियो ने महज नियमित उदर भरण के लिए अपनी आजादी बेच दी बन्धक बन गये और परिणामत हारी-जमी दास जातियाँ अस्तित्व मे आयीं अभी विगत पीढ़ी तक देखा गया है कि इनका श्रम अकुशल और अनुत्पादक था)। वास्तविक किसान वर्ग मुख्यत उन्ही अधिक उन्नत आय कबीलाई जनो से बनता गया जो छोटे छोटे समूहो मे अधिकाश कबीले से सदैव सम्पर्क मे न रहते हुए स्वय भूमि की सफाई करने मे जुट गये थे। जो एकमात्र बात उन्हें अतिरिक्त अनाज पैदा करने की प्रेरणा देती थी, वह थी उस अतिरिक्त अनाज का व्यापार। यह भी केवल उसी हालत मे सम्भव था जब अतिरिक्त अनाज को कुल के भीतर बाँटने की कोई बाध्यता न हो यदि मवेशियो पर सामूहिक स्वत्व न हो और यदि कबीलाई परिषदो द्वारा भूखण्डो को पुनर्वितरित करने की व्यवस्था न हो—सक्षेप मे, यदि खेती के पशु, भूमि और इसकी उपज व्यक्तिगत सम्पत्ति के रूप मे हो। पजाब इस मामले मे रूढिवादी बना रहा कबीलाई जीवन पूर्ववत् बना रहा और राजा भी प्राय उसी प्रकार के होते थे जैसे कि ब्राह्मण ग्रन्थो मे उल्लिखित हैं। यजुर्वेदिक राजतन्त्र पृथक परिवारो द्वारा असीम कृषि उत्पादन मे बडी भारी रुकावट था और किसानो के लिए असहनीय बोझ भी। शान्ति और हलके करो की बडी जरूरत थी। यज्ञो के लिए अधिकाधिक मवेशी तथा अन्य पशु बिना मूल्य हथियाये जाते थे। इसके सबूत पालि ग्रन्थो की राजसूय यज्ञ-सम्बन्धी कथाओ मे मिलते हैं। नियमित कृषि पर पडनेवाला यह बोझ असहनीय था। केवल कुछ ही ब्राह्मण पुरोहित (उन जैसे जिन्हे ईसा पूर्व छठी सदी के पसेनदि और बिम्बिसार जैसे राजाओ ने पूरे गाँव दान दिये थे) स्थायी लाभ उठा रहे थे। अत यह स्वाभाविक

ही था कि सभी नये सम्प्रदायो ने कमकाण्ड की, विशेषत वदिक कमकाण्ड की, वैधता को स्पष्ट शब्दो म अस्वीकार किया। इनम ब्राह्मण उपदेशक भी शामिल थे, जसे, पूरण कस्सप और सजय वेलट्ठिपुत्त।

यजुर्वेद मे यद्यपि बलि दिये जाने योग्य मनुष्यो की सूची दी गयी है, परन्तु शतपथ ब्राह्मण के समय तक नियमित नरमेध-यज्ञ की ब्राह्मण प्रथा प्राय लुप्त हो चुकी थी। फिर भी नर-बलि की इक्की दुक्की घटनाएँ अवश्य होती थी। जसे बुर्ज तथा नगर द्वार जसे सुरक्षा साधनो को अभेद्य बनाने के लिए और बांधो की बाढ़ा से रक्षा के लिए नर-बलि आवश्यक समझी जाती थी। ऐसे नये बाधकामो के अवसरो पर बलि-पुरुष को नीव म दफनाया जाता था। परन्तु ऐसी असाधारण बलियाँ बहुत कम दी जाती थी, ये वैदिक पद्धति से नही होती थीं और लोग इन्ह घृणा की दृष्टि से देखने लग गये थे। अश्वमेध-यज्ञ भी अब काफी कम होते थे। दरअसल, ईसा पूर्व दूसरी सदी म अल्पावधि के निरथक पुनरुत्थान के पहले गगा की घाटी म आयोजित किसी अश्वमेध यज्ञ के बारे मे निश्चित उल्लेख नही मिलते। जसाकि एक प्रधानत पशुचारी समाज के लिए स्वाभाविक था, मुख्य वदिक यज्ञो म मवेशियो की ही बलि दी जाती थी। ईसा पूर्व छठी सदी के सुधार आन्दोलनो ने इस चलन को किस हद तक पूरी तरह रोकने म सफलता प्राप्त की यह बात गोहत्या और गोमास भक्षण पर हिन्दुओ द्वारा लगाये गये निषेध से स्पष्ट हो जाती है, यह निषेध आज भी कायम है, यद्यपि यह निरथक अलाभकर और चरागाहो की कमी वाले देश म मवेशियो के प्रति निदयता का परिचायक है। आधुनिक रूढ़िग्रस्त हिन्दू गोमास भक्षण को नरमास भक्षण के तुल्य समझता है, परन्तु वदिक ब्राह्मण यज्ञबलियो का गोमास खाकर ही मुटाते थे। शतपथ ब्राह्मण के प्रसिद्ध परिच्छेद म कमकाण्डीय तर्क पेश किये गये हैं कि गाय और बल (अनडुह साँड के बारे म कुछ नही कहा गया है) का मास क्यो नही खाना चाहिए। परन्तु यह समूचा परिच्छेद याज्ञवल्क्य के प्रमुख ब्राह्मण-दल के एक मुँहफट किन्तु जन हैरानी म डालने वाले इस कथन म समाप्त होता है—सम्भवत यह सब ठीक है, परन्तु जब तक (मेरे) बदन पर मास (डाला जाता) रहेगा तब तक मैं उसे खाता रहूँगा।[1] जब विभिन्न ब्राह्मणो के पूरक ग्रन्थो के रूप म उपनिषदो की रचना हुई तो किसी भी रद्दोबदल को प्रत्यक्षत स्वीकार नही किया गया परन्तु ब्राह्मण-ग्रन्थो के अन्तर्विषय पूर्णत बदल गये। यज्ञ का उल्लेख अब आमतौर पर ऊटपटाँग व्याख्याओ के साथ एक प्रकार के रहस्यवादी दशन को पेश करने के लिए होने लगा, यज्ञ के मूल रक्तपाती अनुष्ठान को भुला

1 तस्माद्धेनवनडुहोर्नाश्नीयात तदुहोवाच याज्ञवल्क्योऽश्नाम्येवाह मासल चेद्भवतीति।
—शतपथ ब्राह्मण ३।१।२।२१

दिया गया। औपनिषदिक ब्राह्मण सिन्धु नदी के पास क अथवा उसके पश्चिमी प्रदेश म अपना अध्ययन समाप्त करन के बाद यज्ञ का 'अ तरग महत्त्व' समझने के लिए अब अश्वपति कैकेय और प्रवाहण जवलि जस पूर्वी प्रदश क क्षत्रियो के पास जान लगे थ। ब्रह्म नामक एक नई सकल्पना का उदय हुआ और इस अपरिभाषित दिव्य सारतत्त्व की उपलब्धि को सभी अन्य मानवीय क्रियाकलापो स श्रेष्ठतर बताया गया। उपनिषदो म शेष जो सवाल उठाये गये है, वे ठीक वही हैं जिनका ईसा पूव छठी सदी के गागेय प्रदेश के दाशनिको ने विवेचन किया है आत्मा यदि है तो उसका स्वरूप क्या है ? मत्यु के बाद मनुष्य का क्या होता है ? मनुष्य के लिए परम कल्याण का माग कौन सा है ? बौद्ध अथवा अन्य किसी ब्राह्मण विरोधी धार्मिक सम्प्रदाय का कही कोई उल्लेख नही किया गया। इससे बहुतो ने यह निष्कष निकाला है कि सभी प्राचीनतम उपनिषद बुद्ध के पहले रचे गये है। शतपथ ब्राह्मण से सलग्न उपनिषद[1] म आये भूतपूव काशिराज अजातशत्रु क उल्लेख से स्पष्ट होता है कि यह बात हर उपनिषद के बारे म सही नही है, क्योकि अजातशत्रु बुद्ध का समकालीन और उनसे आयु म छोटा था। दरअसल, इसा पूव छठी सदी के वातावरण मे ही नये सिद्धान्तो का प्रादुर्भाव हुआ है।

गोमास भक्षण के निषेध के आर्थिक मूलाधार को सिद्ध करन के लिए यहाँ दो उद्धरणो को प्रस्तुत करना ही पर्याप्त होगा। बुद्ध वचन समझी जान वाली प्राचीन गाथाएँ है 'माता पिता और दूसरे सगे-सम्बन्धियो की तरह गाय-बल हमारे बन्धु हैं क्योकि खेती की उपज इन्ही पर निभर है। इनसे हम अन्न, बैल, शरीर-सौष्ठव और सुख प्राप्त होता है। इस जानकर ही प्राचीन काल के ब्राह्मण गोवध नही करते थे (सुत्तनिपात, २६५-६)[2]। निषध के पूववर्ती दिनो मे गोमास भक्षण को पाप समझन का कोइ सवाल ही नही था। हुनान प्रान्त के किसान विद्रोह के सम्बन्ध म माओ त्से तुग की माच १६२७ की रिपोट मे कहा गया है बल तो किसानो की बहुमूल्य सम्पत्ति है। चूकि यह प्राय एक धार्मिक मत ही है कि इस जन्म मे मवेशियो का वध करन वाले अगले जन्म म स्वय मवेशी बनेंगे, इसलिए बलो की कभी हत्या नही करनी चाहिए। किसानो द्वारा सत्ता प्राप्त करन क पहले उनके पास धार्मिक निषेध के अलावा मवेशियो के वध को रोकने का कोई उपाय नही था। किसान-सभाओ की स्थापना होने के

---

१ बृहदारण्यक उपनिषद्।

२ यथा माता पिता भाता अञ्ज वापि च आतका।
गावो नो परमा मित्ता यास जायन्ति ओसधा॥
अन्नदा बलदा चेता वण्णदा सुखदा यथा।
एतमत्थवस ञत्वा नास्सु गावोहनिसु ते॥

बाद उन्होंने गोधन के सवाल को भी अपने अधिकार-क्षेत्र में ले लिया और शहरों में इनकी हत्याएँ रोक दी। जिला-नगर हसियागतान में गोमांस की जो छह दुकानें थीं उनमें से पाँच अब बन्द हो चुकी हैं, और बाकी एक में केवल बीमार और अपाहिज मवेशियों का मांस बेचा जाता है। हुंगशान के पूरे जिले में गोवध पर रोक लगा दी गयी है। एक किसान की गाय का गिरने से पैर टूट गया, तो उसे मारने के लिए उस किसान को किसान-सभा से अनुमति लेनी पड़ी ।"

चीनी किसान गाय के दूध, मक्खन, पनीर या दही का इस्तेमाल नहीं करते और सम्भवत इसीलिए भारतीय और चीनी किसानों की स्थितियों में अंतर पाया जाता है।

एक सार्वभौम राजतन्त्र के विकास के ठीक समतुल्य होता—अतिनियमबद्ध एकात्मक कर्मकाण्ड वाला कोई अकेला व्यापक धर्म। परन्तु जिस समाज की हम चर्चा कर रहे हैं उसमें, अत्यधिक बल प्रयोग के बिना, ऐसे धर्म का अस्तित्व में आना असम्भव था। जिन लोगों को सह-बन्धन के लिए एक पृथक् सह-कर्मकाण्ड अपरिहार्य था जैसाकि भारत में आज भी कर्मकाण्डीय अनुष्ठानों के बारे में देखने को मिलता है उन्हें विस्तृत मागध वन में शरण मिल सकती थी। पूर्व के नये उपदेशकों ने इन सब कर्मकाण्डों की कोई परवाह नहीं की और नीची-से-नीची जाति के व्यक्ति के हाथ से पकाया भोजन ग्रहण करके अथवा दूषित उच्छिष्ट भोजन तक खाकर, कठोरतम निषेधों को तोड डाला। इस बात का ठीक अर्थ उस व्यक्ति को समझाना कठिन है जो यह नहीं जानता कि अधिकांश भारतवासी भूखे रहना अथवा मर जाना पसन्द करेंगे परन्तु उच्छिष्ट अथवा किसी नीची जाति के हाथ का बना भोजन नहीं खायेंगे। इन विविध नये सम्प्रदायों के प्रवर्तक और उनके श्रमण अनुयायी (गृहस्थ उपासक नहीं) अधिकतर भिक्षा माँगकर ही जीवन निर्वाह करते थे। मूलत यह अन्न-संकलन की अवस्था में लौटना था। बहुत-से तपस्वी अरण्य में एकान्त जीवन बिताने लगे। वे किसी प्राणी की हत्या न करके वनस्पति जगत से ही आवश्यक आहार प्राप्त करते थे। ये घोर तपस्वी गृहस्थों से केवल नमक ही स्वीकार करते थे। ब्रह्मचर्य-पालन और सम्पत्ति के त्याग के फलस्वरूप इन नये उपदेशकों का जीवन एक संग्रहशील समाज के लाभी यान्त्रिक ब्राह्मणों की तुलना में कहीं अधिक मितव्ययी था। यजुर्वेदिक और बाद के ब्राह्मण असीम मात्रा में प्रचुर दक्षिणा की कामना करते थे और उन्होंने पौराणिक राजाओं से ऐसी दक्षिणाएँ प्राप्त होने का दावा भी किया है अनगिनत हाथी, मवेशी, रथ, सुन्दर दासियाँ और बहुत-सा स्वर्ण। इस नयी तापस-चर्या का स्वयं ब्राह्मण-वृत्ति पर जो गहरा प्रभाव पड़ा, उसकी छाप अमिट रही उसके बाद से निर्धनता और तप की गिनती उच्च आदर्शों में होने लगी। उपनिषदों में भी उल्लेख मिलता है कि एक भूखा मरते ब्राह्मण ने

नीची जाति के एक महाव्रत से उच्छिष्ट अन्न ग्रहण किया था। ऐसे ही एक ब्राह्मण ने अन्न के लिए श्वान टोटेम वाले आदिवासियों के गीत-नृत्य पर ताक लगायी थी। पूर्ववासियों के लिए यज्ञ का महत्त्व केवल सिद्धान्त रूप में रह गया था भविष्य के ब्राह्मण अन्ततः सभी जातियों की पुरोहिती करने लगे और अपनी आजीविका के लिए नयी पूजाओं को पुराने रूपों में ढालने लगे—और साथ-साथ वेदों की दुहाई भी देते रहे।

५ २ मध्यम मार्ग

कालान्तर के प्रमुख भारतीय दार्शनिक मतों के मूल ई०पू० छठी सदी में स्पष्ट रूप से देखे जा सकते हैं। अजित केसकम्बली ने एक पक्के भौतिकवादी सिद्धान्त का प्रचार किया अच्छे या बुरे कर्मों का आदमी को अन्त में कोई फल नहीं मिलता। आदमी चाहे जो करे, मरने पर उसका शरीर भूतों में विलीन हो जाता है। कुछ भी शेष नहीं रहता। पाप और पुण्य तथा दान और दया का मनुष्य की नियति से कोई सम्बन्ध नहीं है। लोकायत मत ने जिससे बाद में मगध के शासन तन्त्र के निष्ठुर सिद्धान्तों का विकास हुआ अजित से बहुत-कुछ ग्रहण किया यद्यपि भारतीय भौतिकवाद में विशिष्ट ख्याति चार्वाक की ही है परन्तु चार्वाक की मूल शिक्षाएँ आज उपलब्ध नहीं है। पकुध कात्यायन ने महाभूतों की सूची (सामान्यतः पृथ्वी अप तेज और वायु) में तीन और भूत जोड़े सुख दुःख और जीव। इन्हें भी न पैदा किया जा सकता है न ही नष्ट किया जा सकता है। जीवन का अन्त करता प्रतीत होने वाला तलवार का आघात मांस-मज्जा के अवकाश में धातु का प्रवेश मात्र है वह मनुष्य का प्राण नहीं ले सकता। इसमें परवर्ती वैशेषिक दर्शन का उद्‌गम हो सकता है। पूरण कस्सप (कस्सप ब्राह्मण गोत्र) ने सम्भवतः उस सांख्यमत की नींव डाली जिसके अनुसार आत्मा शरीर से पृथक है, और शरीर के बनने बिगड़ने का आत्मा पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। पता चलता है कि बाद में पूरण कस्सप का सम्प्रदाय मक्खलि गोसाल के सम्प्रदाय में शामिल हो गया। मक्खलि गोसाल का मत था कि आत्मा को अनेकानेक पुनर्जन्मों के पूर्वनिर्धारित अटल चक्र से गुज़रना ही पड़ता है फिर हर जन्म में जिस शरीर से वह सम्बन्धित होता है उसके कर्म चाहे जो हों।

जैन महावीर ने उन चार व्रतों को अपनाया जो उनके पूर्ववर्ती पार्श्व द्वारा प्रवर्तित माने जाते हैं अहिंसा अचौर्य अपरिग्रह और अमृषा। इनमें पांचवां व्रत अमैथुन उन्होंने और जोड़ दिया। महावीर यद्यपि श्रेष्ठ लिच्छवि कबीले के क्षत्रिय कुल में पैदा हुए थे परंतु कठोर तपस्या और निरन्तर ध्यान द्वारा ही वह ज्ञान की चरमावस्था पर पहुँचे थे। उन्होंने पार्श्व द्वारा विहित तीन चादरों वाले चोगे को भी त्याग दिया और अचेल दिगम्बर हो गये। उनके अनुयायी पानी भी कपड़े से छाने बिना नहीं पीते थे इस भय से कि कहीं जीवहिंसा न हो जाये।

थोडी असावधानी से भी जीव-जन्तु की हत्या का भय था। श्वास भी कपडे से छनकर ही भीतर जाती थी यह व्यवस्था स्वास्थ्य के लिए नही, बल्कि इसलिए थी कि हवा म विद्यमान जीवो की रक्षा हो। चिलचिलाती धूप और वर्षा मे शरीर को कष्ट पहुँचाने की प्रथा जना म ही नही उस जमाने के अय अनक उपदेशको तथा सम्प्रदायो म भी थी। गोसाल भी नगा रहता था, और मद्य पान तथा उच्छ खल यौनाचार के अनुष्ठान भी करता था जिनका उद्गम निस्सन्देह प्रजनन-सम्बन्धी समकालीन आदिम अनुष्ठान विधानो से हुआ था। कालान्तर के तान्त्रिक अनुष्ठानो का उद्गम भी यही था, परन्तु उन पर सदा आचरण नही होता था और प्राय रहस्यात्मक व्याख्या तथा अहानिकर प्रतीकात्मकता द्वारा उनका परिष्कार हो जाता था। यह स्मरण रखना जरूरी है कि, एसी उपान्तीय आबादी का सदव अस्तित्व रहा है जिसे जादू-टोना, प्रजनन-सम्बन्धी अनुष्ठान और गोपनीय कबीलाइ पूजा विधान आवश्यक लगते थे। शासकीय 'सभ्य' धम स असन्तुष्ट लोग मुस्लिम युग तक के समूचे काल म और बाद म भी, इन गोपनीय अनुष्ठानो को इस विश्वास के साथ सीखते और करत रहे कि इनस उन्ह कोई अपूव शक्ति प्राप्त होगी, अथवा कम-स-कम मुक्ति का कोई सुगम माग मिलेगा। गोसाल के आचरण को उसके समय म ही अश्लील आत्मासक्ति समझा जाता था यद्यपि यह जानकारी हम उसके विरोधियो के ग्रथो में मिलती है। कबीलाई ओझा या वद्य के अनुष्ठानो ने तपस्वी के जीवन पर अपना प्रभाव कन्दमूलफल खाने के रूप म छोडा दीघकाल तक भोजन व पानी का त्याग, प्राणायाम अनिवार्य आसनो म शरीर को साधना—यह तथा अन्य अनेक निरथक क्रियाए दिव्य शक्तियाँ प्रदान करनेवाली समझी जाती थीं। समझा जाता था कि सच्चे साधक को अदृश्य होने अथवा इच्छानुसार हवा म उडन की सिद्धि प्राप्त हो जाती है। बाद की योग क्रियाएँ और शरीरासन इसी से विकसित हुए। जो लोग गरम जलवायु म रहते हैं और जिन्ह कठोर शारीरिक परिश्रम करने की आदत नही है उनके लिए एक सीमा के भीतर योग एक अच्छी व्यायाम पद्धति है। इसम मनुष्य को अधिक-से-अधिक शरीर की स्वाभाविक क्रियाओ पर थोडा बहुत नियन्त्रण और सुस्वास्थ्य ही प्राप्त हो सकता है परन्तु दवी शक्तियाँ नही।

बौद्ध धम इन दो छोरो के बीच का माग था बेलगाम व्यक्तिवादी आत्मासक्ति और उतना ही व्यक्तिवादी किन्तु निरथक तापसी शरीरदण्ड। इसीलिए बौद्धधम का लगातार उत्थान हुआ और इसे 'मध्यम माग' नाम दिया गया।

बौद्धधम का सारतत्त्व है—आय अष्टांगिक माग। आठ में से पहली सीढी है सम्यक दृष्टि यह ससार मनुष्य जाति की अनियन्त्रित तृष्णा लोभ व अर्थलिप्सा स जनित दुख से व्याप्त ह। इस तृष्णा का क्षय करने मे ही सबको शान्ति मिल सकती है। आय अष्टांगिक माग इस लक्ष्य की प्राप्ति का उपाय है। इसी को

सम्यक दृष्टि कहते है। दूसरी सीढी है सम्यक सकल्प दूसरो से छीनकर अपनी सत्ता व सम्पत्ति न बढाना, कामोपभोग म लिप्त न होना दूसरो के साथ पूर्ण मैत्री करना और दूसरो के सुख-सन्तोष म वृद्धि करना—यही है सम्यक सकल्प। तीसरी सीढी है सम्यक वाचा असत्य भाषण, चुगली, गाली, वृथा बकवास आदि असत वाणी के कारण समाज का सगठन बिखर जाता है और झगडे पैदा होकर वे कलह व हिंसा का कारण बन जाते हैं। अत सत्य, परस्पर सख्य साधनवाला प्रिय एव मित भाषण करना उचित है। चौथी सीढी है सम्यक कर्मान्त प्राणघात चोरी व्यभिचार आदि कर्म काया द्वारा हो जायें तो उनसे समाज म बडे अनर्थ होंगे। अत प्राणघात चोरी, व्यभिचार आदि कर्मों म अलिप्त रहकर ऐसे ही काय-कर्मों का आचरण करना चाहिए जिनसे लोगो का कल्याण होगा। पाँचवीं सीढी है सम्यक आजीव अपनी उपजीविका इस प्रकार चलाना जिससे समाज को हानि न पहुँचे। उदाहरण के लिए, गृहस्थ को चाहिए कि वह मद्य विक्रय हत्या के लिए जानवरो का लेन-देन आदि व्यवसाय न करे। उसे चाहिए कि वह केवल शुद्ध व सच्चे तरीको से ही जीविका कमाये। छठी सीढी है सम्यक व्यायाम मन म बुरे विचार न आने देना जो बुरे विचार मन म आये हो उनका नाश करना, मन म सुविचार उत्पन्न करने की पूरी चेष्टा करना और जो सुविचार मन म उत्पन्न हुए हो उन्हें बढाकर पूर्णता तक पहुँचाने का प्रयत्न करना—इन्ही मानसिक प्रयत्नो को सम्यक व्यायाम कहते है। सातवीं सीढी है सम्यक स्मृति शरीर मलिन पदार्थों का बना है, यह विवेक सदैव जाग्रत रखना, शरीर की सुख दु खादि वेदनाओ का बार बार अवलोकन करना स्वचित्त का अवलोकन करना और इन्द्रियो एव उनके विषयो से कौन से बन्धन उत्पन्न होते है तथा उनका नाश कैसे किया जा सकता है—आदि मनोधर्मो का अच्छा विचार करना। आठवीं सीढी है सम्यक समाधि यह ध्यान द्वारा चित्त को एकाग्र करने की एक सुनियोजित प्रणाली है। सक्षेप मे, बौद्ध धर्म म इसका वही स्थान है जो यूनानी शरीर के लिए व्यायाम (जिम्नस्टिक्स) का था।

स्पष्टत यह धर्म सबसे अधिक सामाजिक था। बुद्ध-वचन समझे जानेवाले अनेकानेक प्रवचनो में आर्य-अष्टांगिक मार्ग की विविध सीढियो को व्यवहार म लाने के तरीके बडी सावधानी से विकसित करके समझाये गये हैं। भिक्षुओं के लिए कुछ खास नियम अनिवार्य थे जैसे ब्रह्मचर्य जिनका पालन गृहस्थ के लिए जरूरी नही था। बौद्ध सघ का नियोजन कबीलाई ढाचे के अनुकरण पर हुआ था और उसकी सभाओ का सचालन भी कबीलाई सभा परिषदो के अनुरूप होता था। बुद्ध के जीवन-काल म उनके सघ म भिक्षुओ की सख्या ५०० से अधिक नही रही होगी और न इस बात का कोई विश्वसनीय प्रमाण मिलता है कि बुद्ध के जीवन-काल म वे सभी किसी एक स्थान पर एकत्र हुए थे। भिक्षु सघ के नियम

त्रिपिटक क एक विशिष्ट खण्ड—विनय पिटक—म सकलित हैं और इनकी प्रामाणिकता इह बुद्ध-वचन मानकर सिद्ध की जाती है। परन्तु इनमे स अधिकतर नियम स्पष्टत कालातर के हैं यद्यपि ये बुद्ध की मृत्यु के बहुत बाद के नही है। बुद्ध के जीवनकाल मे, और बाद म भी लम्बे अर्से तक, छह या अधिक भिक्षुओ का समूह यदि चाहे तो, अपने विशिष्ट नियम बना सकता था और शेष सघ के बिना किसी हस्तक्षेप के, अपना पथक अनुशासन चला सकता था, बशर्ते कि वह मुख्य धार्मिक मतो को मानता रहे। भिक्षु को अपने पास एक भिक्षापात्र एक लोटा पहनने के लिए सादे, सजावट से रहित (प्राय चीथडा को जोडकर बनाये गये) अधिक से अधिक तीन चीवर, तलपात्र उस्तरा सूई व धागा तथा एक दण्ड के अलावा और कोई सम्पत्ति रखन की अनुमति नहीं थी। नाजुक परिस्थिति मे कुछ भिक्षुओ को सादी चप्पलें पहनने की अनुमति थी। भिक्षु यद्यपि गाव या नगर मे भिक्षा माँग सकता था, परन्तु बचे खुचे उस अन्न को, (जो स्वाद-सुख को कम करने के लिए मिला दिया जाता था) दिन म सिफ एक बार मध्याह्न के पहले खा लेना जरूरी था। भिक्षु को किसी गहस्थ के घर एक रात के लिए भी रहने की अनुमति नही थी (बाद म इसे बदलकर तीन या कम रातें रहने की अनुमति दी गयी)। उसका निवास होता था बस्ती के बाहर किसी कुज में, गुफा (मूलत नसर्गिक गुफा) म पेड के नीचे, अथवा ऐसे श्मशानागार म जहाँ शवा को पशु पक्षिया द्वारा खाने के लिए फेंक दिया जाता था, या कभी-कभी जलाया जाता था। य ठीक वही स्थान थे जहाँ जादुई शक्तियाँ प्राप्त करने के लिए अत्यन्त बीभत्स आदिम अनुष्ठान यहाँ तक कि नर मास भक्षण जस अनुष्ठान भी किये जाते थ। भिक्षु को आदेश था कि वह ऐस भयावह दश्या स विचलित न हो बल्कि दढ सकल्प से ऐस सभी सकटा पर विजय प्राप्त करे। वर्षा ऋतु के तीन चार महीनो म उसे एक स्थान पर रहना पडता था। अयथा, उसे लोगा को उपदेश देते हुए सदव पदल (रथ, हाथी, घाडा गाडी अथवा किसी भारवाहक पशु पर सवार होकर नही) चलत रहन का आदेश था। अय मनुष्य से दूषित अन्न ग्रहण करने सम्बन्धी उनके लेखबद्ध वाद प्रतिवाद से प्रमाणित होता है कि स्वय बुद्ध की तरह आरम्भिक भिक्षु भी कुशल अन्न सकलनकत्ता थ। वे वीरान प्रदेशो की लम्बी यात्राओ स घबराते नही थे। सामायत वे किसी साथ के साथ यात्रा करत थे, फिर भी रात व उनके पडाव से दूर बिताते। बौद्ध भिक्षु के लिए *लाभ अथवा कृषि के लिए श्रम करना* वर्जित था भिक्षा माँगकर अथवा जीवहत्या किय बिना जगनो से अन्न सकलन करने का उसके लिए विधान था। केवल इस रास्ते पर चलकर वह अपने सामाजिक कत्तव्या को पूरा कर सकता था और जनता को सही माग पर ले चलन क अपने दायित्व को निभा सकता था। उसका अपना कल्याण था जन्म-

मरण के चक्र से मुक्ति, अर्थात् निर्वाण प्राप्ति में, यानी एक ऐसे रहस्यमय आदर्श में, जिसकी स्पष्ट व्याख्या कहीं देखने को नहीं मिलती।

बुद्ध ने आत्मा के अस्तित्व या अनस्तित्व-सम्बन्धी प्रश्नों का कोई उत्तर नहीं दिया है। लेकिन पुनर्जन्म तथा जन्म-जन्मांतर (फिर यह पुनर्जन्म व्यक्तित्व के किसी भी अंग का हो) का सिद्धान्त उस समय के समाज को स्वाभाविक जान पड़ता था। वेदों और उपनिषदों में यह सब नहीं था। यद्यपि यह सिद्धान्त उस आदिम धारणा में, जिसके अनुसार मृत व्यक्ति का टोटेम पशु में प्रत्यावर्तन होता है, केवल एक चरण भाग था, पर यह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण चरण था। एक विशिष्ट पशु में ऐसा आदिम प्रत्यावर्तन अनिवार्य था, यह व्यक्ति की इच्छा पर निर्भर नहीं था। बौद्ध पुनर्जन्म कर्म पर मनुष्य के जीवन भर के कार्यों पर निर्भर था। कर्म, पुण्यफल के रूप में न केवल उपार्जित धन अथवा जमा की गयी फसल के समान था, बल्कि यह बीज अथवा ऋण की तरह उपयुक्त समय पर फल देनेवाला भी था। प्रत्येक प्राणी ऐसे कुछ कर्म करता है जो उस मृत्यु के बाद उपयुक्त योनि में जन्म लेने में योग देते हैं—यदि कर्म अच्छे हों तो अच्छी योनि में और कर्म यदि बुरे या निकृष्ट हों तो क्षुद्र योनि में, जैसे, किसी कीड़े या पशु की योनि। देवता भी इस कर्म प्रभाव से मुक्त नहीं थे। पहले के कर्मों का क्षय होने पर स्वयं इन्द्र का भी अपने विशिष्ट स्वर्ग से पतन सम्भव था। दूसरी ओर एक सामान्य मनुष्य भी देवलोक में पहुँचकर इन्द्र बन सकता था और स्वर्ग के सुख को युगों तक भोग सकता था पर अनन्त काल तक नहीं। बुद्ध तथा अर्हन्त भिक्षु इस जन्म मरण और पुनर्जन्म के अनादि-अनन्त चक्र से मुक्ति पा चुके हैं। अष्टांगिक मार्ग तथा मध्यम मार्ग का अनुकरण करके, अर्थात् परिग्रह एवं सांसारिक मोह का त्याग करके, सुस्थिर चित्त और मैत्रीभाव से परस्पर विरोधी व्यक्तिगत तृष्णाओं की भूलभुलैया से स्वयं निकलकर मानव जाति का सही मार्गदर्शन करने में जुटा हुआ श्रेष्ठ भिक्षु ही निर्वाण पद को प्राप्त हो सकता है।

५.३ बुद्ध और समकालीन समाज

बुद्ध के जीवन की संक्षिप्त रूपरेखा को जानना यहाँ उपयोगी होगा न केवल कालान्तर की ढेर सारी किंवदन्तियों के नीचे दबे हुए मूल तथ्यों तक पहुँचने के लिए बल्कि उनके युग की सामाजिक स्थिति को समझने के लिए भी। उनका जन्म-नाम गोतम था बाद में उनके अनुयायियों ने इसके साथ सिद्धार्थ जोड़ दिया। शाक्य (सक्क) नामक एक छोटे अविभक्त क्षत्रिय कबीले में उनका जन्म हुआ था। ये शाक्य लोग आर्य परिवार की भाषा बोलते थे और अपने को आर्य कहते थे। पालि का ठीक यही सक्क शब्द ईसा पूर्व छठी सदी के हखामनि सम्राट दारयवहु (दारा या डरियस) प्रथम के शिलालेखों के एलामी पाठ में भी

देखने को मिलता है, एलामी कबील पर उसकी विजय की स्मृति में यह लेख खुदवाया गया था। सम्भव है कि एक ही शब्द के इन दो उल्लेखों में कोई सीधा सम्बन्ध न हो किन्तु शाक्यों का आर्य मूल विश्वसनीय हो जाता है। इस कबीले में कोई ब्राह्मण या जातीय वर्ग नहीं थे, न ही इस बात का कोई उल्लेख मिलता है कि शाक्य लोग उच्च वैदिक कर्मकाण्ड का पालन करते थे। शाक्य क्षत्रिय थे और आवश्यकता पड़ने पर शस्त्र धारण भी करते थे पर वे खेती भी करते थे। सभी शाक्यों ने, बुद्ध के पिता ने भी हल चलाया है। इसके अलावा, अपने क्षेत्र के बाहर उनके कुछ व्यापारी उपनिवेश (निगम) भी थे। शाक्यों के मुखिया का चुनाव बारी-बारी से होता था। इसी कारण बाद में कथा गढ़ी गयी कि बुद्ध राजकुमार थे और उन्होंने भव्य राजप्रासादों में सुख भोग का जीवन बिताया। वस्तुतः मुखिया चुने जाने योग्य हर क्षत्रिय व्यक्ति 'राजन्य' कहलाता था। शाक्य आमतौर पर अपने सभी मामले स्वयं सँभालते थे, पर जीवन और मृत्यु का मामला उनके अधिकार में नहीं था। यह अधिकार उनके अधिनायक कोसलराज (उस समय पसेनदि संस्कृत में प्रसेनजित्) को था जिसके आधिपत्य को शाक्यों ने स्वीकार कर लिया था। इस मामले में उनकी स्थिति मल्लों और लिच्छवियों जैसे अधिक शक्तिशाली एवं पूर्ण स्वतन्त्र आर्य कबीलों से भिन्न थी। इन आयुधजीवी कुलतन्त्रों पर तत्कालीन यूनानी गणतन्त्रों की भाँति, किसी बाह्य राजा का आधिपत्य नहीं था, और ये भी अपने मुखिया का चुनाव बारी-बारी से करते थे। बुद्ध की जन्मतिथि की जानकारी बहुमूल्य सिद्ध होती और हमारे तिथिक्रम के लिए संदर्भ बिन्दु बनती। उनकी मृत्यु ८० साल की आयु में हुई। एक भारतीय परम्परा के अनुसार उनकी मृत्यु ५४३ ई० पू० में हुई थी परन्तु जो उल्लेख मिलते हैं उनमें साठ वर्ष का अन्तर पाया जाता है जिसका कोई स्पष्टीकरण नहीं, सिवाय इसके कि भारत तथा एशिया की अन्य कई कौमें वर्षों की गणना ६० वर्ष के एक पूर्ण कालचक्र को आधार मानकर करती थीं। ई० पू० ४८३ की तिथि बाद की घटनाओं के तिथिक्रम को देखते हुए काफी संगत जान पड़ती है, और इसकी पुष्टि ताड़पत्र पर लिखित उस भारतीय हस्तलिपि में भी होती है जिस पर बुद्ध निर्वाण के बाद प्रत्येक वर्ष को एक एक बिन्दु से अंकित किया गया है। चीनी उल्लेखों में इस हस्तलिपि के भारत से कण्टन पहुँचने की तिथि दी हुई है।

आदिम और अत्यन्त अविकसित, छोटा-सा शाक्य क्षेत्र बस्ती और गोरखपुर जिलों में आजकल की भारत-नेपाल सीमा के दोनों ओर था। शाक्यों के कोलिय पड़ोसियों ने बुद्ध के उपदेश सुने थे, और उन्होंने बुद्ध के दाह संस्कार के बाद उनकी अस्थि धातुओं के एक भाग की माँग की थी। फिर भी, उनमें से अनेक उस समय कबीलाई जीवन की अधिक आदिम अवस्था में थे, उनके कबीले का टोटम

कोल वृक्ष था। उनमे से कुछ लोग वृषभ टोटेम से सम्बन्धित निजी अनुष्ठानो को भी करते थे। अतः कोलिया की गिनती आमतौर पर आदिवासियो मे होती थी और उन्हे नाग जाति का समझा जाता था। रोहिणी नदी के पानी को लेकर शाक्यो और कोलियो का झगडा था। आर्यो के युद्ध-सम्बन्धी सभी नियमो की उपेक्षा करके रोहिणी के पानी को विषाक्त करने मे शाक्यो को कोई अनुताप नही हुआ। स्वय बुद्ध का जन्म मातृदेवी लुम्बिनी को समर्पित साल वृक्षो के कुज मे हुआ था—उनकी माता मायादेवी द्वारा समीप ही के शाक्यो के पवित्र पुष्कर (कृत्रिम कमलताल) मे स्नान करने के तुरत बाद। साल शाक्यो का टोटेम वृक्ष था और इसीलिए मायादेवी (जिनकी गोतम के जन्म के एक सप्ताह बाद ही मृत्यु हो गयी थी।) ने उस समय प्रचलित सभी अनुष्ठानो का वैसे ही पालन किया जैसे कि सभी वर्गों की भारतीय स्त्रियाँ समूचे ऐतिहासिक युग मे करती आयी हैं। उस स्थान पर लुम्बिनी देवी की पूजा बहुत-कुछ उसी नाम (रुम्मिन देई) से उन लोगो द्वारा आज भी होती है जो बुद्ध को एकदम भूल चुके है।

बालक गोतम ने एक सामान्य शाक्य क्षत्रिय कुमार की तरह शस्त्रविद्या, अश्व व रथ सचालन तथा कबीले के रीति रिवाजो की शिक्षा प्राप्त की थी। कच्चाना नामक शाक्य कुमारी से उनका विवाह हुआ था और उनके राहुल नामक एक पुत्र हुआ था। परन्तु नई विचारधाराओ के प्रभाव से उनमे जीवन की समस्याओ को सुलझाने की मानव जाति के दुःखो के कारणो को समझकर इनके निवारण का उपाय सोचने की उत्कण्ठा जगी। उनतीस साल की आयु मे राहुल के जन्म के शीघ्र बाद गोतम ने अपने घर और कबीले का त्याग किया उन्होने अपने केश काट डाले तपस्वी का वेश धारण किया और मानव जाति की मुक्ति के मार्ग की खोज मे जुट गये। आरम्भ मे विभिन्न उपदेशको से और फिर स्वानुभव से ज्ञान प्राप्त करने मे उन्होने करीब छः साल व्यतीत किये, पर इससे उन्हे सन्तोष नही हुआ। तब उन्होने एक सामान्य भिक्षु का जीवन त्यागकर घोर शारीरिक तपस्या का मार्ग अपनाया जिसके लिए वह कभी कभी पूर्णतः निर्जन घने जगलो मे भी एकान्तवास करते थे। अन्त मे गया के समीप नरजरा नदी के तट के पास एक पीपल के वृक्ष के नीचे वह आसन लगाये बैठे थे तो उन्हे तत्त्वबोध हुआ। इस पीपल के पास पहले सम्भवतः कोई पूजा-स्थल था बाद मे यह एक प्रख्यात तीर्थ स्थल बन गया। इस वृक्ष की शाखाएँ सुदूर श्रीलका और सम्भवतः चीन तक ले जाकर रोपी गयी। बुद्ध ने अपना पहला उपदेश वाराणसी के समीप के सारनाथ (इसिपतन) स्थान पर अपने उन पाच भूतपूर्व शिष्यो को दिया था जो उन्हे कठोर व्रतो का त्याग करने के कारण निराश होकर छोड गये थे। अपने जीवन के शेष पैतालीस साल उन्होने पैदल घूम घूमकर जनता को अपने नये ज्ञान का उपदेश देने मे बिताये केवल वर्षावास के लिए ही वह एक स्थान

पर टिकते थे। कभी-कभी, किसी महत्त्वपूर्ण सामाजिक समस्या पर विचार करने के लिए वह एकान्तवास करते थे। बाद के जीवन मे, एक युवा भिक्षु आनन्द उनके साथ रहते थे और उनकी सादी दिनचर्या के अनुरूप उनकी देखभाल करते थे। परम्परा है कि आनन्द ने बुद्ध के उपदेशो को स्मरण रखा और बाद म उन्हे दोहराया, बुद्ध के जीवन-काल म उनके वचनो को लिपिबद्ध नही किया गया था। बुद्ध ने अपने सर्वाधिक उपदेश कोसल देश की राजधानी सावत्थी म दिये। बुद्ध ने कौसम्बी से काफी दूर के प्रदेशो की यात्राएँ नही की थी, सम्भवत वह यमुना-तट पर स्थित मथुरा तक भी नही पहुँचे, यद्यपि कुरु देश वह एक से अधिक बार पहुँचे थे। दूसरी दिशा म वह अनेक बार राजगिर व गया होकर गुजरे और उन्होने गगा के दक्षिण म मिर्जापुर के समीप नये साफ किये गये दक्खिणागिरि क्षेत्र की भी यात्रा की थी। उनके रूप रग के बारे मे कोई प्रामाणिक जानकारी नही मिलती। उस समय का उनका कोई चित्र नही मिलता। वास्तव म, बुद्ध निर्वाण के बाद सदिया तक उन्ह एक वक्ष, उनके पादचिह्नो अथवा धमचक्र के प्रतीको द्वारा दरशाया गया है जसे कि भारहुत के शिल्पो मे। भ्रमणशील जीवन और सादे तथा मित आहार के फलस्वरूप अपने दीघ जीवन-काल म वह स्वस्थ रहे, उनके बीमार पडने के बहुत कम उल्लेख मिलते हैं। यद्यपि उन्होन अपने वद्ध शरीर के बारे मे हँसी म कहा था 'जैसे बास के टुकडे जोड देने स टूटा-फूटा छकडा किसी तरह चलता है, वैसे मेरा शरीर जसे-तस चल रहा है' पर लगता है कि उनहत्तर साल की आयु म उन्होने पटना के समीप गगा नदी को तैरकर ही पार किया था, जबकि उनके कम साहसी शिष्य पार पहुँचने के लिए नावो और बेडा की तलाश करते रहे। बुद्ध जब राजगिर से सावत्थी जा रहे थे तो मल्ला की नगरी कुसीनारा म उनकी मत्यु हुई।

बुद्ध को सकटो और जोखिमो का भी सामना करना पडा। दक्खिणागिरि मे और मथुरा के पास एस क्रूर यक्षपूजक थे जो अजनबी लोगो को पकडकर उनसे प्रश्न पूछते थे और सन्तोषजनक उत्तर न मिलने पर उनकी बलि चढा देते थे। बुद्ध ने इनम से कुछ यक्षों (सम्भवत इनके मानवीय प्रतिनिधियो) का हृदय-परिवतन करके इन्ह रक्तहीन बलि को अपनाने के लिए विवश किया। बुद्ध अभी तरुण थे और उन्हें प्रसिद्धि नहीं मिली थी तभी राजा बिम्बिसार न, यह पता लगाकर कि सुगठित शरीर व तेज कान्तिवाला यह युवा भिक्षु प्रशिक्षित क्षत्रिय है उन्हें मगध का सेनापति बनाना चाहा था। बुद्ध ने इस पद का अस्वीकार किया, फिर भी राजा के साथ उनकी मैत्री बनी रही। मागन्दिय नामक ब्राह्मण ने बुद्ध की जाति तथा ब्रह्मचय व्रत का कोई खयाल नही किया और अपनी सुवण वर्णा कन्या का विवाह उनसे करना चाहा। बुद्ध ने इनकार कर दिया। बाद म उस सुन्दरी कन्या का एक राजकुमार स विवाह हुआ वह जीवन भर के लिए

बुद्ध की शत्रु बन गयी और उनसे बदला लेने का प्रयत्न करती रही। विरोधी उपदेशकों ने उन पर झूठे आरोप लगाये और उन लोगों ने तिरस्कार भाव दिखाया जो समझते थे कि एक स्वस्थ व्यक्ति को खेती अथवा ऐसा ही अन्य कोई उत्पादक कार्य करना चाहिए। खूंखार डाकू अंगुलिमाल राहगीरों को पकड़कर उनकी हत्या करता था, लेकिन प्रयत्न करने पर भी बुद्ध को वह वश में नहीं कर पाया और स्वयं बदल गया। बुद्ध के संघ में शामिल होकर उसने एक भिक्षु का शान्तिमय जीवन बिताया। उस समय के सबसे धनी व दानी व्यापारी सुदत्त ने (जो अनाथपिण्डक यानी गरीबों को भोजन देनेवाला कहलाता था) बुद्ध तथा उनके अनुयायियों के वर्षावास के लिए सावत्थी के राजकुमार जेत के उद्यान की भूमि को उस पर चांदी के सिक्के बिछाकर मोल लिया। कर्म और पुनर्जन्म के सिद्धान्त में आस्था रखनेवाले सामान्य गृहस्थों के लिए जिन नियमों का बुद्ध ने प्रवचन किया है उन्हें व्यापारी तथा गृहपति वर्ग के स्त्री पुरुषों ने भी दत्तचित्त होकर सुना है। एक बड़ी मनोहर बौद्धकथा है कि एक दम्पती कई वर्षों से सुखी वैवाहिक जीवन बिताते आ रहे थे और उनकी बड़ी इच्छा थी कि अगले जन्म में वे पति पत्नी के रूप में ही जन्म लें फिर योनि चाहे जो भी मिले। बुद्ध ने उन्हें उपदेश दिया कि एक धर्मपरायण परिवार के सामान्य कर्त्तव्यों का पालन करने से ही उनकी इच्छा पूरी हो सकती है। सारिपुत्त और मोग्गल्लान जो जन्म से ब्राह्मण थे बुद्ध के जीवनकाल में उनके दो प्रधान शिष्य थे और संजय के पंथ को छोड़कर भिक्षु संघ में शामिल होने के समय उनकी ख्याति स्वयं बुद्ध से कहीं अधिक थी, बुद्ध संघ की वृद्धि, आरम्भिक दर्शन तथा संगठन में उनका बड़ा योगदान रहा है। परन्तु बौद्ध भिक्षु-संघ में दूसरी अनेक जातियों से आये व्यक्ति भी थे। बुद्ध के संघ में शामिल होनेवाले जिन आरम्भिक भिक्षुओं की सूची मिलती है उनमें उपालि एक था जो जन्म से एक नाई था (लेकिन निश्चय ही शाक्य कबीले का था)। बुद्ध का चचेरा भाई शाक्य देवदत्त चाहता था कि समाज के साथ भिक्षुओं का कम सम्बन्ध रहे और वह अधिक कठोर अनुशासन में रहे। बुद्ध ने ऐसे असामाजिक अनुशासन को लागू करने से इनकार कर दिया। कहते हैं कि देवदत्त ने बुद्ध की हत्या करने का प्रयत्न किया था। झाड़-बरदार व कूड़ाखोर जैसी निम्नतम जाति के लोगों को भी स्वयं बुद्ध ने अपने संघ में दीक्षित किया था और उन्हें सम्मानित भिक्षु का दर्जा हासिल हुआ था। भिक्षुणियों का अपना अलग संघ एवं संगठन था। उस समय के दो सर्वाधिक शक्तिशाली राजा जो महज कबीलों के मुखिया नहीं बल्कि निरंकुश शासक थे बुद्ध के आश्रयदाता थे और उनका सम्मान करते थे। चुन्द लुहार ने बुद्ध के लिए कुकुरमुत्ते का ऐसा भोजन तैयार किया जिसे खाने से उनकी रक्तातिसार की पुरानी बीमारी पुनः उभरी और यही उनकी अन्तिम व्याधि सिद्ध हुई। परन्तु चुन्द का

उन्होंने एक विशिष्ट सुत्त में नैतिकता पर उतने ही करुणाभाव से उपदेश दिया जैसे कि उन्होंने धनी-से धनी सेठों तथा बड़े-से-बड़े राजाओं को उपदेश दिये हैं।

प्राचीन बौद्ध ग्रन्थ सुत्तनिपात की एक कथा को यहां विस्तार से बताना उपयोगी होगा, क्योंकि इससे हम बौद्धधर्म के विस्तार तथा तत्कालीन भारत, दोनों के बारे में जानकारी मिलती है। कोसल देश का बावरी नामक ब्राह्मण राजधानी (सावत्थी) छोड़कर दक्षिणापथ चला गया था। वह अपने कुछ तरुण शिष्यों के साथ मुना और गोदावरी नदियों के संगम पर अस्मको (अश्वक वह कबीला जिससे बाद में सातवाहनों का उदय हुआ) के क्षेत्र में जा बसा। वहां वे वन सकलन करके गुजारा करने लगे—पेड़ पौधों से फल व जंगली अनाज एकत्र करते और धरती में कन्द-मूल। धीरे धीरे उस क्षेत्र में एक अच्छा-खासा गांव बस गया। बावरी ने इस गांव से अतिरिक्त उपज एकत्र करके वैदिक पद्धति के एक बड़े यज्ञ का आयोजन किया। यज्ञ की सारी सामग्री का जब वितरण हो चुका तो वहां एक ब्राह्मण आया और जब उसे कुछ नहीं मिला तो उसने बावरी को शाप दे दिया जिससे पूरे अनुष्ठान में विघ्न पड़ गया। तब बावरी ने अपने सोलह शिष्यों को शंका-समाधान के लिए बुद्ध के पास उत्तर की ओर भेजा। तब तक बुद्ध की ख्याति दक्षिणापथ में दूर-दूर तक फैल चुकी थी और बावरी को शाप से रक्षा करने वाले वही एक व्यक्ति जान पड़ते थे। बावरी के शिष्य पहले पठण पहुंचे, यह स्थान बावरी के आश्रम के दक्षिण-पूर्व में था और यहीं पर दक्षिणापथ के व्यापारी-मार्ग का अन्त होता था। तदनन्तर सम्भवतः किसी साथ के साथ यह मण्डली औरंगाबाद, नर्मदा तट के महेश्वर, उज्जैन, गोनद्ध (गोंड प्रदेश का कोई स्थान), भिलसा, साकेत (फैजाबाद) तथा कौसम्बी होते हुए सावत्थी पहुंची। फिर इन्होंने उत्तरापथ पकड़ा और पूर्व की ओर आगे बढ़े सेतव्या कपिलवस्तु (शाक्यों की राजधानी), कुसीनारा और पावा (दोनों मल्लों के नगर) भोगनगर, वैशाली (आधुनिक बसाढ़, उस समय लिच्छवियों की प्रमुख नगरी), राजगिर। राजगिर पहुंचकर नगर के बाहर के पाषाण चैत्य में उन्होंने बुद्ध के दर्शन किये। तब बावरी के शिष्यों ने बुद्ध से इस प्रकार के कुछ प्रश्न पूछे संसार किससे ढंका है? किससे प्रकाशित नहीं होता? चारों ओर सोते बह रहे हैं सोतों का क्या निवारण है? यहां लोक में कौन सन्तुष्ट है? किसकी तृष्णाएं नहीं हैं? किस कारण ऋषियों, क्षत्रियों, ब्राह्मणों तथा अन्य मनुष्यों ने यहां लोक में देवताओं को पृथक पृथक् यज्ञ कल्पित किया? लोक में जो अनेक प्रकार के दुःख हैं वे कहां से आये? सच्चा ज्ञानी कौन है? दान का पण्डित या (वैदिक) कर्मकाण्ड का ज्ञाता? जिसकी तृष्णा नहीं वाद विवाद से जो पार हो गया है उसका विमोक्ष कैसा होता है? ऐसे सवाल आरम्भिक उपनिषदों में विशेष

रूप से उठाय गये हैं ।

ये सवाल उस युग की चेतना के अनुरूप थे । इस कथा स पटण से लेकर सावत्थी तक के दक्षिणापथ की स्पष्ट जानकारी मिल जाती है । उस समय मगध की अपक्षा मासल का महत्त्व कहीं अधिक था और कोसम्बी स वाराणसी तथा आगे पूव की ओर सीधे माग स, जल या थल से बहुत अधिक आवागमन नही होता था। यह स्पष्ट है कि ईसा पूव छठी सदी क मध्यकाल तक गोदावरी की घाटी म खेती नही होती थी। इसके बाद ही यहाँ तेजी स गाँव बसन गये तो इसका कारण सम्भवत यह था कि उत्तर की ओर स इन लोगा को लोह की तथा लोहे के औजार बनाने की और भारी हल के इस्तेमाल की जानकारी मिली। इस प्रकार प्रागतिहासिक युग स दक्खन क बाहर आने का काल बुद्ध की जीवन-कथा स लगभग निश्चित हो जाता है। यह बात नमदा-तट के महेश्वर म और गादावरी-तट के नेवासा स प्रवरा मुला क्षत्र तक किय गये उत्खनना के प्रमाणा स भी सिद्ध होती है। इसस दक्षिणी उत्खननो के स्तरो म पाय जानवाले अन्तर्वेधन का भी स्पष्टीकरण हो जाता है। सम्पूण लिखित इतिहास के दौरान नेवासा से प्रवरासगम तक का क्षेत्र दक्षिणी ब्राह्मणो क लिए पवित्र भूमि रहा है। तरहवीं सदी क अन्तकाल म आलदी के उनक ब्राह्मण बान्धवो ने जब महाराष्ट्री सतकवि ज्ञानश्वर पर अत्याचार किय तो उन्होंने इसी क्षेत्र म शरण ली थी और यहाँ भगवद्गीता पर अपने छन्दोबद्ध भाष्य की रचना की। इस कृति न मराठी भाषा को मूत रूप दिया और नाना जातिया के उत्तराधिकारिया की लम्बी कतार को प्रेरणा प्रदान की। परन्तु नयी भाषा के लिए और कृषि-बस्तिया के लिए, जिनके अभाव म इस क्षत्र के लिए गीता और इसके अनुवाद की कोई आवश्यकता नही थी, प्रभावशाली प्रेरणा मिली उत्तर की ओर स ईसा पूव छठी सदी म ।

बौद्धग्रन्थो म गृहस्थ और कृषक के जो कत्तव्य निर्धारित किये गये हैं वे जाति, सम्पत्ति तथा पेशे के दायरो स मुक्त हैं और कमकाण्ड का तनिक भी महत्त्व नही दिया गया है। उनम ब्राह्मणा के बाह्याडम्बर तथा विशिष्ट कमकाण्ड के विरुद्ध जो तक पेश किय गय है वे भी सरल भाषा म हैं। सामाजिक विभेद क रूप म जाति का अस्तित्व भल ही हो, परन्तु इसम कोई स्थायित्व नही था, न ही इसका कोई औचित्य था। इसी प्रकार, सदाचारी जीवन के लिए कमकाण्ड भी अनावश्यक और असगत था। बौद्ध धमग्रन्थ जो सभी बुद्ध वचन मान जाते हैं बोलचाल की सरल भाषा म हैं और रहस्यात्मकता अथवा लम्बे ऊहापोह से मुक्त हैं। यह एक नय प्रकार का धार्मिक वाङ मय था—ऐस उपदेशा का सकलन जो तत्कालीन समाज के समस्त लोगो के लिए थे न कि कुछ चुने हुए शिक्षित शिष्यो अथवा पण्डिता के लिए। सबसे महत्त्व की बात यह है कि बुद्ध या उनके

किसी गुमनाम् आरम्भिक शिष्य ने निरकुश राजा के लिए भी नये कत्तव्य निर्धारित करने का साहस किया जो राजा डाकुओ और असामाजिक तत्वा द्वारा उत्पीडित क्षेत्र स केवल राजस्व वसूल करता है, वह अपने कत्तव्य का पालन नही करता। लूटमार और कलह का दमन बल और कठोर दण्ड स कदापि नही होता। सामाजिक बुराइयो के मूल म है गरीबी और बेरोजगारी। दान-दक्षिणा का घूस से इसे मिटाना सम्भव नही है, इनस तो बुरे कर्मों को केवल प्रोत्साहन ही मिलेगा और इन्ह अधिक बल मिलेगा। सही रास्ता यही है कि कृषिकम और पशुपालन से जीविका चलानेवालो को बीज व भोजन सुलभ हो। व्यापार से जीविका चलानेवालो को आवश्यक पूजी सुलभ होनी चाहिए। राजकमचारियो को नियमित रूप स उचित वेतन मिलना चाहिए, ताकि वे जनपदा से धन ऐंठन क माग न खोज सकें। तभी जाकर नयी सम्पत्ति का निमाण होगा और लूटेरो तथा ठगा से जनपदा को मुक्ति मिलेगी। ऐसे उत्पादक एव सन्तोषप्रद वातावरण म नागरिको को कोई अभाव या भय नही रहेगा और व अपने बच्चा का सुखपूवक भरण-पोषण कर सकेंगे। सचित अतिरिक्त धन को, चाहे राजकोष स चाहे ऐच्छिक निजी अनुदाना स, खच करन का सर्वोत्तम तरीका यही है कि इस कुएँ तथा तालाब खोदने और व्यापारी मार्गो पर छाया दार पेड लगाने जस सावजनिक कार्यों म लगाया जाये।

राजनीतिक अथ-व्यवस्था सम्बन्धी ये विचार आश्चयजनक रूप से आधुनिक हैं। वदिक यज्ञा के युग म और एक ऐसे समाज म जिसने आदिम जगला का खालना अभी-अभी शुरू किया था ऐसे विचारा का प्रतिपादन उच्चतम स्तर की एक बौद्धिक उपलब्धि थी। इस नये दशन ने मनुष्य को स्वय पर नियत्रण पाने का माग दिखलाया। परन्तु इस दशन से प्रकृति पर वज्ञानिक एव तकनीकी नियत्रण पाना सम्भव नही हुआ ताकि इसकी उपलब्धियो को सम्पूण मानवजाति म व्यक्तिगत एव सामाजिक आवश्यकताओ के अनुसार बाँटा जा सके।

जब एक गुमनाम देहात म बुद्ध की मत्यु हुई तो परिचारिका के लिए केवल एक भिक्षु उनके साथ था, उस समय तक उनके शाक्य कबील का कत्लेआम हो चुका था और उनके दोनो सरक्षक राजाओ की दयनीय स्थितियो म मत्यु हो चुकी थी, और उनके प्रतिभाशाली शिष्य सारिपुत्त और मोग्गल्लान पहले ही निर्वाण प्राप्त कर चुके थे। फिर भी बौद्धमत का निरन्तर प्रसार होता गया क्योकि यह मत तेजी स विकसित होते उस समय के समाज की आवश्यकताओ क अनुकूल था।

५.४ यदुओ का श्यामवण नायक

परन्तु जो पथ भारत के करोडो लोगो के लिए बीसवी सदी तक एक सच्चे धर्म के रूप मे जीवित रहा, वह बौद्धधम नही है, बल्कि कृष्ण की पचमेल पूजा का धम है। कृष्ण एक ऐसा वैयक्तिक देवता है जिसकी शरण म आपत्ति पडने

पर, कोई भी दौड सक्ता था, परन्तु मानवीय उपदेशक बुद्ध के पास इस प्रकार दौडना सम्भव नही था। दोना म पग-पग पर वपम्य है हालाकि बाद म कृष्ण क नाम से चलाये गये कई सिद्धा त लुक छिपकर बौद्धधम स उडाय गय थ और सिद्धान्त ही नही, कुछ उपाधियाँ भी (जस भगवत् नरोत्तम पुरुषोत्तम)। बुद्ध एक ऐतिहासिक व्यक्ति थे, परन्तु कृष्ण के बारे म कोई एतिहासिक प्रमाण नहीं मिलते, सिवाय इसके कि आख्याना तथा अनुश्रुतिया का मिलाकर कई सारे कृष्णो से एक सर्वेश्वर कृष्ण की रचना कर दी गयी है। कालान्तर म मिथको को बढाते जाने से और बुद्ध म देवत्व का अधिकाधिक आरोपण करन स बौद्धधम की अवनति हुई। दूसरी ओर कृष्णभक्ति को सचित देवकथाओ पर ही खडा किया गया और उन्ही से इसे बल मिला है। सरलतम शब्दा म और सुगम तक शली म जसा गम्भीर एव सुस्पष्ट विवेचन आरम्भिक बौद्ध शिक्षाआ म देखने को मिलता है, वसा कृष्ण के नाम पर आरोपित शिक्षाआ मे नही मिलता। प्रभावशाली सस्कृत भाषा मे रची गयी अपूव असगतिया स भरपूर पुस्तक गीता पाठक को परिणामा की ओर से आँख मूदकर प्राय हर प्रकार का काम करने की छूट दे देती है। बहुरूपी देवता कृष्ण भी इसी प्रकार बेमल है, यद्यपि वह सभी पुरुषा के लिए सब कुछ और अधिकाश स्त्रिया क लिए सवस्व है दिव्य और प्यारा शिशु नटखट बालगोपाल गोपालको की बस्ती म सभी गोपिया का प्रेमी, अनगिनत देवियो का पति, अत्यधिक स्वच्छ द एव मथुनक्षम सम्भोगी, फिर भी रहस्यमय सम्मिलन म केवल राधा का अनुरागी, तिस पर भी तपस्वी जीवन का प्रतिपादक परम शा ति का साक्षात अवतार पर तु इतना अधिक उद्दण्ड कि उसने अपने मामा कस का वध किया और दूसर के यज्ञ म आमन्त्रित सम्मानित अतिथि शिशुपाल का सिर काट डाला समस्त नैतिकता का मूलस्रोत पर तु महाभारत-युद्ध (जिसम उसन एक साथ ही दवी निर्णायक और भत्याचित सारथि की भूमिका अदा की) के निर्णायक क्षणा म उसका परामश हमेशा ही शिष्टाचार याय-व्यवहार और क्षात्रधम के हर नियम के विरुद्ध रहा। सम्पूण कृष्णाख्यान इस बात को एक शानदार मिसाल है कि एक सच्चा आस्तिक किस हद तक आँख मूदकर चाहे जिस बात म यकीन कर सकता है और गीता की सत्याभासी दलीला के लिए कृष्णाख्यान न अवसरवाद का बेजोड चौखटा प्रस्तुत किया है। यह (पुस्तक) अपेक्षाकृत आदिम उत्पादन-स्तर वाले अत्यधिक मिश्रित समाज और उसके धम के परस्पर-सम्ब ध की अभिव्यक्ति है।

इस पूरे कृष्णाख्यान का सिलसिला कम-से-कम ईसा की बारहवी सदी तक और महान रामानुजाचाय के वष्णव आ दोलन तक चला। पर तु फिलहाल इस कहानी को हम ईसा पूव चौथी सदी तक ही लेंगे। कृष्ण के बार म एकमात्र पुरातात्त्विक प्रमाण है उसका पारम्परिक हथियार चक्र जिसे फेंककर मारा जाता

था और इतना तीक्ष्णधार होता था कि किसी का भी सिर काट दे। यह हथियार वन्कि नही है, और बुद्ध के पहले ही इसका चलन बन्द हो गया था, परन्तु मिर्जापुर जिले (दरअसल बौद्ध दक्खिणागिरि) के एक गुफाचित्र म एक रथा-

चित्र ८ मिर्जापर की एक गुफा म चक्र फेंकता हुआ रथारोही (लगभग ८०० ई०पू०)।
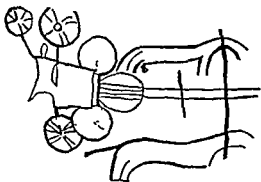
रोही को एसे चक्र से आदिवासिया पर (जिन्होने यह चित्र बनाया है) आक्रमण करते दिखाया गया है। अत इसका समय होगा लगभग ८०० ई० पू०, जब कि, मोटे तौर पर वाराणसी म पहली बस्ती की नीव पडी। ये रथारोही आय रहे होंगे और नदी पार के क्षेत्र म लोह खनिज की खोज करने आये होग—उस हैमाटाइट खनिज की, जिससे य गुफाचित्र बनाये गये हैं। दूसरी ओर, ऋग्वेद म कृष्ण का दानव और इन्द्र का शत्रु बताया गया है, और उसका नाम श्यामवण आयपूव लोगो का द्योतक है। कृष्णाख्यान का मूलाधार यह है कि वह एक वीर योद्धा था और यदु कबीले का नर-देवता (प्राचीनतम वेद ऋग्वेद म जिन पाँच प्रमुख जना यानी कबीलो का उल्लेख मिलता है उनमे से यदु कबीला एक था), परन्तु सूक्तकारो ने, पजाब के कबीलो म निरन्तर चल रहे कलह स जनित तत्कालीन गुटबन्दी के अनुसार, इन यदुओ को कभी धिक्कारा है तो कभी आशीर्वाद दिया ह। कृष्ण सात्वत भी है, अधक वृष्णि भी, और मामा कस स बचाने के लिए उस गोकुल (गोपालको के कम्यून) मे पाला गया था। इस स्थानान्तरण न उस उन आभीरो से भी जोड दिया जो ईसा की आरम्भिक सदियो म ऐतिहासिक एव पशुपालक लोग थ जो आधुनिक अहीर जाति के पूवज हैं। भविष्यवाणी थी कि कस का वध उसकी बहिन (कुछ उल्लेखो म पुत्री) देवकी क पुत्र क हाथो होगा इसलिए देवकी को उसके पति वसुदेव सहित कारागार म डाल दिया गया था। बालक कृष्ण-वासुदव (वसुदेव का पुत्र) गोकुल म बडा हुआ उसने इन्द्र स गोधन की रक्षा की और अनक मुहवाल

विषधर कालिय नाग का, जिसने मथुरा के पास यमुना के एक सुविधाजनक डबरे तक जाने का मार्ग रोक दिया था, मदन करके उसे खदेड दिया उसका वध नहीं किया। तब कृष्ण और उसके अधिक बलशाली भाई बलराम ने भविष्यवाणी को पूरा करने के पहले, अखाडे में कंस के मल्लों को परास्त किया। यहाँ यह ध्यान में रखना जरूरी है कि कुछ आदिम समाजों में मुखिया की बहिन का पुत्र ही उसका उत्तराधिकारी होता है, साथ ही उत्तराधिकारी को प्राय मुखिया की बलि चढानी पडती है। आदिम प्रथाओं से कंस वध को अच्छा समर्थन मिलता है और यह भी स्पष्ट होता है कि मातृस्थानक समाज में ईडिपस-आख्यान का क्या रूप हो जाता।

कृष्ण अपने कबीले के दायरे से बाहर निकला तो सबसे पहले उसने मातृदेवियों को वश में किया। बचपन में ही उसने पूतना नामक एक मातृदेवी (बाद में चेचक की देवी शायद) का वध कर डाला था पूतना ने अपना विषाक्त दूध पिलाकर कृष्ण को मारना चाहा था। परन्तु पूतना बच गई होगी जैसे कि इन्द्र के साथ झडप होने पर उषस बच गयी थी क्योंकि मथुरा क्षेत्र का एक भाग पूतना का नाम धारण किए रहा। जिस गोकुल में (कंस से उसे बचाने के लिए) कृष्ण का पालन हुआ था उसे मथुरा से थोडी दूर नदी के किनारे वृन्दावन नामक कुंज में स्थायी रूप से स्थानांतरित कर दिया गया। वृन्दावन' का अर्थ है 'समूह देवी का वन। पवित्र तुलसी की द्योतक इस देवी का आज भी प्रतिवर्ष एक निश्चित दिन कृष्ण के साथ ब्याह रचा जाता है। प्रतिवर्ष इस आयोजन की पुनरावृत्ति से जाहिर होता है कि इस देवी के मानव रूप पति की बलि चढाने की आरम्भ में प्रथा थी, परन्तु कृष्ण ने इस प्रथा को तोड डाला। मातृदेवियों से विवाह करने और अप्सराओं के साथ क्रीडा करने का वीर्यवान कृष्ण का शौक अबाध रूप से बढता ही गया कृष्ण की अधिकृत पत्नियाँ की कुल संख्या (वृन्दा व राधा को छोडकर) १६१०८ बतायी जाती है। इनमें से कुछ प्राचीनतर और विदेशी कबीलों का प्रतिनिधित्व करती थीं जैसे, 'रीछ कबीले के मुखिया की पुत्री जाम्बवती। रुक्मिनी (स्वर्णिम) का सम्बन्ध था भोजों से, जो उस समय बर्बरावस्था में थे। इनमें से हजारों अनाम पत्नियाँ महज अप्सराएं या जल परियाँ थीं। परिणामस्वरूप स्थानीय पूजाविधियों पर कृष्ण पूजा शान्तिपूर्वक आरोपित हो गयी। कल्पित महाभारत युद्ध के छत्तीस साल बाद जब आपसी कलह में सारे यदुओं का नाश हो गया तो उसके काफी बाद भी कृष्ण पूजा का प्रसार होता रहा। ईसा पूर्व छठी सदी में मथुरा पर शूरसेना का अधिकार हो गया था ब्राह्मणों ने मोटी दक्षिणा लेकर और झूठी वंशावलियाँ बनाकर ही मध्ययुग के नवोदित यादवों अथवा जाधवों का सम्बन्ध कृष्ण के यदुवंश में जोड दिया था। किन्तु शूरसेना ने यदुओं से उनका सम्बन्ध

न होन पर भी, कृष्ण-पूजा को जारी रखा और मथुरा इसका केन्द्र बना रहा। कृष्ण के विवाहों ने कुछ मातृसत्तात्मक आयपूर्वो को पितृसत्तात्मक आर्यों में आत्मसात कराने में महत्त्वपूर्ण योग दिया। यहाँ यह सदव स्मरण रखना होगा कि न केवल अन्न-सकलनकर्ता उन्नति करके अन्न-उत्पादक बन, अपितु, परिवेश के कारण आर्यों का अन्न सकलन की अवस्था में भी पतन सम्भव था। दोनो स्थितियों में इन दोनो जन-समुदायों का सम्मिश्रण सम्भव हुआ और एक-दूसरे की पूजा विधियों को अपनाने से यह काय और आसान हो गया। दैवी विवाह मानवीय सयोजन के ही परिचायक हैं। परिणामत जिस मिश्रित समाज का उदय हुआ वह अधिक उत्पादनशील था, परिवेश पर उसका नियन्त्रण और बढ़ गया।

कृष्ण का एक और आरम्भिक करतब जिसके कारण उसका तेजी से उत्कर्ष हुआ यह था कि उसने अपने गोकुल के गोधन की इन्द्र से रक्षा की। जान पडता है कि यह सघर्ष तिकोना था क्योंकि इन्द्र ने उन अधिकांश नागों की रक्षा की जिन्हें कृष्ण ने और कुरुओं की कनिष्ठ पाण्डव शाखा ने मौका पाने पर कुचल डालने का प्रयत्न किया था। दरअसल महाभारत में कृष्ण को बाहर से लाकर घुसेड़ा गया है काफी बाद में। आख्यान है कि उसने खाण्डव वन जलाने में पाण्डवों का साथ दिया था। ऋग्वेद में यदुओं की सदिग्ध स्थिति ने और कृष्ण के श्याम वर्ण ने आर्यों और आदिवासियों का मिश्रण कराने में अतिरिक्त सहयोग दिया, केवल नाग-कथाओं ने भी ठीक यही भूमिका अदा की है। महाभारत में ये दोनों प्रकार की कथाएँ मौजूद नहीं होती यदि इन्हें सुननेवालों में दोनों समूहों के लोगों के तत्त्व विद्यमान न होते। इन्द्र के साथ सघर्ष का बड़ा विलक्षण प्रभाव पड़ा। ईसा पूर्व चौथी सदी में यूनानियों ने जब भारत पर आक्रमण किया तो उन्होंने देखा कि पजाब के मैदानों में उनके हराक्लीज से मिलते जुलते नर-देवता की पूजा का अधिक प्रचलन है और डायोनिसस का पर्वतीय प्रदेश में पूजा जाता है। यह हराक्लीज निश्चय ही भारतीय कृष्ण था। यह यूनानी वीर परम्परा से एक मल्लयोद्धा था कड़ी धूप से इसका श्याम वर्ण हो गया था, इसने हाइड्रा (कालिय की तरह एक बहुमुखी सर्प) का वध किया था और अनेक अप्सराओं से विवाह या रमण किया था। इसके अलावा कृष्ण की जिस ढग में मृत्यु हुई है उसे यूनानी लोग अपने आख्यान से भारतीयों की अपेक्षा अधिक स्पष्ट रूप से समझते थे। जरस नामक एक व्याध ने, जो दरअसल कृष्ण का सौतेला भाई था का तीर मारा वह कृष्ण की एड़ी में घुसा और उससे यदु नर देवता की मृत्यु हो गयी। भारतीय लोग आज भी यह समझ नहीं पाते कि ऐसे घाव से कैसे मृत्यु हो सकती है। एकिलीज की कथा तथा यूनानियों की अन्य अनेक पुराकथाओं से स्पष्ट होता है कि ऐसी अनोखी मृत्यु का सम्बन्ध उस आनुष्ठानिक वध से है जिसम

अक्सर बलि दिये जानेवाले वीर का भाई (या उत्तराधिकारी) किसी विपवृक्ष हथियार का इस्तेमाल करता था। यूनानिया न जिस दूसरे भारतीय देवता को विजेता डायोनिसस समझ लिया वह ऋग्वेद म वर्णित प्रचण्ड योद्धा और पियक्कड इन्द्र ही हो सकता है। इस यूनानी जानकारी की महत्ता पर ध्यान ही नही दिया गया है। इससे प्रकट होता है कि यद्यपि यदुआ का नाश हो चुका था, पर पजाब के अत्यधिक उपजाऊ क्षेत्र म इन्द्र पूजा का स्थान कृष्ण पूजा ले चुकी थी। और फिर यह इसके बावजूद हुआ कि अपनी 'विजय के अनन्तर ही इन्द्र-डायोनिसस (यूनानी उल्लेखा के अनुसार) भारत म सवप्रथम लोहे तथा धातुआ का ज्ञान खेती के लिए बलो के इस्तेमाल की जानकारी और वास्तुकला लाया था।

कृष्ण द्वारा इन्द्र को अपदस्थ किये जाने का स्पष्ट ब्योरा ऐतिहासिक सिलसिला तथा तिथि क्रम आज दुर्भाग्य स उपलब्ध नही है, पर इस परिवतन का कारण सुस्पष्ट है। पशुचारी जीवन का स्थान कृषि जीवन ले रहा था। वदिक यज्ञ और निरन्तर के युद्ध पहली अवस्था के लिए भल ही अनुकूल रहे हो, पर दूसरी अवस्था के लिए व महँगे और असह्य उपद्रव ही साबित होत। कृष्ण गोरक्षक था, जिन यज्ञा म पशुबलि दी जाती थी उनम कृष्ण का कभी आह्वान नही हुआ ह, जबकि इन्द्र वरुण तथा अन्य वदिक देवताओ का सदव आह्वान हुआ है। ये लोग अपन पतृक कुल-देवता को चाहे जिस चीज की बलि भेंट करत रह हो पर दूसरे कबीला द्वारा उनकी इस प्रथा का अपनाने का कोई कारण नही था। दूसरी आर जो पशुचारी लोग कृषि-जीवन को अपना रहे थे उन्हे इन्द्र की बजाय कृष्ण को स्वीकार करन में निश्चय ही लाभ था। इसम उन आय-पूव लोगो को भी लाभ था जो पशुपालका से सीखने लग थे और उनसे विवाह सम्बन्ध स्थापित करने लगे थ पर तब भी अनगनित स्थानीय देवियो म से किसी एक को पूजते आ रहे थे इन्ही देवियो का सुभीत स कृष्ण की पत्निया बना दिया गया। विशुद्ध कृषका को—जो पजाब म कुछ धीमी रफ्तार से उन्नति कर रहे थे—कृष्ण के भुजबलि भाइ बलराम ने वश मे किया। बलराम को सकषण या हलधर भी कहते हैं क्योकि हल उसका विशिष्ट लाक्षणिक हथियार था, जबकि कृष्ण का तीक्ष्णधार चक्र था। कृष्ण का यह भाई न केवल हलधरा का न्याय सम्मत देवता था बल्कि उसके माध्यम से नाग लोगा को भी आत्मसात करना सम्भव हुआ। बलराम को आमतौर पर शेषनाग का अवतार समझा जाता था और शेषनाग के बारे म यह कल्पना थी कि वह अथाह महासागर के ऊपर अपन मस्तक पर इस पृथ्वी को धारण किये हुए है। (बौद्ध कथाआ म भी मानवी दवी अथवा सप नागा के बारे म जानकारी मिलती है। बुद्ध न आदिवासी नागो को अपने धम म दीक्षित किया था विपले सर्पो को वश म किया था मुचलिन्द नामक दैवी नाग न प्रकृति के प्रकोप से उनकी रक्षा की थी, और अपने किसी पूव

जम म वह एक उभयरूप सात्विक नाग भी थे। नालदा और सक्स्या-जसे प्रमुख बौद्ध विहारा का उत्थान नाग पूजा स्थलो से हुआ है, कभी कभी विशेष अवसरो पर भिक्षुआ से भोजन ग्रहण करने के लिए आदिम नाग दयालु सप के रूप म प्रकट हाता था।) अब एक प्रश्न बाकी रहता है ये अनोखे कबीले क्योंकर एक ऐसे देवता को पूजने लगे जो उनका अपना नही था ? इसका उत्तर यही जान पडता है कि यदुआ म और इन अय कबीलो मे कोई सम्बध रहा होगा, साथ ही, मगध की ओर से हुए किसी आक्रमण से भयभीत होकर मथुरा क य कबीलाई लोग शायद पश्चिम की ओर फलने लग गये थे।

अपने को आय समझनेवाले लोगा के बीच अब मौलिक भेद दिखाइ देने लगे थ। गागेय प्रदेश के ब्राह्मण व क्षत्रिय उत्तरापथ के व्यापार माग के पश्चिमोत्तरी सिरे तक (तक्षशिला और उससे भी आगे) उच्च शिक्षा—यज्ञ मत्रपाठ, आय रीति रिवाज चिकित्सा और शुद्ध सस्कृत की शिक्षा—प्राप्त करने के लिए जाते थे। क्योकि पूव के निवासी लेन देन के व्यवहार म एक ऐसी सरल भाषा का इस्तेमाल करने लगे थ जिसका आधार तो आय था, पर उसम सस्कृत व्याकरण और वदिक स्वराघात की विकट जटिलताएँ नही थी। उनका तोतली उच्चारण, घटिया वाक्य वियास ग्राम्य लहजा और प्राय गँवारू शब्दावली पश्चिम के निवासिया को अत्यन्त हास्यास्पद खिचडी जैसी जान पडती होगी। फिर भी इन ग्राम्य जना को जसाकि उपनिषदो और बौद्ध ग्र था से प्रमाणित होता है, तक्ष-शिला तथा आसपास क क्षेत्र म, उनके वश या जाति की गहरी छानबीन किये बिना ही अच्छे शिष्यो क रूप म स्वीकार कर लिया जाता था। सीमा प्रदेश के उच्च वग के लोग गौर वण के थे। उनका मत था कि काला आदमी बाजार मे लगाये गय काले बीजा के ढेर की भाँति है और उसे शायद ही कोई ब्राह्मण समझने की भूल कर सकता है। दूसरी ओर, पूव के ब्राह्मण श्यामवण किन्तु बुद्धि-मान् पुत्र की प्राप्ति के लिए बृहदारण्यक उपनिषद म वर्णित एक अण्ड-बण्ड अनुष्ठान करते थे। जाति भेद दूर हान पर वण भेद भी नही रह गया था। शरीर-वण (यूरोप म केश-वण) चाहे जो हो, सुदरी की सराहना होती थी। दूसरी ओर, सीमा प्रदेश म जाति के बधन इतने ढीले थे कि पूव के निवासी मद्र, गधार तथा कम्बोज के लोगा को उच्छखल एव बबर समझने लगे थे। सुदूर पश्चिमो-त्तर म केवल दो वास्तविक जातियाँ थी आय यानी आजाद', और दास यानी गुलाम। एक जाति का सदस्य बिना किसी झमेले के दूसरी जाति म पहुँच जा सकता था। इसका अथ यह है कि इस सुदूर शीत प्रदेश मे अन-सकलन कठिन और वस्तु उत्पादन अनिवाय हो जान क कारण, प्राचीन ग्रीक रोमन दास प्रथा स मिलती जुलती दास प्रथा जम ले चुकी थी। दूसरी ओर, पूर्वी प्रदेश म दास प्रथा का कोई अस्तित्व नहीं था। विभिन्न पेशो के अनुरूप जाति-भेद म

अधिकाधिक कठोरता आ रही थी। कुरुदेश के पूर्व की ओर के ब्राह्मणों ने किसी हद तक नागों के साथ अन्तर्विवाह स्वीकार कर लिया था या ऐसे मामलों में अनदेखी की थी, परन्तु जब वह देखते कि पशावर या बल्ख का कोई व्यक्ति ब्राह्मण है किन्तु उसका भाई हल जोतता है और उसी परिवार का कोई दूसरा आदमी योद्धा है अथवा नाई का काम करता है तो उन्हें बड़ा आघात पहुँचता था। एक ही परिवार के ये भाई बिना किसी लज्जाभाव के, इच्छानुसार अपने धंधों की अदला बदली भी कर लेते थे। सीमा प्रदेश की स्त्रियों का व्यवहार काफी उन्मुक्त था, वह न अपरिचितों के सामने शर्माती, न ही परिवार के वयोवृद्धों के आगे शील संकोच का प्रदर्शन करतीं जिसकी सम्भ्रान्त परिवारों के भारतीय आज भी अपने स्त्री समुदाय से अपेक्षा रखते हैं। स्त्री पुरुष दोनों ही मांस खाते थे और खूब नशीली शराब पीते थे ऐसे भी सामुदायिक नृत्य होते थे जिनमें वस्त्र तक उतार दिये जाते थे। पूर्वी प्रदेश के ब्राह्मण की दृष्टि में ऐसा आचरण निश्चय ही अश्लील था। कन्या का मूल्य देकर (दहेज प्रथा के विपरीत) विवाह करने का पश्चिमोत्तर में जो रिवाज था वह भी पूर्ववासियों को विकृत प्रतीत होता था, कन्या-हरण की प्रथा भी जिसका महाभारत के अनुसार कृष्ण के कबीले में प्रचलन था और ऐतिहासिक आभीरों ने भी जिसे चालू रखा पूर्ववासियों को विकृत लगती थी। अन्ततोगत्वा ब्राह्मण धर्मग्रन्थों ने इन दोनों प्रकार के विवाहों को अनार्य प्रथाएँ कहकर निषिद्ध घोषित कर दिया। फिर भी मद्र और बाह्लिक स्त्रियों की सुन्दरता स्नेहशीलता तथा परम स्वामि भक्ति सदा लोक प्रसिद्ध रही। उस क्षेत्र के योद्धा की विधवा अपने पति के शव के साथ सती भी हो जाती थी। यह बीभत्स सती प्रथा पूर्व के लोगों के लिए तब पूर्णतः अज्ञात थी और सामन्ती युग तक लगभग ईसा की छठी सदी तक उनमें इसका प्रचलन नहीं हुआ। पश्चिम के निवासी पूर्व के इन घमण्डी किन्तु फिर भी गँवार किस्म के अनुचरों के बारे में क्या सोचते थे इसके बारे में कोई लिखित जानकारी नहीं मिलती परन्तु यह ज्ञात है कि पूर्वी प्रदेश के निम्न जाति के उद्यमशील तरुण ब्राह्मण धर्म की सब तिकड़म सीखने के लिए पश्चिम पहुंचते थे, और फिर (जहाँ उनकी जाति की किसी को जानकारी न होती) अपने को ब्राह्मण घोषित कर देते थे। ऐसा इसलिए भी आसान था कि सीमा प्रदेश के उनके विद्वान शिक्षक पेशे—दरअसल आदिम वर्ग विभेद—से आगे बढ़कर जाति भेद पर बहुत कम ध्यान देते थे।

उत्तरापथ पर विपरीत दिशा में भी खूब यातायात चलता था। बुद्धत्व प्राप्ति के केवल आठ सप्ताह के बाद ही जो दो गृहस्थ बुद्ध के उपासक बने, वे पउवेलाआतिस अथवा बल्ख व्यापारी थे और उड़ीसा से राजगिर जाते हुए बुद्ध गया से गुजर रहे थे। इन दो भाइयों के नाम थे *तपस्सु और भल्लुक* जिनका अर्थ धातु-व्यापार से जुड़ता है क्रमशः सीसा या रांगा और तांबा। पूर्व में

जात्र आरम्भिक दौर म ही भिक्षु बननेवाला कश्मीर का एक क्षत्रिय था कप्पिन, जिसकी नाक पतली और ऊँची थी। उसके नाम से उपलब्ध पालि-गाथाओं म तपस्वी वत्ति की अपेक्षा यूनानी मूर्ति पूजा का पुट अधिक है। तक्ष शिला का पुक्कुस नामक राजा जिसन इतनी दूर तक बिम्बिसार को उपहार भज थे और उससे प्राप्त किय थ, बुद्ध के दशन करने वद्धावस्था म जब पहली बार मगध पहुचा, तो वही पर बुद्ध दशन के एक सप्ताह बाद, उसकी मत्यु हो गयी, कथा है कि उसकी मृत्यु किसी गाय क सीग मारने से हुई थी।

जिस बधन न इस पचमेल समाज को एकजूट रखा जिसके कारण यह कबीला के समूह की बजाय एक समाज कहलाया, वह एक सावजनिक पूजाविधि अथवा एक सावजनिक भाषा का उतना बधन नही था जितना कि उन समूची सावजनिक आवश्यकताओ का जिनकी पूर्ति पारस्परिक आदान प्रदान से होती थी। उत्तरापथ और दक्षिणापथ के व्यापारिक मार्गों पर होनेवाले पारस्परिक सम्पक के माध्यम से ही पूव की दाशनिक विचारधाराओ का प्रचार प्रसार हुआ। परिवेश भिन्नता के कारण यद्यपि वदिक भाषा और कमकाण्ड म बिख राव आ रहा था और नय देवता तथा धार्मिक मत मानव-मस्तिष्क को आन्दो-लित कर रहे थ, परन्तु पण्य उत्पादन ने दूर-दूर के आर्यों का और उनकी मिश्रित शाखाओ का कसकर बाँध रखा था।

५ ५ कोसल और मगध

ईसा पूव छठी सदी की जिन नतिक विचारधाराओ ने अपन सिद्धान्त रचे और कबील स आग बढकर उपदश दिये, उनका एक राजनीतिक प्रतिपक्ष भी था। समूचे समाज के लिए एक सावभौम शासन की स्थापना क समान्तर प्रयास हो रह थ। इन धार्मिक व लौकिक, दोनो ही आन्दोलनो का मूलाधार एक था गहपति व्यापारी तथा कृषक की नयी आवश्यकताएँ। जहाँ नये भिक्षु-सम्प्रदायो के सस्थापको ने विशेषत जन और बौद्ध सस्थापको ने, अपने सघो के सगठन के लिए कबीलाई पद्धति का ही स्वाभाविक एव उपयुक्त समझा, वहा राजनीतिशास्त्रियो को कबीलो के अलगाव को तोडने का केवल एक ही उपाय सूझा—निरकुश राजतन्त्र। प्राचीन यूनानी इस होमरीय कुलीनतन्त्र ('बैसिलियुस') स पमिनाइदीय निरकुश राजतन्त्र (टाइरनोस) म सक्रमण के रूप म पहचानते। निरकुश सत्ता के लिए जो लम्बा सघष हुआ उसके पीछे एक भावना हीन कठोर स्वाथपरक तार्किक पद्धति स प्रतिपादित एव सुचिन्तित राजनतिक सिद्धान्त की भूमिका थी। उसमे नैतिकता का तनिक भी कोई दिखावा अथवा दूसरो की भलाई का झूठा बहाना कभी नहीं रहा। नय राजतन्त्र के ये सिद्धान्त कार अपने क्षेत्र के उतन ही महत्त्वपूर्ण एव योग्य विचारक थ जितने कि समकालीन धर्मनेता। इनक नाम केवल एक सहिता-ग्रन्थ—कौटल्य के अथशास्त्र—म दखन

को मिलते हैं, यह ग्रन्थ, जिसका विवेचन अगले अध्याय म होगा, इस विषय परम्परा की अन्तिम और सबसे महान कृति है। सिद्धान्तकारो की यह नामावली बडी प्रभावशाली है भरद्वाज वात्स्यायन पराशर उपनस और बृहस्पति जाने माने ब्राह्मण नाम है, इनम कुछ नाम उस समय के पुराने धार्मिक सम्प्रदायो का भाँति, पथक रूप से समूची पारम्परिक शाखा के द्योतक हैं। बाहुदन्ती-पुत्र, किजल्क कौणपदन्त पिशुन विशालाक्ष वातव्याधि और दीघ चारायण सम्भवत क्षत्रिय थे क्षत्रिय परम्परा की सबसे प्रमुख शाखा आम्भी की थी। यह सूची पूण नहीं है। किसी भी शाखा के सार सिद्धान्त उपलब्ध नही हैं यद्यपि अथशास्त्र म प्रसगानुसार इन्हे उद्धत करके इनका ठीक उसी प्रकार विवेचन किया गया है जसेकि कोई विधिवेत्ता पहले के निरूपणा को पश करके विश्लेषणात्मक पद्धति म उनकी समीक्षा करता है। कही कोई ऐतिहासिक सन्दभ नही है और दीघ चारायण के अलावा और किसी के बारे म एसी कोई सूचना भी नही मिलती। ऐतिहासिक सन्दभ का यह अभाव स्वाभाविक है। जहाँ धर्मोपदेशक को जन समुदाय को विश्वास म लेना होता था और जीवन के हर क्षेत्र के लोगो तक खुलेआम तथा व्यापक रूप से अपने उपदेश पहुँचाने होते थे वहाँ राजनीति सम्बन्धी परामश कुछ चुने हुए व्यक्तियो तक गुप्त रहने से ही प्रभावशाली हो सकता था। ईसा पूव छठी सदी के महान् भिक्षु-उपदेशक कालान्तर के भारत की परोपजीवी भिखारियो की जमात से और जडबुद्धि पन्थोपदेशको से बहुत ऊँचे थे क्योकि एक नितान्त नये प्रकार के समाज के निर्माण म उन महान उपदेशको ने जोरदार भाग लिया था। ईसा पूव छठी सदी के युद्ध षडयन्त्र हत्या तथा विखण्डित आस्था-सम्बन्धी गाथा म और बाद के निरकुश राजतन्त्रो की, जिनम राजाओ पर कोई सवधानिक अकुश नही था गाथा म ठीक यही अन्तर पाया जाता है। ईसा पूव छठी सदी म पहली बार राजतन्त्र का उदय हुआ था यह एक नितान्त नई सामाजिक अवस्था के उपयुक्त एक अभिनव शासन प्रणाली थी। परन्तु मध्ययुगीन प्राच्य निरकुशता म केवल ऊपरी ढाँचे म ही रद्दोबदल होता थी समाज का बुनियादी ढाँचा जिसम काफी पहल से जडता आ गयी थी ज्यों-का त्यो कायम रहा।

परम्परा से जानकारी मिलती है कि ईसा पूव सातवी सदी म या सम्भवत इसके भी एक सदी पहले, सोलह प्रमुख जनपदो का अस्तित्व था। ईसा पूव छठी सदी के अन्त म और पाँचवी सदी के आरम्भ मे इनम सत्ता के लिए जो अन्तिम सघष हुआ उसम इन सोलह म से केवल चार ही अपने महत्त्व को कुछ हद तक कायम रख पाये। इनम किसी निरकुश राजसत्ता को न स्वीकार करनेवाले दो कुलीन-तन्त्र या गणतन्त्र थे—लिच्छवि या वज्जि ('घुमन्तू पशुपालक जिससे प्रकट होता है कि ये कुछ बाद म स्थायी हुए) और मल्ल। ये दोनो कबीले अपना

कारभार कबीलाई सभा द्वारा चलाते थे और निरन्तर सैनिक अभ्यास करते रहते थ। इनके न्याय व निष्पक्षता के लिए प्रसिद्ध अपने कबीलाई संविधान थे। परन्तु दोनों म अधीनस्थ कृषकों (जो सभी कबीले के सदस्य नहीं थे) के ऊपर कुलीन-वर्ग जन्म ले रहे थे और स्वयं कुलीन व्यक्तिगत सम्पत्ति के कारण आपस मे और अधिक बँटते जा रहे थे। लिच्छवियों का मुख्य नगर वेसालि (आधुनिक बसाढ) था, जहां उनका सन्थागार था। मल्लो की कई शाखाएँ थीं, जिनमे से दो इनके छोटे प्रमुख नगर पावा और कुसीनारा के इर्द गिर्द थी। प्रत्येक कबीला, आवश्यकता पड़ने पर काफी बड़ी सेना मैदान मे उतार सकता था। ईसा पूर्व पाँचवी सदी की शुरुआत मे इन कबीलों ने अपना एक मजबूत आक्रामक संघ बना लिया था जिसके लिए यह जरूरी था कि वह दूसरे प्रदेश पर विजय हासिल कर या अपनी ही स्वतन्त्रता खो दे। परन्तु इनकी उपेक्षा करना सम्भव नही था क्योंकि ये दो समूह उत्तरापथ के व्यापार-मार्ग को वहाँ रोकते थे जहाँ यह नेपाल की सीमा से दक्षिण की ओर चम्पारन जिले से होकर गंगा तक पहुँचता था और फिर नदी पार करके उस क्षेत्र म जाना होता था जहां सब के लिए लोहे व तांबे के खनिज मौजूद थे। इनके पश्चिमोत्तर म कोसल था और दक्षिण तथा दक्षिण पूर्व म मगध—दोनों ही निरकुश राजतन्त्र। कोसल और मगध भी (सोलह मे से शेष जनपदों की तरह) पहले कबीले थे, जैसाकि देश के अर्थ म इनका सदैव बहुवचन म इस्तेमाल (कोसलान, मगधान) होने से प्रकट होता है। परन्तु किसी बौद्ध या जैन ग्रन्थ म मगध कबीले या कोसल कबीले के बारे म कहीं कोई जानकारी नहीं मिलती न ही इनकी परिषदों अथवा सभाओं का कोई विवरण मिलता है। मगध शब्द का आरम्भ म अर्थ था 'चारण', बाद मे हुआ 'व्यापारी' जिससे प्रकट होता है कि मूल कबीले स दो विशिष्ट श्रेणियों का विकास हुआ था, ब्राह्मण धर्मग्रन्थ म तो मगधवासियों को मिश्रित जाति (व्रात्य) ही कहा गया है। जनपद (कबीले का ठौर) शब्द बाद म 'देश', 'राज्य' और 'जिले' के अर्थ म भी प्रयुक्त हुआ है जिससे साफ जाहिर होता है कि गंगा की घाटी म विकास का दौर किस प्रकार रहा है।

ये आर्य और आर्येतर कबीले, सिवाय एक महत्त्वपूर्ण अन्तर के, ईसा पूर्व छठी सदी के यूनानी कबीलाई राज्यों जैसे ही थ। जान पड़ता है कि आर्जीव, बिओतिअन लसिदेमोनियन आदि कबीलों न उस समय तक अपने सीमित और अपेक्षाकृत कम उपजाऊ प्रदेशों म व्यक्तिगत भूसम्पत्ति का विकास कर लिया था। भारतीय कबीलों की भूमि जो सदैव खूब विस्तृत रही और आम तौर पर बदल बदलकर जोती जाती थी, सम्पत्ति कम और क्षेत्र ही अधिक रही। कबीले की सभा को यह अधिकार था कि वह किसी जोत-क्षेत्र को फिर वह एक ही परिवार म लम्बे समय से क्यों न जोता गया हो दूसरे को जोतने के लिए द दे। इसके

विपरीत, निरंकुश राजतन्त्र का अस्तित्व हो इस बात पर निर्भर था कि वे निरंतर जाते जानेवाली स्थायी व्यक्तिगत भूसम्पत्ति से नियमित रूप से राजस्व वसूल करते रहे।

इन दोनों राजतन्त्रों में कोसल अधिक प्राचीन था और ईसा पूर्व छठी सदी के आरम्भ में यह निश्चय ही अधिक शक्तिशाली था। ईसा पूर्व छठी सदी में कोसल की राजधानी सावत्थी में थी यद्यपि पुराना मुख्य नगर इसके दक्षिण में साकेत था। यह साकेत वही पारम्परिक अयोध्या (अजेय) नगरी है जहाँ से पौराणिक महाकाव्य के नायक राम ने स्वेच्छा से वनवास के लिए कूच किया था और आगे वह अखण्डित अरण्य में पहुंचा था। यह तथाकथित वनवास मार्ग ही बाद में दक्षिणी व्यापार मार्ग दक्षिणापथ में विकसित हुआ आधुनिक दक्खन नाम इसी से है। बावरी जातक से पता चलता है कि सावत्थी नगर ईसा पूर्व छठी सदी के दो प्रमुख व्यापार-मार्गों के संगम पर था। इसके अलावा कोसल का गंगा पर नियन्त्रण था, क्योंकि लम्बे अर्से की लड़ाइयों के बाद कासी (वाराणसी) पर भी उसका अधिकार स्थापित हो गया था। कासी पर कोसल का अधिकार ईसा पूर्व सातवीं सदी में हो गया होगा क्योंकि इसके बाद कासी कबीले के बारे में कहीं कोई जानकारी नहीं मिलती। काशी के राजा ब्रह्मदत्त से सम्बन्धित केवल कुछ जातक-कथाओं से ही प्रकट होता है कि इस स्थान का जिसके बारे में ईसा पूर्व प्रथम सहस्राब्दी के आरम्भकाल के पुरातात्त्विक प्रमाण मिले हैं कुछ पारम्परिक महत्त्व था। पट्टन के रूप में वाराणसी का इतना अधिक महत्त्व था कि कोसल को इसके बाद कोसल-कासी कहा जाने लगा। वाराणसी में निर्मित सूत व कौशेय (टसर) वस्त्र और अन्य वस्तुएँ पहले से ही मशहूर थीं। बौद्ध भिक्षुओं ने अपने वस्त्रों के लिए यहीं के नारंगी भूरे कापाय रंग को अपनाया, और यह रंग लगभग इसी नाम से प्रसिद्ध बनारसी कत्थई के नाम से आज भी लोकप्रिय है। अत्यधिक साहसी नाविक कासी से ही अपनी समुद्र तक की यात्रा शुरू करते थे और कभी-कभी नदीमुख के परे भी पहुंच जाते थे, आरम्भ से ही इनके लाभप्रद व्यापार का स्थायी पण्य पदार्थ नमक रहा होगा।

व्यापार मार्ग पर मगध की स्थिति कुछ अनुपयुक्त जान पड़ती है क्योंकि यह नदी के परे रास्ते के छोर पर ऐसी जगह था जहाँ से आगे पथहीन जंगल की शुरुआत हो जाती थी। परन्तु इस राज्य का जहाँ बाद में भारत का सर्वप्रथम सार्वभौम राजतन्त्र और साम्राज्य स्थापित हुआ, व्यापार-मार्ग से भी कहीं अधिक महत्त्व की एक चीज, धातुओं की आपूर्ति पर अधिकार स्थापित हो गया था। राजधानी राजगिर (राजगह 'राजा का घर') में नदी के दक्षिण में प्राचीन आर्यों की एकमात्र बस्ती स्थापित हुई थी, तो इसका एक स्वाभाविक कारण है। राजगिर के समीप की पहाड़ियों की, जो धारवाड़ पर्वतमाला की

सबसे उत्तर की शाखा की हैं भूगर्भीय रचना ऐसी है कि इनम लौह-खनिज आसानी से मिल जाता है। यहा लौह-आक्साइड के शल्कल पपडिया के रूप मे पर्याप्त मात्रा म मिलत हैं और इन्हे अधिक खादे बिना ही चट्टाना स पथक किया जा सकता है इस खनिज को लकडी के कोयले से शुद्ध बनाने के बाद और तब मफद होने तक गम करके हथौडे से पीटने पर इससे औजार तथा बतन बनाय जा सकते हैं। राजगिर की एक और सुविधा यह है कि चारो ओर स पहाडियो स घिरा होन के कारण इसकी आसानी से रक्षा की जा सकती थी, आरम्भ म ही पच्चीस मील लम्ब एक परकोट से (इसकी किलेबन्दी कर ली गयी थी और इस परकोटे के भीतर दीवार से घिरा हुआ नगर सुरक्षित था। लगभग एक वग मील म आबाद यह राजगिर नगर एक तीसरे मध्यवर्ती परकोटे स घिरा हुआ था। परकोटा स घिरे हुए इस क्षेत्र म गरम व ठण्डे पानी के स्रोत थ जिनस बढिया पानी मिलता था और दीवारा के बीच म उत्तम चरागाह होन के कारण आपत्तिकाल मे लम्बे समय तक यहा के निवासी डटे रह सकत थे। इसके दक्षिण पूव मे गया है जो मगध का एक आरम्भिक उपनिवेश है। गया के पर आदिम जगल था। साहसी अन्वेषक इस जगल को पार करके दक्षिण पूव की पहाडियो म लौह व ताम्र खनिज की खाज करत थे, भारत म य खनिज यही पर सर्वाधिक मात्रा म पाय जात हैं। खनिज को खान स निकालकर यहीं पर इसे शुद्ध किया जाता था और फिर धातु का गगा की मध्य घाटी म लाकर बेचा जाता। कारण यह है कि खनिजा के इस पहाडी क्षेत्र म खेती करना उतना लाभप्रद नही था जितना कि नदी की जलोढ मिट्टी के क्षेत्र मे। अत मगध की महान् शक्ति का स्रोत यह था कि इसने धातु का समुचित इस्तमाल करके जगला को साफ किया और वहा हल की खेती की शुरुआत की।

उस जमाने मे ये सोलह जनपद ही सब-कुछ नही थ न ही केवल इन्ही के निवासिया का महत्त्व था। अधिकाश भूमि अभी अछूत जगलो स व्याप्त थी और इनम जहाँ-तहाँ अन्न सग्राहक खूखार आदिवासिया का निवास था। ये लोग उस समय तक पत्थर के कुठारो (पासाण मुग्गर) का इस्तेमाल करत थे और य आगे जाकर व्यापारी सार्थों के लिए अधिकाधिक खतरनाक साबित हुए। दा प्रमुख व्यापार-मार्गों पर भी जनपदो के बीच दूर-दूर तक आदिम जगल थ, जिनम स सार्थों को बडी सावधानी स, आमतौर पर भारी रक्षक-दल को साथ लकर जाना होता था। शाक्यो के गौण कबील क बार म हम इसलिए जानकारी मिलती है कि इसने एक महापुरुष को पदा किया। उस समय अल्लकप्प के बुलियो-जैस कबील भी इतना महत्त्व रखत थे कि बुद्ध धातु म स अपना हिस्सा माँग और उस प्राप्त करें परन्तु इस एकमात्र उल्लेख के अलावा इनक बारे म कोई जानकारी नही मिलती। मिथिला नाम का इस्तमाल नगर

और जनपद दोना के लिए होता था पर यह कबीला लुप्त हो चुका था यहाँ क इक्ष्वाकु वश के अन्तिम राजा सुमित्र की मत्यु बुद्ध जन्म के आसपास हुई । चाहे मिथिला का विदेह पर आधिपत्य हो जाने पर कोसल ने इन्हें आत्मसात कर लिया हो या दोना पर कोसल की विजय के बाद इन्हें मिला दिया गया हो, ईसा पूव छठी सदी के मध्यकाल म इन दोनो जनपदा का कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नही था । मगध न अग जनपद को जिसका विस्तार नदी के दोनो ओर था अपने म मिला लिया था । इसकी राजधानी चम्पा (भागलपुर) को, जो एक नगण्य देहात बन गया था, मगधराज बिम्बिसार ने एक ब्राह्मण याज्ञिक का दान म द दिया था ।

सामान्य कबीलाई जनो स भी अधिक महत्त्वपूण ये व्यापारी जिन्हें आमतौर पर सत्थवाह (साथवाह) अथवा वदेहिक कहा जाता था । दूसर नाम का अथ है 'विदह कबीले के लोग । यद्यपि सभी व्यापारी किसी एक कबीले या जनपद क नही होत थ और विदेह कबीला लुप्त हो चुका था फिर भी इस नामकरण स स्पष्ट होता है कि इस पेश का उद्गम एक विशिष्ट कबीलाई श्रेणी स हुआ था । व्यापारी सार्थों की यह लम्बी शृखला तक्षशिला से लेकर मगध के पूर्वी छोर तक फली हुई थी । अधिक साहसी व्यापारी इन सभी जनपदो की सीमा के पर भी पहुच जाते थे विशेपत दक्षिणापथ क विस्तार म । यह व्यापार अब आदिम पद्धति का नही था न ही यह केवल व्यापारी मित्रा तक सीमित रह गया था, यह दूसरी बात है कि जिन बबर अरण्यवासिया न इस पशे को कायम रखा था उनके साथ भी शायद व्यापार होता हो । ईसा पूव सातवी सदी के अन्त समय तक सिक्को का नियमित रूप से इस्तमाल होने लग गया था यह बात उपलब्ध सिक्का स सिद्ध हो जाता है । मगध के पूर्वी भाग म चाँदी के कार्पापण सिक्के ३ ५ ग्राम मानक तौल क होत थ जब कि कोसल क्षेत्र म मिली एकमात्र निधि के सिक्के ३/४ कार्पापण मानक तौल के हैं । यही तौल सिन्धु सभ्यता का भी रहा है दरअसल सिन्धु सभ्यता म ठीक इसी तौल क पत्थर के बाट बनाये गये थे । तक्षशिला के सिक्के विदशी मानक तौल क थ ११ ग्राम से थोडे ही अधिक तौल के और ऐतिहासिक युगा म भारतीय रुपय का तौल भी लगभग इतना ही रहा है । कार्पापण का तौल ३२ इकाइया के बराबर था परन्तु सीमा प्रदश के सिक्का का जो मुडी हुई छड के आकार के हात थ १०० इकाइया के बराबर था । आरम्भ मे य चाँदी के सिक्के चिह्न रहित होत थ और व्यापारी ही इन्हें चलात थे और प्रचलन क दौरान व्यापारिया की श्रेणियाँ इनके तौल का नियमित रूप स जाँच करती थीं । जाँच क समय इन सिक्का की एक तरफ छाट चिह्न आहत किय जात थ जो श्रेणियों क चिह्ना को पहचाननवाला के लिए इस बात क प्रमाण हाने थ कि सिक्के सही तौल क और शुद्ध धातु क हैं । इन

आहत चिह्न (पचमार्क) का उत्तरापथ के परे अफगानिस्तान और ईरान तक प्रचलन था, कभी-कभी ये चिह्न हखामनिया के दारिक नामक (सम्राट दारा के नाम पर) उन सिक्कों पर भी देखने को मिलते हैं जो सम्भवत गधार म चलाये गये थे। इनमें से कुछ आहत चिह्न सिंधु लिपि-सकेतो से आये हैं, सम्भवत उन पणियो के वशजो के माध्यम से जिनका पहले सक्षेप म नामोल्लेख हुआ है। जारी किये जाने के समय आरम्भ म इन चाँदी के टुकडो की दूसरी तरफ कोई चिह्न नहीं होता था। ईसा पूर्व छठी सदी स राजाओ ने भी इन सिक्को पर जिस तरफ पहले कोई चिह्न नहीं होते थे अपने चिह्न दागना शुरू कर दिया। यह एक नियमित प्रणाली थी जिसमे कोसल के चार चिह्न थे और मगध तथा दूसरो के पाँच चिह्न। इन चिह्नो के आधार पर हम राजवशो को अलग-अलग पहचान सकते है और मोटे तौर पर बता सकते हैं कि किस राजवश म कितने राजा हुए, परतु प्रत्येक राजा का नाम बताना आसान नहीं है और हम अक्सर अनुमान का सहारा लेना पडता है। पुनराहत सिक्के राजवश म बडी उथल-पुथल के सूचक हैं नया राजा विस्थापित शासक के खजाने के सिक्को पर उन्हे पुन जारी करने के पहले अपने चिह्न अकित करवाता था।

ये सिक्के आधुनिक मशीनो से ढाले गये सिक्को की तरह सूक्ष्म तौल के हैं, इनके तौल म न्यूनाधिकता अत्यत स्वल्प है। इस प्रकार के सिक्को से इतनी सूक्ष्म तौल की नियमित मुद्रा प्रणाली से, यह स्पष्ट जाहिर होता है कि पण्य-उत्पादन खूब होता था। जानकारी मिलती है कि टोकरियाँ बनानेवालो के, कुम्हारो के, धातु-कर्मकारो के, बुनकरो आदि के पूरे गाँव ही (विशेषत वाराणसी के आसपास) बस गये थे। इन कारीगरो के अपने-अपने सगोत्रीय समूह थे फिर भी आमतौर पर वे श्रेणियाँ बना लेते थे, जिनका सगठन उनके अपने पुराने कबीलाई सगठनो के अनुरूप होता था। अर्द्ध-कबीलाई क्षेत्रो म, उस समय म, इस प्रकार की व्यवस्था आज भी देखी जा सकती है। प्रत्येक श्रेणी के पास काफी धन होता था, जिस पर किसी एक सदस्य का अधिकार नहीं था, परन्तु आवश्यकता पडने पर श्रेणी का मुखिया या श्रेणी परिषद किसी सदस्य को या किसी बाहरी व्यक्ति या सस्था को यह धन वितरित कर सकते थे। भारत का सबसे पुराना जातियो म जिनके पूर्वरूप पीछे जाकर इस काल म अथवा इससे भी पहले के काल म स्पष्ट रूप से खोज जा सकते हैं यह प्रथा आज भी स्पष्ट रूप से मिलती है। उत्तर-वैदिक काल म कारीगर की गणना सम्भवत वैश्य जाति म होती थी और वह आमतौर पर घुमन्तू 'ग्राम' का सदस्य होता था। कारीगरो द्वारा तैयार किया गया सारा माल समीप के नगर म नहीं खपता था, क्योंकि ईसा पूर्व सातवीं या छठी सदी म नगर अभी काफी छोटे थे। बहुत-सा माल जैसे कपडा और धातु की वस्तुएँ, दूर-दूर तक ले जाकर बेचा जाता था।

प्राकृतिक वस्तुओ म नमक एक एसी चीज थी जिस बिहार म उतनी आसानी स प्राप्त नही किया जा सकता था जितना कि पजाब की नमक की पहाडियो म, इसलिए इसकी खोज करनी पडती थी (समुद्र तक) और दूर-दूर तक इसे ढोना पडता था। जगल की एक खास उपज थी बॉस, जिससे टोकरियाँ तथा दूसरी कई आवश्यक चीजें बनती थी। चन्दन-लेप शीतलता और शरीर-सफाई के कई साधनो म से एक था, जिसकी स्नान (जो ऐश न होकर गम जलवायु की एक आवश्यकता है) के लिए बडी माँग थी खासकर इसलिए भी कि अभी साबुन का आविष्कार नही हुआ था। यह सारी सामग्री व व्यापार की वस्तुएँ एक बार म ही ५०० या इससे भी अधिक बलगाडियो के साथ म ढायी जाती थीं। गाडियो म आरावाले पहिए होते थे जिन पर खाल के पट्टे चढ़े होते थे उत्तरापथ की नरम धरती पर ऐसी गाडियो को चलान म कोई कठिनाई नहीं थी।

दक्षिणापथ का प्रदेश पवतीय कठिन दर्रोंवाला और खण्डित एव पथरीली भूमिवाला था और उसम उत्तरी भारत जसे चौडे और साफ रास्त नही थे। वहाँ भारवाहक पशुआ का और कभी-कभी सिर पर बोझा ढोनेवाले मजदूरो का इस्तमाल होता था। पण्य वस्तुओ के साथ विनिमय के लिए अनाज खाला आदि का काफी अतिरिक्त स्थानीय उत्पादन जरूरी था, परन्तु यह उत्पादन व्यक्तिगत सम्पत्ति (भूमि शोधन इत्यादि के रूप म) के जरिये और सगठित श्रम आमतौर पर शूद्रा के श्रम से ही सम्भव था, फिर वे श्रमिक चाहे भाडे के मजदूर हा अथवा अस्थायी दास। जगली प्रदेश म यह व्यापार कबीले के मुखिया के साथ होता था जो व्यापारी के लिए अतिरिक्त उपज एकत्र करता था। ऐस मुखिया अथवा वे समूह जो व्यापारी मित्रो के स्तर से आगे बढ चुके थे इस प्रकार जमा की गयी नयी सम्पत्ति के कारण अन्ततोगत्वा शेष कबीले से स्वतन्त्र हो जात थ। इस प्रकार, अधिक सम्पक-सुलभ कबीलो का अधिकाधिक विघटन हुआ। व्यापार की एक बहुमूल्य चीज थी घोडा जिस पर अब जीन कसकर सवारी की जाती थी, दक्खन मे घोडा ईसा पूव छठी सदी के पहले ही पहुच चुका था। हाथी और भी अधिक मूल्यवान था परन्तु राजा के लिए और लडाइया म ही इसका इस्तमाल हाता था यह आम व्यापार का माल नही था। उस समय का समाज भी वसा नही था जसाकि यह आगे की बारह सदियो मे जात पात स जकडे, असहाय एव निरुत्साही ग्राम्य जनसमूह म बदल गया था और तदनुरूप प्राकृतिक परिवेश भी घिस पिट गया था। फिर भी आक्रमण के लाभ उस समय भी ललचान के लिए पर्याप्त थ। इनके अलावा एक अजय शक्तिशाली सत्ता की आवश्यकता अधिकाधिक महसूस हो रही थी जो वस्तुआ के अबाध स्थानान्तरण एव वस्तु विनिमय को सुरक्षा प्रदान कर सक। जाहिर है कि इसके लिए ऐस कानून की आवश्यकता थी जिससे समूहो के सम्बन्धो का नियमन हो सक।

थोडा विषयान्तर करके यहाँ हम सैद्धांतिक पहलू पर विचार करेंगे। नये राज्य के लिए एक नितांत जरूरी साधन की आवश्यकता बढती जा रही थी—एक शक्तिशाली, सुशिक्षित और सुसंगठित पेशेवर स्थायी सेना, जिसकी भरती और कार्यवाही में कबीलाई विशेषाधिकार, कबीलाई कानून अथवा कबीलाई निष्ठा रुकावट न डाल सके, बल्कि जो कबीले से आगे बढकर समाज की सेवा कर सके—एक ऐसे समाज की जो एकांतिक कबीलाई जीवन को स्वीकार नहीं करता। यह सेना कबीले की उस अनिवार्य सैन्य भरती की तरह नहीं थी जिसे मुखिया जरूरत पडने पर खडी कर लेता था। आवश्यकता ऐसी सेना की थी जिसे सावधानी से अनुशासनयुक्त बनाया गया हो, जिसे लगातार शिक्षित रखा जाता हो, नियमित रूप से वेतन दिया जाता हो, राज्य के खर्चे से भलीभाँति सुसज्जित हो और जिसे सामरिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण उपयुक्त छावनियों में रखा गया हो। यह सब नियमित कर-वसूली के बिना सम्भव नहीं था, जिसे आमतौर पर कबीलाई कुलक स्वीकार नहीं करते। न लिच्छवि, न ही मल्ल ऐसी कोई स्वाधीन स्थायी सेना खडी कर पाये जिसके सैनिक पूर्णत वेतन पर निर्भर हों। केवल एक निरंकुश राजा ही जो कानून से बँधा हुआ न हो, उन विभिन्न सुसम्बद्ध समूहों के अलगाव को तोड सकता था जो अपने को पूर्णत सम्पत्तिमूलक अधिकारों पर आश्रित एक व्यापक समाज के स्थायी संलग्न सदस्य मानने को तैयार नहीं थे। मैकियावेली ने एक भिन्न सन्दर्भ में यही उपाय सुझाया था उसकी पुस्तक इल प्रिन्सिपे में राजकुमार को यही सलाह दी गयी है कि वह आपस में झगडनेवाले इतालवी नगरों का सख्ती से दमन करके उन्हें एक राष्ट्र के रूप में संगठित करे। परन्तु मैकियावेली यहीं पर रुक गया। न वह, न उसका समर्थित उम्मीदवार सीज़र बोर्ज्या और न ही कोई अन्य इटलीवासी इस बात को समझ पाया कि आवश्यकता है सामन्ती इटली के उत्पादन के आधार को बदलने की—यद्यपि तब तक रिनासाँ-युग बीत चुका था और बरोक-युग शुरू हो गया था। मगध के सिद्धान्तकारों ने ऐसे कठोर अनुशासन का सुझाव दिया कि कोई भी बोर्ज्या हक्का-बक्का रह जाता, परन्तु उनका खुलेआम घोषित मुख्य लक्ष्य था—भूमि की शक्ल बदलना। उनके राजा का मुख्य कार्य और राज्य के लिए आय का स्रोत था—घने जंगलों को साफ करना, परती जमीन को कृषि के योग्य बनाना और साथ ही खानों और धातुओं पर राज्य का एकाधिकार। इस राजतन्त्र के लिए अत्यावश्यक था कि वह कबीलाई विशेषाधिकार सम्पत्ति-सामग्री तथा अलगाव के सभी अवरोधों को तोड डाले बाद के निरंकुश राजतन्त्र न तो समाज के केवल उसी निम्नतर अधःस्तर पर शासन किया है जो कृषि की पूर्ण विकसित अवस्था पर पहले ही पहुँच चुका था। इस विवेचन को पूरा करने के लिए कुछ मान्यताएँ दी जा सकती हैं। पूर्वी यूरोप के कुछ देशों

के, चीन के, अफ्रीका के नव-स्वाधीन दशो व और अरब जगत के कुछ नेता दढतापूवक कहन हैं कि देश का एक नयी अवस्था म ले जाने के लिए, फिर वह अवस्था समाजवादी हो अथवा पूजीवादी जनवादी, अधिनायकत्व आवश्यक है। लटिन अमरीकी गणतन्त्रा म, हाल की वयूबा की शाति तक, आमतौर पर एक अय प्रकार का अधिनायकत्व चला, जिसने वर्गों की स्थिति को कभी नही बदला अधिक-से-अधिक शासकवग के लोभ को ही कुछ नियमित किया—जसाकि बेहतर रोमन सम्राटो ने किया था।

चित्र ६ बद्ध के समकालीन कोसलराज पसेनदि के चान्दी के सिक्को पर आहत चिह्न। मनक सिक्कों के नमूना की तुलना करके इन चिह्नो को पहचानना होता है क्योकि ये एक-दूसरे पर अकित और प्राय अधूरे हैं। यह ध्यान देने की बात है कि कोसल की मुग प्रणाली चार चिह्नो की थी और इन सिक्का का तौल ३।४ मानक कार्षापण था।

ईसा पूव छठी सदी के मगध और कासल के राजा इनमे स अधिकाश आव श्यक्ताओ की पूर्ति करने योग्य थे। दोना निम्न जाति म पदा हुए थ और किसी कबीले या कबीलाई सभा का उन पर काइ बन्धन नही था। पालि ग्र था म मगध के बिम्बिसार की वशावली नही मिलती, पर सस्कृत पुराणो मे उसे शिशुनाग वश का बताया गया है। और करीब दस पीढ़ियो बाद इस राज परिवार और राजवश का अत भी शिशुनागा क रूप म ही हुआ। इस नाम के अत म जो नाग पद है वह वदिक व्यवहार म असम्भव था। यहाँ पर यह शब्द आदि वासिया के रक्त अथवा कम-से-कम आदिवासिया के पूजा विधानो का द्योतक होना चाहिए। ब्राह्मणा के ग्र था म इस राजवश का तिरस्कारपूवक अधम क्षत्रिय (क्षात्र-बन्धु) कहा गया है, जिसका कम-स कम इतना अथ तो है ही कि य लोग, विजय के लिए कभी-कदा यज्ञ कर लने क अलावा वदिक प्रथाओ की तनिक भी परवाह नही करते थे। वस्तुत राजगिर म बुद्ध पूव का सबस प्रमुख जा पूजा स्थल (मणियार मठ) है उसका सम्बन्ध कुछ नाग पूजाविधिया से था और इस स्थान के उजड जान तक, कई सदिया तक इसका यही स्वरूप रहा। मगधराज बिम्बिसार की विशेष उपाधि थी सेनिय यानी सेना रखनेवाला। इमस जाहिर होना है कि वह पहला राजा था जिसने एक नियमित स्थायी सेना खडी की थी और इस सना का किसी कबीले से सम्बन्ध नही था। कोसलराज पसेनदि अपने का वदिक काल के प्रसिद्ध राजा इक्ष्वाकु का वशज बताता था, परन्तु उसका यह

१ देहाती झोपडी अम्बरनाथ ।

२ पत्थर और मिट्टी की दीवारों से बनी फूस की झोपडी और गोशाला चातण

वे चीन के अफ्रीका क नव स्वाधीन देशो के और अरब जगत के कुछ नेता दढतापूवक कहन है कि देश को एक नयी अवस्था म ले जाने के लिए फिर वह अवस्था समाजवादी हो अथवा पूजीवादी जनवादी, अधिनायकत्व आवश्यक है। लटिन-अमरीकी गणतन्त्रो म, हाल की क्यूबा की क्रांति तक, आमतौर पर एक अय प्रकार का अधिनायकत्व चला, जिसने वर्गो की स्थिति को कभी नही बदला अधिक स-अधिक शासकवग के लोभ को ही कुछ नियमित किया—जसाकि बेहतर रोमन सम्राटो ने किया था।

चित्र ६ बुद्ध के समकालीन कोसलराज पसेनदि के चांदी के सिक्को पर आहत चिह्न। अनेक सिक्कों के नमूना का तुलना करके इन चिह्नो को पहचानना होता है क्योकि ये एक-दूसरे पर अकित और प्राय अधूरे हैं। यह ध्यान देने की बात है कि कोसल की मुद्रा प्रणाली चार चिह्नों की थी और इन सिक्को का तौल ३।४ मानक कार्षापण था।

ईसा पूव छठी सदी के मगध और कोसल के राजा इनम से अधिकाश आवश्यकताओ की पूर्ति करने योग्य थ। दोना निम्न जाति म पैदा हुए थ और किसी कबीले या कबीलाई सभा का उन पर कोई बधन नही था। पालि ग्र था म मगध के बिम्बिसार की वशावली नहीं मिलती पर सस्कृत पुराणा म उसे शिशुनाग वश का बताया गया है। और करीब दस पीढ़िया बाद, इस राज परिवार और राजवश का अ त भी शिशुनागो के रूप मे ही हुआ। इस नाम के अ त मे जो नाग' पद है वह वदिक व्यवहार म असम्भव था। यहाँ पर यह शब्द आदिवासिया के रक्त अथवा कम-से कम आदिवासियो के पूजा विधानो का द्योतक होना चाहिए। ब्राह्मणा के ग्र था म इस राजवश को तिरस्कारपूवक अधम क्षत्रिय (क्षात्र बधु) कहा गया है, जिसका कम-से कम इतना अथ तो है ही कि ये लाग, विजय क लिए कभी कदा यज्ञ कर लेने के अलावा, वदिक प्रथाओ की तनिक भी परवाह नही करते थ। वस्तुत राजगिर म बुद्ध पूव का सबसे प्रमुख जो पूजा स्थल (मणियार मठ) है उसका सम्बध कुछ नाग पूजाविधिया से था और इस स्थान के उजड जान तक कई सदिया तक इसका यही स्वरूप रहा। मगधराज बिम्बिसार की विशेष उपाधि थी सनिय यानी 'सेना रखनेवाला। इसमे जाहिर होता है कि वह पहला राजा था जिसने एक नियमित स्थायी सेना खडी की थी और इस सेना का किसी कबीले से सम्बध नही था। कोसलराज पसेनदि अपने को वदिक काल के प्रसिद्ध राजा इक्ष्वाकु का वशज बताता था, परन्तु उसका यह

१ देहाती झोपड़ी अम्बरनाथ।

२ पत्थरों और मिट्टी की दीवारों से बनी फूस की झोपड़ी और गोशाला चारण

८ कुम्हार के चाक पर बड़ी संख्या में बर्तनों का उत्पादन हुआ। इसमें किसी साँचे अथवा औजार का इस्तेमाल नहीं होता फिर भी सभी बर्तन एक से आकार के हैं। कुम्हार की केवल उंगलियाँ ही बर्तनों को आकार देती हैं और चाक पर स्थापित अनगढ़ मिट्टी से बर्तन को अलग करने के लिए केवल एक गीली डोरी उपयोग में लाई जाती है।

९ केवल स्त्रियों द्वारा चलाया जानेवाला कुम्हार का धीमा चाक। यहाँ तीन स्तरों में बननेवाले बड़े घड़ों की पेंदियों को बनाया जा रहा है। इनकी खोखर बनावट स्पष्ट है पुरुष थपलों का इस्तेमाल करके इन्हें अंतिम रूप देते हैं।
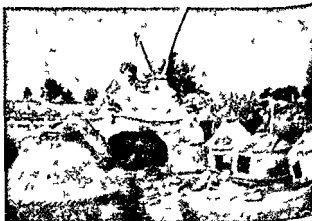
१ म्हसोबा (पशुदेवता और महिषासुर भी) के मिट्टी के देवालय। बीच का देवालय आधुनिक है बाकी सब पुराने हैं। प्रतीकात्मक घर अथवा झोपड़ी के नमूने पर बने ऐसे आवास अब खड़ाली प्रदेश में देखने को नहीं

१४ जु नर में गणश लणा नामक बौद्ध गफाओ के समीप क खता में व्यवहृत यह आधुनिक हल कषाण कालीन हल स मेल खाता है।

१५ खड हत्थ और झुके हुए जुए क व वाला कषाण कालीन हल लगभग २ ई ।

२३ उरांवों का नृत्य।

२४ लकड़ी को खोखला करके बनाये गये त्रिकोण ढोल को बजाते हुए मड़िया लड़के।

२ बंगाल का अकाल १९४४।

१ लगभग १६०० ई० का एक बंगाल हस्तलिपि का चित्र जिसमें कुम्हार (?) के [illegible] को दिखाया गया है

२५ चायबागान के एक मेले में आदिवासी मजदूर । चाय के ये बाग तो असम के हैं परन्तु भर्ती किये गये मजदूर उड़ीसा, बिहार और मध्य प्रदेश के हैं। मूल आदिवासी नर्तकों की सहजता और उन्मत्तता की तुलना में इन नर्तकों की मुद्रा एवं भाव का तनाव ध्यान देने योग्य है।

२६ असम की एक नदी में मछली पकड़ती नचरी स्त्रियाँ।

सन की एक नाव में डोंगा में
खेता हुआ एक गारो पुरुष।

२८ गल मिलती दो भाल बहनें राजस्थान। ओढ़नी पहने हुई विवाहित बहन जब मैके आती है तो प्रथानुसार कमर तक निवस्त्र रहनेवाली अविवाहित बहन उससे गले मिलती है।

२६ बड बड बांसों के जोडो मे पाना भरकर
ा जाती हुई मिज मिशोनी स्त्रियां असम ।

३० पत्ता क द्रोण बनाती हुई जमांग स्त्रियां ।

३ ताड़ी संग्रह करते सवरा युवक उड़ीसा।

३४ गहूँ की कटाई और धोसाई करते राजस्थान के भील किसानों का यह आम तरीका है।

३५ भीलों की झोपड़ी के भित्तिचित्र राजस्थान।

३७ पर्व रेहाव पर प्राप्त मध्यपाषाण पूर्व युग के लघुपाषाण जिनका पत्थर के बड़े औजारों अथवा महापाषाणों से सम्बन्ध नहीं है। ये औज़ार पतली खाल साफ करनेवाले लोगों के हैं। इनमें से कुछ लघुपाषाण शल्यकार्य के लिए हैं सम्भवतः बधिया करने के लिए।

३८ प्रारम्भिक टीलों पर पाये गये लघुपाषाण जिनका सम्बन्ध दक्खन के खाँचोंवाले मध्यपाषाणों से है। देखिए दबाव की पद्धति से बनाये गये इन शल्कलों के नखाकार किनारे। यह पद्धति तो अधिक उन्नत है परन्तु ये लघुपाषाण अपेक्षाकृत अधिक मोटे और कम सूक्ष्म हैं।
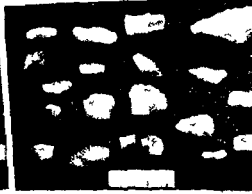
३६ काटकर और जलाकर स्थानान्तरित अथवा झूम' पद्धति की खेती के लिए पहाड़ी की ढलान पर सूखे पत्तों में आग लगाता हुआ एक वार्ली किसान महाराष्ट्र। धान के खेत तैयार करने में आम किसान बहुत कुछ यही पद्धति अमल में लाते हैं।

६ एक नग्न स्त्री की आकृतिवाले कलश का सामने का भाग महेश्वर (नावड़ा टोला उत्खनन) ईसा पूर्व दूसरी सहस्राब्दी। यह आकृति निस्सन्देह किसी मातृदेवी की है और कलश जो मातृदेवी का प्रतीक है गर्भाशय का द्योतक है।

० चित्रित ठीकरा जिसमें नर्तक का हाथ मिलाकर नृत्य करते हुए दिखाया गया है [illegible]श्वर (नावड़ा टोला उत्खनन) ईसा पूर्व [illegible]री सहस्राब्दी। मानसून के आगमनकाल [illegible] ऐसा वर्त्ताकार नृत्य जो पुरातन प्रजननमूलक [illegible]स्कार का द्योतक है लड़कियाँ आज भी [illegible]रती हैं।

४१ सिल और बट्टा मोहेंजोदड़ो। फल का निचला हिस्सा घुटनों के बीच दबाया जाता था और यह सिल बट्टा अनाज पीसने के काम आता था। सिंधु सभ्यता के लोगों को घूर्णन चक्की की जानकारी नहीं थी।
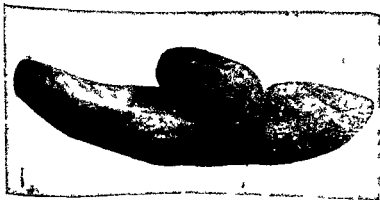
४२ इस प्रागतिहासिक महापाषाण की बोन्हाई नामक मातृदेवी के स्थल के रूप में आज भी पूजा होता है। महराब के नीचे का लाल रंग पोता हुआ चिकना अण्डाकार पत्थर देवी का द्योतक है। ऊपर का पत्थर करीब सात फुट लम्बा है और किसी अन्य पत्थर से इसे घिसने अथवा इस पर चोट करने से यह घंटी की तरह बजता है यहाँ के पूजा विधान की आज भी यह एक रस्म है। इस सम्पूर्ण स्मारक की रचना में धातु के किसी औजार का इस्तेमाल नहीं हुआ है।

४३ तथाकथित पिप्पली गुहा पत्थरों का एक आयताकार स्तूप राजगिर। यह उपासना चैत्य है जहाँ बुद्ध ने कई बार विश्राम किया था और जिसका पाली कथा में उल्लेख है। पर यह बुद्ध से काफी प्राचीन है और संभवत एक आद्य पुरावशेष है। इस मचान का पहरा देने तथा नगाड़ा बजाने के लिए इस्तेमाल होता था इसके ठीक पीछे प्रागतिहासिक काल की एक प्राकृतिक गुफा भी है। संभवत यह एक पूजा स्थल भी था।

\
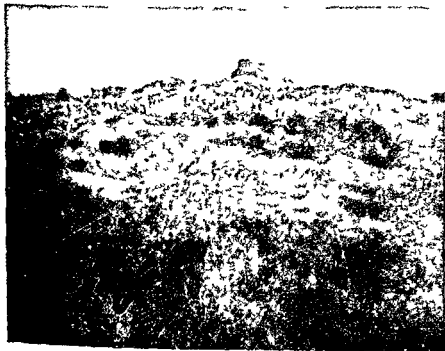
४४ मोहेंजो दडो के उत्खनन का विस्तत नज़ारा १९२५ ई।

४५ मोहेंजो दडो के दुर्ग के टील पर विशाल स्नानागार जो बाद के पुष्कर (कमलताल) का प्रतिरूप है।

४६ सिंध मुहर पर उत्कीर्ण नाव—पाल मस्तूल तथा पतवार सहित। ४७ (बीच में) सिंधु मुहर जिसमें बलि विधान का दृश्य अंकित है। नीचे की पंक्ति में चोगा पहने जो सात व्यक्ति हैं वे संभवत मूल ब्राह्मण गोत्र संस्थापक हैं शिरोवस्त्रों को देखते हुए इनके वन देवता होने का भी आभास मिलता है। इस दृश्य में आठवाँ पुरोहित पीपल वृक्ष के बीच में स्थित तीन सींग वाले देवता की पूजा कर रहा है। इस पुरोहित के पीछे जो काल्पनिक पशु है उसके सींग बकरे के सिर मछली का शरीर मेढ़ का और पर संभवत पंजो वाले हैं। नीचे वेदी पर जो चीज है वह छोटा करके दिखाया गया मानव मस्तक हो सकता है। ४८ सिंधु मुहर पर अंकित वृषभ मानव जो सुमेरी एनकिडु की तरह सींगोंवाला एक बाघ का वध कर रहा है।

४९ दो बाघों के गले घोंटता हुआ एक दुबला सा सिंधु योद्धा मेसोपोटामिया के गिलगमेश को भी इसी प्रकार योद्धा देवता के रूप में दर्शाया गया है। ५० सिंधु मुहर पर अंकित नर व्याघ्र जो विष्णु के नरसिंह अवतार का आदिरूप है। इस मुहर पर ऊपर दो भावचित्र हैं जो अथवा सत्ता के सूचक हैं। ५१ (बायें) मेसोपोटामिया से प्राप्त इस बेलनाकार मुहर पर मत्स्यपुरुष और मत्स्य कन्या अंकित हैं। सिंधु प्रदेश में इस प्रकार की कोई मुहर तो नहीं मिली है परन्तु भारत में इस अवधारणा का विकास विष्णु के मत्स्य अवतार के रूप में हुआ।

५२ (बायें) बेलनाकार मुहर सिंह और वृषभ के साथ लड़ते हुए दो दाढ़ीवाले योद्धा समर अक्काद युग ईसा पूर्व तीसरी सहस्राब्दी का अंतिम चरण। ५३ बेलनाकार मुहर पंख दार चंदोवा के नीचे दण्डियों वाले बैल के ऊपर खड़ी नग्न देवी संभवत इश्तर। नजदीक ही एक आकृति सिला परिधान में है। सीरिया ईसा पूर्व दूसरी सहस्राब्दी का मध्यकाल। यहाँ प्रस्तुत नग्न देवी वेदों में वर्णित उषस से मेल

५४ बलनाकार म र   लडत न्ए योद्ध और पिह। सुमेरी प्रारभिक राजवशीय काल ईसा पूव तीसरा सन्स्रा ी का मध्य काल।

५५ ई पू २६ म सिक दर के पजाव अभियान और पुरु की पराजय का स्मति स्मारक पन्क। वबोलोन से (?)

५६ (बायें) महान सिकन्दर का समकालीन भारतीय राजा माफिता (सोफ़ि)। इस राजा क सिक्क यनानी शला क हैं और इन पर लेख भी यूनानी म हैं।

५७ (बायें) प्यूकलाग्राती (पुष्करावती) का चांदी का सिक्क निम्न काबल घाटी में। इस पर अकित लेख है पखलावदी देवन् अवा—पुष्करावता की दवता। यहां नगर की भाग्य देवी टाइकी को कमलधारिणी मातदेवी क रूप में दर्शाया गया है।

दावा उसके समय में और उसके देश में ही नहीं माना गया। जब उसने एक शाक्य-कन्या से विवाह करना चाहा, तो उसकी इस माँग से शाक्य उलझन में पड़ गये, यद्यपि उनके जीवन-मरण का मामला पसेनदि के अधिकार में था और शाक्य भी अपने को राजा इक्ष्वाकु के वंशज मानते थे। आखिर उन्होंने राजा को धोखा ही दिया—महानाम शाक्य की नागमुण्डा दासी से पैदा हुई सुंदर कन्या वासभ-खत्तिया को उन्होंने पसेनदि के पास भेज दिया। नागमुण्डा नाम भी आदिवासी-जन्म का सूचक है। बाद में इस धोखे का भण्डाफोड़ हुआ परन्तु इस विवाह से पैदा हुआ पुत्र, विडूडभ, राज्य का उत्तराधिकारी बना रहा। पसेनदि की पटरानी मल्लिका एक माली की पुत्री थी, अर्थात् शास्त्रत एक नीची जाति की कन्या। परन्तु उस समय पूर्वी प्रदेश में कुछ ब्राह्मणों को छोड़कर बाकी के लिए जाति-व्यवस्था बहुत कठोर नहीं थी।

पसेनदि ने बिम्बिसार से एक और कदम आगे बढ़कर अपने पुत्र एवं उत्तराधिकारी को एक नये पद 'सेनापति' से विभूषित किया, उसके इस पुत्र का उल्लेख हमेशा विडूडभ सेनापति के रूप में ही हुआ है। उसके पहले 'सेनापति' का कहीं कोई उल्लेख नहीं मिलता। पूर्ववर्ती कबीलों के मुखियों की भाँति राजा ही सेना का नेतृत्व और संचालन करता था। परन्तु पसेनदि ने मल्ल-बन्धुल को सेनापति बनाया था और कोसल की सेना लगभग उसी के पूर्ण अधिकार में थी। किन्तु राजा को जब शक हुआ कि वह राजसत्ता हथियाना चाहता है तो पसेनदि के आदेश से धोखा देकर उसे मार डाला गया। यहाँ राजा ने बड़ी गलती की थी, विशेषतः इसलिए कि बन्धुल का भांजा दीघ-कारायण अभी भी उसका एक उच्च पदस्थ मन्त्री था। यह मन्त्री निस्सन्देह राजतन्त्र का वही पण्डित है जिसे संस्कृत में दीघ-चारायण कहा गया है। (उच्चारण परिवर्तन के ऐसे और भी उदाहरण मिलते हैं, जैसे, अशोक की रानी चारुवाकी के लिए कालुवाकी, कश्मीरी कवि क्षेमेन्द्र ने अपने बौद्ध प्रबन्ध-काव्य अवदानकल्पलता में चारायण नाम ही दिया है।) परन्तु कुछ समय तक कोसल या मगध ने एक-दूसरे को युद्ध के लिए नहीं उकसाया। दोनों ही राजा अनाक्रामक प्रवृत्ति के थे, दोनों नये धर्मोपदेशकों का प्रसन्नतापूर्वक स्वागत कर रहे थे। जानकारी मिलती है कि दोनों ही राजा बुद्ध के घनिष्ठ मित्र और प्रशंसक थे, परन्तु इन्होंने उस समय के प्रमुख सम्प्रदायों का भी कुछ वैदिक ब्राह्मणों की भी, उदारतापूर्वक सहायता की। दोनों में वैवाहिक सम्बन्ध भी थे पसेनदि की बहन बिम्बिसार की अग्रमहिषी थी और कुछ सूत्रों से पता चलता है कि पसेनदि की पुत्री बिम्बिसार के पुत्र को ब्याही थी। किन्तु दोनों की सेनाएँ जंगली आदिवासियों और सम्भवतः छोटे आर्य कबीलों के विरुद्ध अभियान में लगातार जुटी रहती थीं। युद्ध में विजय के लिए दोनों राजाओं ने धर्मानिर्देश किये थे। यह पहले ही बताया जा चुका है कि दोनों ने

पुरोहितो को अग्रहार के रूप मे पूरे-के-पूरे गाँव दे डाले थे। इस बात का भी सजीव वणन मिलता है कि राजकीय यज्ञो के लिए, बिना मूल्य चुकाये, जब अन गिनत पशुओ की माँग की जाती तो किसान कितन व्याकुल और दु खी हो जाते थ। इस प्रकार, उस समय के ये अग्रणी राजा वदिक कुप्रथाओ से अभी पूरी तरह मुक्त नही थ यद्यपि नये वग-समाज के लिए इन प्रथाओ की कोई उपयोगिता नही थी।

अवश्यम्भावी सघष की ओर पहला कदम बिम्बिसार के पुत्र अजातशत्रु ने उठाया। इस राजकुमार न निश्चय ही राजतन्त्र के किसी अज्ञातनाम पण्डित की सलाह से, अपने ही पिता को बन्दी बनाया और अन्त म भले और वयोवद्ध बिम्बिसार का कारावास म ही भूखो मार डाला। बौद्ध यद्यपि इस पितृहत्या स काप उठते थे, फिर भी उन्होने स्वीकार किया है कि अजातशत्रु एक न्यायप्रिय और योग्य शासक था हमन बताया है कि एक प्रमुख उपनिषद म उसे एक दाशनिक राजा के रूप म पेश किया गया है। पसेनदि चाहता था कि जिस कासी जनपद को उसन बहिन के दहेज म दान दिया था उसका एक गाव उसे वापस मिल जाय। परन्तु वह गाँव इतना महत्त्वपूण था कि अजातशत्रु के लिए उसे लौटा देना सम्भव नही था, क्योकि नदी के परे मगध के लिए वह मोरचे के एक ऐसे स्थल पर था जहा से गगा की ओर व्यापार माग की एक शाखा की नाके बन्दी की जा सकती थी। कई युद्ध हुए सभी म अजातशत्रु की विजय हुई और कासी जनपद पर मगध का अधिकार बरकरार रहा। कोसल पक्ष भी प्रत्युत्तर म पीछे नही रहा। महामन्त्री दीघ-कारायण के पास जो राजमुद्रा थी वह उसने विडूडभ को सौंप दी। सेना पहले स ही विडूडभ के अधिकार म थी अब उसे बाकायदा राजा बना दिया गया। बूढा पसेनदि जिसका एक दासी के अलावा अब और कोई साथी नही था शरण लेने अपने भाजे के पास भागा। राजा जब

चित्र १० मगध की मुद्रा प्रणाली के चाँदी के आहत सिक्के सम्भवत अजातशत्रु के लगभग ४८ ई० पूव। यह पाँच चिह्नो की प्रणाली थी और चाँदी के नये सिक्के का तौल करीब ५४ ग्रेन होता था। पूरा कार्षापण एक एमी तौल प्रणाली पर आधारित था जिसका मूल सिन्धु सभ्यता मे तो मिलता है परन्तु भारत से बाहर अन्यत्र कही नहीं।

राजगिर पहुँचा तो रात हो चुकी थी और सभी नगर द्वार बन्द थे। सुबह द्वार खुलने के पहले ही, थकान के कारण, नगर की दीवार के बाहर पसेनदि की मत्यु हो चुकी थी। अजातशत्रु ने अपने मामा के शव का राजसी ढग से अन्तिम

सस्कार किया और उसके बाद उसने अपने को कोसल के सिंहासन का दावेदार घोषित किया।

परन्तु इस दावे को तुरंत पूरा कर दिखाना सम्भव नही था। न केवल विडूडभ को वल्कि मल्ल और लिच्छवि-जैसे स्वतन्त्र एव शक्तिशाली कबीलो को भी कुचलना जरूरी था। किसी भी राजा की प्रगति के लिए ऐसे कबीले अपेक्षतया अधिक खतरनाक थे, क्योकि अब भी ये जनतन्त्र का चला रहे थे और बहुत बडी सनिक बाधा थ। विडूडभ ने भी इसी रास्ते पर चलते हुए शाक्या का कत्लेआम कर डाला। प्रकट रूप से तो उसन यह सब अपने जन्म-सम्बन्धी अपमान का बदला लेने के लिए किया था परन्तु वास्तव मे उसकी यह चाल उत्तरापथ को स्वतन्त्र कबीलो से मुक्त कराने की उसकी एक व्यापक योजना का अग थी। लिच्छवियो ने इस समय तक उत्तर की ओर से गगा तक अपन अधिकार क्षेत्र का विस्तार कर लिया था और वह समूचे नदी व्यापार स चुगी वसूल करते थ। इस दोहरी वसूली के कारण व्यापारी बडे क्षुब्ध थे, क्योकि मगध का राजा भी नदी पर अपना पूरा अधिकार जताकर चुगी वसूलता था। इसलिए गगा गण्डक और सोन के त्रिवेणी-सगम पर, जहाँ पाटलिग्राम (पटना) था, एक मजबूत लक्डकोट उभारा गया (ईसा की पन्द्रहवी सदी तक सोन नदी गगा से इसी स्थान पर मिलती थी)। बुद्ध जब अपनी अन्तिम यात्रा म इस स्थान से गुजरे तो उस समय यह लक्डकोट उभारा जा रहा था। कहा जाता है कि इस स्थान क उज्ज्वल भविष्य के बारे मे बुद्ध न भविष्यवाणी की थी, जा सौ साल बाद जब पटना को मगध की राजधानी बनाया गया, सत्य साबित हुई शासन की नयी आवश्यकताओं क लिए अब राजगिर उपयुक्त स्थान नही रह गया था। लिच्छवियों न अजातशत्रु की इस चाल के जवाब म मल्लो के साथ एक व्यावहारिक समझौता कर लिया। परन्तु लिच्छवि कबीले और वज्जी सघ की एकता को एक ऐसी सुनियोजित चाल द्वारा भीतर से तोड दिया गया, जिसका सूक्ष्म वणन मगधीय राजतन्त्र के महान् ग्रन्थ (कौटल्य के अथशास्त्र) मे मिलता है। अजातशत्रु का एक ब्राह्मण मन्त्री अपमानित तथा अपदस्थ किय जाने का ढोग रचकर लिच्छवियो के पास पहुँचा (दारयवहु प्रथम का मन्त्री जापीरस भी इसी प्रकार बेबीलोनिया के पास पहुँचा था)। यद्यपि लिच्छवियो और मल्ला के कबीला म कोई ब्राह्मण नही था और उनम किसी ज्ञात वदिक प्रथा का भी प्रचलन नही था फिर भी अतिथि के पद, उसकी प्रतिष्ठा और मगधराज के इरादा के बारे म उसकी कथित जानकारी के कारण लिच्छवियो ने उसका स्वागत किया। इस विश्वास का लाभ उठाकर उसन लिच्छवि कुलीनो मे फूट डाल दी प्रत्येक लिच्छवि का अपने निर्धारित हिस्से स अधिक माँग के लिए उकसाया और ऐसा जाल रचा कि लिच्छवि अपने कबील की सभाओ सामूहिक सनिक अभ्यास और कबीले की न्याय-परिषदो की उपेक्षा

करने लगे। इस प्रकार 'भीतर से सेंध लगाना' सम्भव न होता यदि लिच्छवि कबीला भीतर ही भीतर काफी खोखला न हुआ होता जिसका कारण यह था कि भेंट व कर के रूप म जो धन एकत्र होता था, उसे कुलीन अपनी व्यक्तिगत सम्पत्ति के रूप म रखने लग थे। अजातशत्रु के दूत के आगमन के पहले ही लिच्छवियो का आन्तरिक विघटन शुरू हो गया था, यह बात इससे भी सिद्ध होती है कि लिच्छवियो म से ही महावीर-जैसे एक असाधारण धर्मोपदेशक का उदय हुआ और, बन्धुल तथा चारायण जस मल्लो के अपने कबीले को छोडकर दूसर की सेवा म चले जाने से भी यही बात प्रमाणित होती है। श्रेष्ठतम स्वतन्त्र कबीले का जीवन भी अब कबीले के योग्यतम व्यक्तियो को पूरा सन्तोष नही दे पाता था। अन्त म हालत इतनी बिगड गयी कि लिच्छवि अपनी कबीलाई परिषद और कबीलाई गतिविधियो म भी नियमित रूप से भाग नही लेते थे। तब गुप्तचर ने अजातशत्रु को सूचना भेजी। अजातशत्रु ने अचानक चढाई करके विसगठित शत्रुओ पर आसानी से विजय प्राप्त की। मल्लो को अन्त म किस प्रकार पराजित किया गया इसका कोई विवरण नही मिलता परन्तु इसम सन्देह नही कि लिच्छवियो के तुरन्त बाद ही मल्लो का भी नाश हुआ। यह *विनाश इतना सर्वांगीण था कि 'मल्ल' शब्द का केवल एक ही अर्थ शेष रहा—* 'पहलवान' अथवा कसरत-करतब दिखानेवाला क्योकि मल्ल कबील के लोगो को आरम्भ म शारीरिक कसरत का बडा शौक था। पश्चिम के एक मल्ल कबीले का जिसका गगा की घाटी के मल्लो से कोई सम्बन्ध रहा हो या न रहा हो, करीब १५० साल बाद सिकन्दर की सेना ने मध्य सिन्धु के तट पर सहार कर डाला। किन्तु कुछ लिच्छवि अजातशत्रु के अभियान के बाद भी बचे रहे। इससे जाहिर होता है कि युद्ध कबीले के लोगो का नाम निशान मिटाने के लिए नहीं, बल्कि उनकी कबीलाई जीवन पद्धति को नष्ट करने के लिए हुआ था। मगध के उस 'धूर्त' ब्राह्मण मन्त्री का उल्लेख उसके वस्सकार (वश म करनेवाला) उपनाम से ही मिलता है जो उसके एक अदभुत षडयन्त्रकारी होने का सूचक है। वह निस्सन्देह राजतन्त्र का एक महान भूतपूर्व पण्डित था, जिसकी मान्यताएँ *और नीतियां, उसके अज्ञात वास्तविक नाम से अर्थशास्त्र मे अवश्य ही उद्धृत* होगी।

एक अप्रत्याशित सयोग स कोसल की समस्या भी मगध के हित म सुलझ गयी। विडूडभ इतना लापरवाह था कि उसने राप्ती (अचिरवती) नदी के सूखे बालुका पात्र मे ही अपनी सेना की छावनी डाली। लेकिन उसी समय ऊपर कही मूसलधार वर्षा हुई नदी मे यकायक भयकर बाढ आयी, जिसम सारी कोसल-सेना बह गयी। इसे शाक्यो के सहार का बदला माना गया। इसके बाद कोसल के सिंहासन पर अजातशत्रु के दावे का प्रतिरोध करने के लिए न कोई राजा बचा

न कोई सना।

इन सब घटनाओ स यह कल्पना करना ठीक न होगा कि उपलब्ध सामग्री मे कोइ सुसम्बद्ध ऐतिहासिक विवरण मिलता है। इसके लिए सवप्रथम कई सारी कथाओ और आख्याना से अश चुनन पडत हैं और तब उ हें एक सम्भाव्य क्रम म जोडना पडता है। ग्राम्य जीवन का कहीं कोई वणन नही मिलता, न ही किसी युद्ध या अभियान का। हम यह भी नहीं जानत कि अजातशत्रु का शासन कितनी दूर तक फला, इतना निश्चित है कि उसने अपने उत्तराधिकारियो के लिए अभी बहुत-कुछ करने को छोडा था। एक प्रासगिक उल्लख मिलता है कि अवन्ती का राजा प्रद्योत मगध पर आक्रमण करने की तयारी कर रहा था इसलिए अजातशत्रु के महामात्य वस्सकार और सुनीथ ने राजधानी राजगिर की फिर स किलेब दी की। अव ती राज्य समद्ध और शक्तिशाली था—सोलह महाजनपदा म स एक, उसकी राजधानी दक्षिणापथ पर उज्जैन मे थी। अ त म मगध का इस पर अधिकार हो गया, परन्तु यह किस राजा के काल म हुआ इस बात की जानकारी नही मिलती। सोलह जनपदा मे एक वत्स (वस) भी था जिसकी राजधानी यमुना तट पर कोसम्बी म थी। वत्सराज उदयन की उज्जन क साथ दीघकालीन शत्रुता सुविदित है, वह उस मनोरम प्रेमकथा चक्र के नायक के रूप में भी प्रसिद्ध है जिसम उसकी रूपवती रानी वासवदत्ता की विशेष भूमिका थी। परतु ये सारी कथाएँ इस बात की कोई जानकारी नही देती कि वत्स राज्य का अन्त कब हुआ या मगध का इस पर कब अधिकार हुआ। कुरु, शूरसन और मत्स्य (सम्भवत ऋग्वदिक दाशराज युद्ध मे भाग लेनवाले मत्स्या के वशज), सभी कबीलाई राज्य थे और सोलह जनपदो म इनका समावश था। ईसा पूव चौथी सदी के अन तर इनका कोई अस्तित्व नही रहा यद्यपि मथुरा के शूरसेनो की ख्याति यूनानियो तक पहुँची थी।

अधिक-से अधिक ४७० ई० पू० तक और कम-स-कम इससे साठ साल पहले तक (प्राचीन भारतीय कालगणना में इतनी निश्चित तिथि आश्चयकारी है!) गगा की घाटी मे मगध का प्रभुत्व स्थापित हो चुका था पर तु अभी एक सर्वोच्च सत्ता के रूप म नही। निरकुश राजतन्त्र विपुल खनिज भण्डारो पर पूण नियन्त्रण और दोनो प्रमुख व्यापारिक मार्गों के उत्तर-पूर्वी सिरा पर आधिपत्य होने क बावजूद मगध के सामने एक और भारी काय था घन जगला को साफ करक अधिकाधिक भूमि को नियमित कृषि योग्य बनाना। कोई बडा सैनिक प्रतिद्वन्द्वी तो नही रह गया था पर तु कई छोटे कबाला को वश मे करना अब भी बाकी था। आक्रमणा के सिलसिले का तब तक रोका नही जा सकता था जब तक सम्पूण पृथ्वी —जिससे भारतीया का आशय था सम्पूण देश'—उत्तर के हिम-पवता स लेकर चार महासागरो तक, एक शासन के अ तगत न आ जाय।

इस प्रकट नियति की पूर्ति म दो और सदिया का समय लगा। तब एक निताात नयी समस्या सामने आयी जिस राज्य के नागरिकों ने एक विशिष्ट शालीन नैतिक सहिता के अनुसार जीवन-यापन शुरु कर दिया हो, वह राज्य तमाम नियम और नैतिकता का कब तक बेरहमी से उल्लघन करता रह सकता है ? इस बाह्य असगति की बुनियाद म आर्थिक वास्तविकता थी—राज्य और व्यापारी के बीच हिता का सघप, व्यक्तिगत उद्योग और राज्य के प्रत्यक्ष नियन्त्रण म होनेवाले उत्पादन के बीच हिता का सघप। कृपि-समाज म सत्रमण की पुरानी समस्या इतनी पूण रूप से सुलझ चुकी थी कि लोग भूल भी चुके थे कि इतिहास म इसका कभी कोई अस्तित्व रहा है।

छठा अध्याय

बृहत्तर मगध मे राज्य और धर्म

§ १ मगधीय विजय की पूर्णता

भारतीय पुरातत्त्ववेत्ता ईसा पूर्व की पाचवी और चौथी सदियो को उत्तरी ओपदार काले भाण्ड (N B P) की प्रचुरता के युग के रूप मे पहचानते है। ये बढ़िया किस्म के मृत्भाण्ड थ और पहले-पहल ईसा पूर्व छठी सदी के दरम्यान इन्हें व्यापार के लिए (सम्भवत मदिरा और तेलो को रखने के लिए) बनाया गया था। ईसा की एक या दो सदी पहले इनका प्रचलन बन्द हो गया। ईसा पूर्व पाँचवीं और चौथी सदियो के काल का कोई साहित्य, लेखा जोखा अथवा तिथियुक्त शिलालेख नही मिलता, परन्तु ३२७ ई० पू० म पजाब पर सिकन्दर का हमला पहली बार एक निश्चित ऐतिहासिक तिथि की जानकारी देता है। यह हमला, जिसका भारतीय जीवन सस्कृति या इतिहास पर कोई स्थायी प्रभाव नही पडा, हवालो का एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण चौखटा प्रस्तुत करता है—यूनानियो द्वारा अपनी समझ के अनुसार लिखे गये भारतीय परिस्थिति के विवरणो के रूप म। यह मर्दव ध्यान म रखना जरूरी है कि यूनानी पर्यवेक्षको की दृष्टि म अन्य अधिकाश विदेशियो के लिए भी भारत एक अद्भुत देश था, एक प्रकार का कल्पनालोक था। यहाँ पालतू हाथी जस अद्भुत और भीमकाय पशु थे। यहाँ पेडो पर ऊन उगता था (कपास)। यहाँ विशालकाय सरकण्डे थे (बाँस) और इस देश म ऐसा सफेद रवा बनता था जो शहद से भी अधिक मीठा होता था—शक्कर। यहाँ की नदियो के विशाल पाट (नील नदी की तुलना मे भी) तेज धारा अज्ञात लम्बाई और अगम गहराई ने यूनानियो को बडा प्रभावित किया क्योकि वे ऐसी नदियो के तट पर रहते थे जिन्हें भारतीय लोग नाले ही समझते। अल्प परिश्रम से ही यहाँ की भूमि चमत्कारिक ढग से
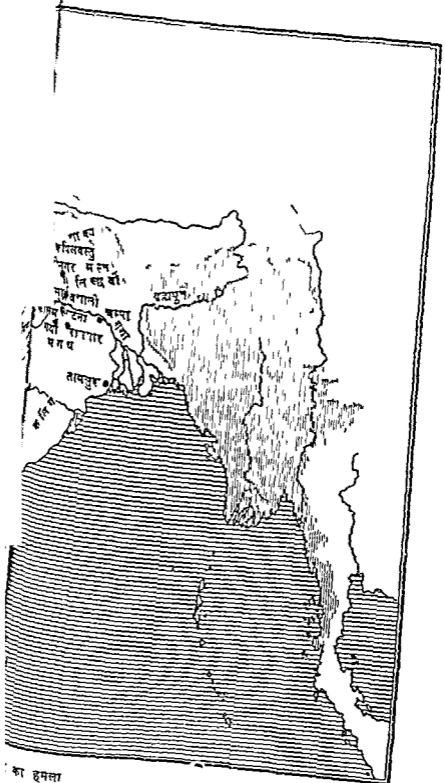
का हमला

साल म दो या तीन भारी फसलें उगाती थी जब कि जी-तोड मेहनत करने पर भी यूनान की पहाडी ढलानवाली पथरीली भूमि एक ही फसल देती थी। उन्हें यह बात भी बडी आश्चयजनक लगती थी कि भारतीय लोग क्रीतदासों के बिना ही अपना काम भलीभाँति कर लेते हैं, जब कि अफलातून (प्लेटो)-जसा उदात्त दार्शनिक कल्पना भी नहीं कर पाया कि इस व्यवस्था के बिना किसी नगर राज्य का व्यवहार चल सकता है। सबसे बडा वैषम्य यह था कि, जहाँ यूनान के नागरिक जीवन म धोखेबाजी और लम्बी मुकदमेबाजी का बोलबाला था, वहाँ भारतीय लोग जबानी समझौते का बिना किसी लिखित, हस्ताक्षरित और साक्षीकृत अनुबन्ध के पूरी तरह पालन करते थे। अरियन लिखता है—"पर सचमुच किसी भी भारतीय को झूठ बोलते नहीं देखा गया।" इसलिए इस यूनानी सामग्री का इस्तेमाल बडी सावधानी से करना चाहिए। दिओदोरस सिकुलस-जसा दार्शनिक भी धोखा खा गया जब वह ऐसे उदाहरणों की खोज कर रहा था जिनके आधार पर एक आदश समाज की रचना की जा सके तो उसने एक यूनानी यात्री के शब्दों का गलत अथ लगाया। यूनानी, जो आमतौर पर सन्देहवादी थे भारत से सम्बन्धित प्राय हर बात पर यकीन कर लेते थे।

लगभग ५१८ ई० पू० म दारयवहु (डेरियस) प्रथम की विजय के बाद सिन्धु नदी के पश्चिम का प्रदेश ईरानी साम्राज्य का बीसवाँ प्रान्त बन गया था। हखामनि साम्राज्य का यह सबसे लाभप्रद प्रान्त था। हिरोदोतस के अनुसार स्वण धूलि के रूप म यहाँ का वार्षिक खिराज ३६० टलण्ट था, यानी लगभग नौ टन। यह विस्मयकारक स्वण निधि ऊपरी सिन्धु की बालू से धावन द्वारा और तिब्बत या कश्मीर की उच्चभूमि से क्षोभ प्रक्षालन द्वारा प्राप्त की जाती थी। इस प्रान्त और आसपास के क्षेत्र का ऊन और बढिया ऊनी कपडा भारत म भी प्रसिद्ध था। क्षयाष की सेना म इस क्षेत्र के सनिकों की कुछ टुकडियाँ थी और इन्होंने लडाइयों म हिस्सा लिया था इसलिए सिकन्दर के बहुत पहले से यूनानी लोग भारत के बारे में जानते थे। इस प्रान्त का मुख्य व्यापारी नगर था पुष्कलावती आधुनिक चारसद्दा जिसे यूनानियों ने 'पुक्लाओती' कहा है। इस नाम का अथ है 'कृत्रिम कमल ताल वाला यानी पुष्कर, जिसका मूल हमने सिन्धु सभ्यता म खोजा है। इस नगर का सिफ एक सिक्का मिला है (देखिए प्लेट ५७ ५८), जो इन्दो यूनानी काल व बनावट का है और इसके एक ओर शानदार कुकुदमान वषभ अंकित है और दूसरी ओर पुष्कलावती की मातृदेवी अम्बी को एक हाथ म कमल धारण किये हुए दिखाया गया है। गन्धार के कबीलाई जनपद का एक हिस्सा सिन्धु नदी के पूर्व म भी था तक्षशिला का प्रख्यात सांस्कृतिक एवं व्यापारी केन्द्र इसी हिस्से म था। तक्षशिला से प्राप्त आहत सिक्कों की निधियों से प्रकट होता है कि सिकन्दर के समय म इस उत्तर

पश्चिमी सीमान्त प्रदेश में भी मगध की मुद्रा का ही सर्वाधिक प्रचलन था। इस प्रकार के सबसे अधिक और सबसे बढिया बनावट के जो सिक्के मिले हैं, वे अजातशत्रु के उत्तराधिकारियो के समय के हैं। अत (सिक्को की इन निधियो के अध्ययन से) निष्कर्ष निकलता है कि ईसा पूर्व पाँचवीं सदी के अवसान-काल से समूचे उत्तरापथ के व्यापार पर मगध का प्रभुत्व स्थापित होने लगा था।

सिकन्दर के लिए यह जरूरी था कि वह सम्पूर्ण हखामनि साम्राज्य पर, सिन्धु नदी के इसके अंतिम छोर तक, विजय प्राप्त करे। ईरान की लडाइयो मे उसे आसानी मे, एक के बाद एक, सफलता मिली और नदी के परे अपनी धन सम्पन्नता के लिए मशहूर देश था, तो उसकी अदम्य महत्त्वाकाक्षा को उत्तेजन मिलना स्वाभाविक था। और फिर, ईरानी राजकोश से सचित समस्त सम्पत्ति से बलप्राप्त एक बेजोड सनिक साधन भी उसके हाथ मे था। तीस दिन की घेराबन्दी के बाद चारसद्दा पर उसका अधिकार हो गया, पुरातत्त्वविदो ने चारो ओर के खन्दको की खुदाई म इस घेराबन्दी के मुकाबले म जुटाये गये रक्षा साधनो के अवशेषों को पहचाना है। सिन्धु नदी को बिना किसी विरोध के पार करने के बाद सिकन्दर को जो सफलताएँ मिली, वे बडी उत्साहवर्धक थी। तक्षशिला के राजा आम्भी ने बिना किसी विरोध के आत्म-समर्पण कर दिया और सिकन्दर को भेंट-उपहार देते समय यह भी कह दिया कि—यहाँ दोनो के लिए पर्याप्त धन है, फिर लडाई से क्या लाभ? तक्षशिला का वैभव—सस्कृति और धन-सम्पदा—अभी उसके घरो और नागरिक साधनो स जाहिर नही होता था। यह नगर झुग्गियो और छप्परो का लगभग वसा ही एक दयनीय समूह था जसा कि उस समय सिकन्दर के मकदूनिया की राजधानी पल्ला नगर रहा होगा। परन्तु तक्षशिला की विजय के तुरन्त बाद ही वास्तविक कठिनाइयाँ शुरू हुइ बावजूद इसके कि सेना विश्राम कर चुकी थी रसद के लिए एक उत्तम अड्डा मिल गया था और तक्षशिलावासी अपन शक्तिशाली भारतीय पडोसियो के विरुद्ध लडने के लिए यूनानियो के पक्ष मे मिल गये थे। स्वतन्त्र कबीलाई नगरो को एक एक करके हराना पडा सैनिक सामग्री की दृष्टि से यूनानियो की श्रेष्ठता के बावजूद प्रत्येक लडाई मे जबरदस्त मुकाबला हुआ। भारतीय अब भी युद्ध म रथों का उपयोग करते थे परन्तु मकदूनी अश्वारोहियो के २१ फुट लम्बे बल्लमो (सरिस्स) के सामने ये रथ निकम्मे साबित हुए। सीमा प्रदेश पर सिकन्दर के हमले के बाद लडाई के मदान म रथ का इस्तेमाल बन्द हो गया बाद म कभी-कदा किसी उच्चाधिकारी की पद प्रतिष्ठा व्यक्त करने के लिए ही रथ का इस्तेमाल हुआ है। यूनानी सैनिक काँसे का कवच पहनते थे धातु की सापेक्ष कमी के कारण भारतीयो को एक ढाल, चमडे के उरस्त्राण और सम्भवत, धातु के शिरस्त्राण के भरोसे ही लडना पडता था। भारतीय हाथी

एक अप्रत्याशित और अविलम्ब परिणाम हुआ मौर्यों की सारे देश पर तेजी से विजय हा सकी। मगध की सेना को पश्चिमी पजाब पर अधिकार करन के लिए प्रत्येक छोटे-मोटे जनपद के अदम्य कबीले स जबरदस्त युद्ध करने के कठिन काय स छुटकारा मिल गया। इस जटिल बाधा को मकदूनी हमले ने और यूनानियो की एक प्रथा—अधिक-से-अधिक युद्धबदियो को दास बनाकर चाहे बेचने के लिए अथवा चाहे कडी सैनिक-सेवा के लिए ले जाने की प्रथा—ने बहुत हद तक नष्ट कर दिया था। हमलावरो ने पश्चिमी पजाब के मवेशियो को न केवल लूटा था, वल्कि उन्हे अपना आहार भी बनाया था, इसलिए हमले के बाद इस क्षति के कारण कबीलाई और पशुचारी जीवन कठिन हो गया। सिकदर की वापसी के कोई पाँच साल बाद ही पुरु को पदच्युत करके भुला दिया गया, साथ ही, वदिक पुरु कबीला भी इतिहास से विलुप्त हो गया। चद्रगुप्त मौय ने तक्षशिला-सहित पूरे पजाब पर अधिकार कर लिया अफगानिस्तान के भीतर तक का गधार का शेष भाग उसने ३०५ ई० पू० क आसपास थोडी और लडाई लडकर सिल्यूकस निकेतर से छीन लिया। जानकारी मिलती है कि सिल्यूकस् और विजयी चद्रगुप्त मौय के बीच ववाहिक सम्बध स्थापित हुआ था, इसलिए, प्लुटाक की सूचना के अनुसार, ५०० हाथी भेंट किये गये थे। सिल्यूकस को अपन उनभूत पूव सहयोगी-सेनापतियो स युद्ध करन की छूट थी जिन्होने सिकदर के विजित साम्राज्य को आपस म बाँट लिया था परतु इसके बाद उसे भारत का अलग-थलग नरक छोड देना पडा। भारत के बारे म जिन यूनानी विवरणो का यहाँ बीच-बीच मे उल्लेख हुआ है वे अधिकतर पाटलिपुत्र (पटना) की राजसभा म सिल्यूकस के राजदूत मेगास्थनीज की सूचनाओ पर आधारित है। मेगास्थनीज की मूल कृति नष्ट हो गयी है परतु उसके विवरण क कुछ अश दूसरे लेखको की पुस्तको म आज भी देखने का मिलते हैं। बताया जाता है कि सिल्यूकस की एक पुत्री का ब्याह चद्रगुप्त के पुत्र बिदुसार के साथ हुआ था। यह कोई असम्भव बात नही है यद्यपि दो आपत्तियाँ उठायी गयी हैं—यूनानी विवाह क नियम और भारतीय जातिप्रथा। यूनान के सीमा प्रदेश म रहनवाले ये मकदूनियावासी निश्चय ही उजडड लोग थे और अथेस-जसे नगर राज्यो म प्रचलित आम यूनानी कानून की कोई परवाह नही करते थे दो ईरानी राजकुमारियो से विवाह करके सिकदर ने नया आदश प्रस्तुत किया था। मगध के राजा जाति नियमो को वसे ही विशेप महत्त्व नही दते थे मौय तो आदिवासी मूल अथवा मिश्रित वश क थ यद्यपि उनका आर्यीकरण हो चुका था। मौय (पालि मोरिय) नाम मोर टोटेम का सूचक है यह वदिक-आय नाम नही हो सकता। असोक की प्रथम रानी साची (भिलसा) के समीप के एक व्यापारी की पुत्री थी। (वश्य पुष्यगुप्त जिसने कुछ समय के लिए गिरनार का शासन सँभाला था असोक का राष्ट्रिय

था, [देखए टिप्पणी पृष्ठ १८५] यहाँ इस 'राष्ट्रिय' शब्द का अर्थ है 'साला', न कि 'राष्ट्र-कर वसूल करनेवाला अधिकारी', जैसाकि अन्यत्र माना गया है।) यह भी सम्भव है कि असोक की कोई विमाता यूनानी या ईरानी-यूनानी रही हो परन्तु इस बात की कोई सम्भावना नहीं कि उसकी माँ एक यवनी थी।

चन्द्रगुप्त और बाद में उसके पुत्र बिन्दुसार की सेनाओं ने, जहाँ तक भूभाग पहुँचने लायक था, सारे भारत को पादाक्रान्त कर डाला। जान पड़ता है कि कर्णाटक के पठार के छोर पर दुर्ग व वायनाड के जंगलों ने ही अन्त में उन्हें आगे बढ़ने से रोका। दक्षिणापथ के व्यापार के बावजूद दक्षिणी प्रायद्वीप का अभी बहुत थोड़ा विकास हुआ था। मौर्य आधिपत्य के बाद भी ब्रह्मगिरि (कर्णाटक) में प्रागैतिहासिक महापाषाण न केवल खड़े किये जाते रहे, अपितु उनका आकार-प्रकार भी बना रहा, जिसका यही अर्थ हो सकता है कि लोहा उपलब्ध होने पर भी, स्थानीय कबीलों ने किसानी जीवन को तुरन्त स्वीकार नहीं किया। केरल की टोपी-नुमा (टोपी-कल) पाषाण-समाधियाँ (डोलमेन) कर्णाटक के महापाषाणों से कुछ बाद की हैं इसलिए ठेठ दक्षिण में मौर्यों के लिए जीतने योग्य महत्त्व का कुछ भी नहीं था। प्रायद्वीप का समुद्री चक्कर पहले ही लग चुका था, सोपारा (सम्भवतः बाइबिल का ओफिर) और भड़ौंच (भरुकच्छ यूनानी बेरीगाजा) के बन्दरगाह और उनका समुद्रपार का मूल्यवान व्यापार मगध के अधिकार में था। इसी कारण पटना एक अन्तर्राष्ट्रीय बन्दरगाह (पत्तन) बन गया था। ताम्र-खनिज के उत्खनन का बिहार के दक्षिण पूर्व में खूब विकास हुआ, ताम्र-सूचक तामलुक (ताम्रलिप्ति) बन्दरगाह से इस धातु का व्यापार होता था। निस्सन्देह, बर्मा और इन्दोनेशियाई द्वीपों से भी समुद्री व्यापार होता था, परन्तु किस सीमा तक होता था, यह बताना कठिन है। मगध के व्यापार में चीन का रेशमी कपड़ा (और बल्ख का लोमचर्म) शामिल था, जो स्थलमार्ग से आता था, इसी प्रकार, भूमध्य सागर के मूंगे की, जिसका सिकन्दरिया से निर्यात होता था, यहाँ बड़ी माँग थी। असम से चाँदी निकालना पहले ही शुरू हो गया था क्योंकि सिक्कों के लिए चाँदी की माँग बहुत बढ़ जाने के कारण पश्चिम से आयात की जानेवाली यह धातु अपूरी पड़ती थी। दूसरी ओर बंगाल के केवल उन्हीं थोड़े पट्टों को साफ करके खेती-योग्य बनाया गया था जहाँ नदी-मार्ग से पहुँचना सम्भव था। लगभग २७० ई० पू० में चन्द्रगुप्त के पौत्र असोक ने एक सर्वनाशी युद्ध करके उड़ीसा (कलिंग) को जीता तो यह प्रदेश अभी-अभी विजय के योग्य हुआ था, यह तब तक एक राज्य में भी विकसित नहीं हुआ था।

यह निश्चय ही एक पचमेल साम्राज्य था इसमें पाषाण-युग के बर्बर लोग बसते थे तो दूसरी ओर ऐसे भी लोग थे जिन्होंने अरस्तू के मूल प्रवचनों को सुना या समझा था। शासन की सुविधा के लिए कम-से-कम दो उप राजधानियाँ

बनायी गयी थी—तक्षशिला और उज्जन, जहाँ आमतौर पर राजकुमार शासन चलाते थे। पता चलता है कि असोक अपने पिता बिदुसार के समय म जब तक्ष शिला का राज प्रतिनिधि था तो उसने वहाँ एक जन विद्रोह का दमन किया था। सस्कृत का महान् वयाकरण और भाषा विज्ञान के क्षेत्र का एक अद्वितीय पण्डित पाणिनि उसी प्रदेश म पदा हुआ था, परन्तु एक पारम्परिक सास्कृतिक केन्द्र क रूप म उस प्रदेश की जो प्रतिष्ठा थी वह शीघ्र ही समाप्त हो गयी। तक्षशिला के अधिक महत्त्वाकाक्षी पण्डित, जसा कि स्वाभाविक था, राजधानी पटना पहुच जाते थे। कुछ समय क लिए व्यापार को भी क्षति पहुँची, यद्यपि इस मामले म तक्षशिला का गौरवपूर्ण काल आगे आनेवाला था—कुषाणो के शासन म। सबस अधिक लाभ दक्षिणापथ स हो रहा था वहाँ सोना और लोहा प्रचुर मात्रा म मौजूद था यद्यपि चाँदी और ताँबे की कमी थी। यहाँ सेनाओ से भी बहुत पहले पहुँचे हुए व्यापारियो और भिक्षुओ ने वस्तु विनिमय तथा अछूती भूमि की खेती के पहले बडे विकास को बढावा देना शुरू कर दिया था। कार्ले की विशाल चत्य-गुफा मे लकडी के जो अवशेष मिले है उनका समय, रेडियो-कार्बन विधि स, २८० ई० पू० निर्धारित हुआ है जब कि यहाँ के विहार के आरम्भिक कक्ष जो अब ढह गए है निश्चय ही इसके सौ साल पहले पहाड को खोदकर बनाये गये होगे। इस भिक्षु विहार क समीप ही धेनुकाकट नामक देहात म बौद्ध यूनानी व्यापारियो की बस्ती थी। असोक के धमदूतो म अफगानिस्तान के परे का धम्मरखित नाम का एक यूनानी भी था। ये इक्के-दुक्के उदाहरण नही हैं यह बात अनेक बौद्ध विहारो मे खोदे गये बहुत-सारे स्फिक्सो (नरसिहो) से सिद्ध हो जाती है सबसे बढिया उदाहरण है कार्ले के एक स्तम्भ पर स्थापित स्फिन्क्स जो धेनुकाकट के एक यूनानी की भेंट है और स्पष्टत सिकन्दरिया स लायी गयी किसी लघुप्रतिमा अथवा चित्र की अनुकृति है। आगे ईसा पूव दूसरी सदी के आरम्भ काल में एक यूनानी आक्रमणकारी मिनान्दर ने इस निरन्तरता को कायम रखा। वह यद्यपि सिकन्दरिया मे पदा हुआ था, उसने बौद्ध धम प्रचारको का प्रोत्साहन दिया और अपने सिक्को म अपने-आपको धम्मक' और 'दिकैओस घोषित किया, पालि और यूनानी के इन दोनो ही शब्दो का अथ है न्यायप्रिय। एक परवर्ती पालि ग्रन्थ मिलिन्द पञ्ह (राजा मिनान्दर के प्रश्न) ने तो उस अमर ही बना दिया है, इसमे बौद्ध सिद्धान्त को प्रश्नोत्तर के रूप म काफी बुद्धि मानी से प्रस्तुत किया गया है। मिनान्दर का भारतीय नाम मिलिन्द था। ईसा की दूसरी सदी के धेनुकाकट क एक चिकित्सक का नाम भी मिलिन्द ही था इस व्यक्ति ने भी कार्ले मे एक स्तम्भ स्थापित कराया था। आज भी भारतीय शिशुओ को कही कही यह नाम दिया जाता है। इससे यूनानी और भारतीय सस्कृतियो के सम्मिश्रण की समस्या का समाधान हो जाना चाहिए।

ईसा पूर्व तीसरी सदी के आरम्भ-काल तक समूचे भारत की समीचीन सीमाओं तक विजयप्राप्ति और दूर-दूर तक संस्कृति के व्यापन का कार्य पूरा हो चुका था। अब हम अधिक गहराई से राजतन्त्र के उन कठोर सिद्धान्तों का अध्ययन करना है जिनका इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए योजनाबद्ध रूप से इस्तेमाल किया गया था।

६.२ मगधीय राजतन्त्र

गंगा की घाटी के राजाओं ने ईसा पूर्व छठी सदी के धर्मोपदेशकों की बातें भले ही श्रद्धा और सहानुभूति से सुनी हों, किन्तु इससे अजातशत्रु-जैसे राजपुत्र को अपने ही पिता की हत्या करने में कोई अड़चन नहीं हुई। इसी प्रकार, चक्रवर्तिन को शासन के बारे में यह हितकारी परामर्श, कि उसे सबको रोजगार देना चाहिए किसान के लिए मवेशी तथा बीज और व्यापारी के लिए धन उपलब्ध कराना चाहिए, ईसा पूर्व पाँचवीं चौथी सदी के विकासशील मगधीय राज्य के वास्तविक व्यवहार से कोसों दूर था। यहाँ उस पाठ्य-पुस्तक का विश्लेषण करना आवश्यक है जिस पर यह राजकीय नीति आधारित थी। आर्थर बेरीडल कीथ ने इस पुस्तक के बारे में लिखा है: "यदि अफलातून के गणतन्त्र और अरस्तू के राजनीति ग्रन्थ के मुकाबले में, अथवा अथेन्स के संविधान से सम्बन्धित पुस्तक के, जिसे पहले जनोफेन की कृति समझा गया था, लेखक की सहजबुद्धि और व्यावहारिक समझदारी के भी मुकाबले में भारत की यही पुस्तक उसकी सबसे बड़ी उपलब्धि है तो यह सचमुच बड़ी शोचनीय स्थिति होगी।" यह कुछ मिथ्याभिमानी एवं अप्रासंगिक कथन है। अरस्तू के शाही शिष्य ने स्तागिरा निवासी अपने विद्वान आचार्य के राजनैतिक विचार अमल में नहीं लाये थे। अथेन्स का जनतन्त्र, इसके संविधान की समस्त तथाकथित व्यावहारिक बुद्धिमानी के बावजूद, अल्पावधि में ही टूट गया, तो इसके लिए सर्वथा जिम्मेदार थे अफलातून के ही घनिष्ठतम मित्र। ये थे निक्यिस, अल्किबियदेस और क्रितियस्, जैसे कई सारे कुलीन जो सुकरात के शिष्यों एवं प्रशंसकों के रूप में संवाद (Dialogues) में बार-बार दिखायी पड़ते हैं परन्तु जिन्होंने सुकरात के आदर्श गणतन्त्र की स्थापना के लिए तनिक भी प्रयास नहीं किया। इसके विपरीत जिस भारतीय राज्य की हमने जानकारी दी है, वह अल्प और आदिम शुरुआत से, बिना किसी रुकावट के अपनी अभिप्रेत पूर्णावस्था में पहुँचा। ये यूनानी कृतियाँ अध्ययन के लिए तो उत्तम रहीं पर भारतीय कृति अपने समय और प्रदेश में तुलना में बहुत अधिक व्यावहारिक सिद्ध हुई।

राजतन्त्र और इसके संचालन के बारे में मुख्य स्रोत-सामग्री है अर्थशास्त्र—कई सदियों तक पूर्णतः लुप्त रहने के बाद १९०५ में पुनः खोजा गया एक संस्कृत ग्रन्थ। इसका लेखक है चाणक्य या कौटिल्य नामक एक ब्राह्मण, जो ईसा पूर्व

प्रच्छन्न सेना—यही थे नये राज्य के मुख्य आधार स्तम्भ। यह तो अथशास्त्र से ही स्पष्ट है कि अधिकारी-वग के दोनो भाग सख्या की दृष्टि से काफी बडे थ। यूनानी विवरणो से पता चलता है कि इनके जाति-वग बन गये थे, जसाकि एक जातिगत समाज म स्वाभाविक था। मगधीय साम्राज्य के अन्त के बाद ये दोनो अधिकारी-वग जातियाँ जीवित नही रही। किन्तु कुछ सदियो बाद पचमेल घटको से इसी प्रकार कायस्थ जाति बनी जिसका काम था लिखायी और राज्य का लेखा जोखा रखना।

अथशास्त्र म विशाल और व्यापक पमाने पर जासूसी तथा उकसानेवालो का निरन्तर इस्तेमाल करने का सुझाव दिया गया है। प्रत्येक कारवाई का एकमेव उद्देश्य था राज्य की सुरक्षा और लाभ। समूचे ग्रथ म नतिकता-सम्बन्धी गूढ सवालो को न कहीं उठाया गया है न ही उन पर विचार किया गया है। राजा के गुप्तचर आवश्यकता पडने पर हत्या, विष प्रयोग, मिथ्यारोपण और अन्दरूनी तोड फोड का बाकायदा और बेझिझक इस्तेमाल कर सकते थे। साथ ही, जनसाधारण के लिए कानून व व्यवस्था का जो आम तन्त्र था उसका अत्यन्त सतकता एव कठोरता से पालन होता रहा। ऐसे राज्य का सुदृढ आधार केवल इसका प्रशासनिक ढाँचा ही हो सकता था—और उस पर भी गुप्तचरो की कडी निगरानी जरूरी थी। घूसखोर राज्य-कमचारियो की जाच के तमाम उपाय बतान के बाद चाणक्य निराशापूवक स्वीकार करता है कि अधिकारी ने कितना राजस्व हजम किया, यह पता लगाना उतना ही कठिन है जितना कि यह बताना कि तरती मछली कितना पानी पी गयी।[1] अथशास्त्र का राज्य ऐसे समाज का परिचायक नहीं है जिसम किसी नये वग न राज्य-व्यवस्था को सँभालने के पहल ही, वास्तविक सत्ता पर अधिकार जमा लिया हो।

यहा भारतीय और चीनी विकास क्रम म एक महत्त्वपूण अन्तर को समझना उपयोगी होगा। चीन के प्रथम सम्राट छिन् ह सी ह्वाड -ती (२२१ ई० पू०) का महामन्त्री एक व्यापारी था। बाद म व्यापारी वग की प्रतिष्ठा कुछ घटा दी गयी थी, फिर भी इस वग ने अपन उन सदस्यो के माध्यम से कुछ वास्तविक सत्ता पर कब्जा कायम रखा था जो चीन की नियमित परीक्षा प्रणाली क रास्ते से राज्य-सेवा म पहुँच गये थे। भारतीय गहपति-वग—कृषक-व्यापारी वग—को, जिसने नये गागेय राज्य के निर्माण म योग दिया था, मन्त्रि परिषदा म शामिल नहीं किया गया था, यद्यपि आरम्भिक काल के श्रेष्ठियो को उनकी धन-सम्पत्ति

---

१ मत्स्या यथान्त सलिले चरन्तो
ज्ञातु न शक्या सलिल पिबन्त ।
युक्तास्तथा कायविधौ नियुक्ता
ज्ञातु न शक्या धनमाददाना ॥—अथशास्त्र २ ९ ३३

के कारण, बाद के उनके सामन्ती वशजो को अपना कहीं अधिक सम्मान मिलता था।

राज्य का सर्वोच्च अधिनायक, प्रतीक और प्रवक्ता राजा था। उस समय के राजा में असाधारण गुण होना आवश्यक था। अहोरात्र के प्रत्येक क्षण को, शासक के विविध प्रशासकीय कर्तव्यों के अनुरूप, उपयुक्त कालखण्डों में बाँट दिया जाता था जनता के प्रतिवेदन को और गुप्त सूचनाओं को सुनना, मन्त्रि-परिषद् राजकोष और सेना के प्रधानों से परामर्श करना। मध्यान्तरों में विश्राम, स्नान, भोजन, मनोरंजन तथा अन्तःपुर के आमोद-प्रमोद के लिए कार्य-बहुलता के कारण बहुत कम निर्धारित समय मिल पाता था। 'प्राच्य भोग विलास' तो दूर रहा, अर्थशास्त्र का राजा अपने राज्य का सर्वाधिक कार्य-व्यस्त व्यक्ति था। हरेक राजा इस रफ्तार का खेल नहीं पाता था, खासकर इसलिए भी कि विष-प्रयोगों और हत्यारों से बचने के लिए बडा सख्त बन्दोबस्त था। फिर भी राज-महलों में क्रान्तियाँ हुई, राजवंशों में रद्दोबदल हुआ जिनकी पुष्टि आहत सिक्कों में एकाएक हुए परिवर्तनों से होती है। अजातशत्रु के वंश को कुछेक पीढ़ियों के बाद ही किसी जन विद्रोह ने समाप्त कर दिया। नये राजा सुसुनाग (सस्कृत शिशुनाग) ने पहले से मौजूद सिक्कों पर अपने चिह्न आहत किये और अपने नये सिक्के भी चलाये। उसके उत्तराधिकारियों ने आहत सिक्कों के भव्य युग को जन्म दिया। उसके बाद जैसा कि तक्षशिला की निधियों से प्रमाणित होता है समस्त उत्तरापथ पर मगधीय व्यापार तथा मुद्रा का प्रभुत्व स्थापित हो गया। बाद में एक शान्तिपूर्ण परिवर्तन के बाद क्योंकि सिक्कों पर चक्र का चिह्न पूर्ववत बना रहा नन्दों अथवा नन्दिनों के सम्बन्धित किन्तु गौण वंश ने राजसत्ता हथिया ली, उनके वैभव की दीर्घकाल तक लोक प्रसिद्धि रही। उस समय तक बुद्ध निर्वाण के करीब सौ साल बाद राजधानी अन्ततः पाटलिपुत्र में स्थानान्तरित हो चुकी थी तब पटना ससार का सबसे बडा नगर हो गया (और एक या दो सदियों तक बना रहा)। तब एक नवोदित किन्तु योग्य व्यक्ति ने, जिसका बहुत-कुछ सही नाम महापद्म नन्द दिया गया है बिना रक्तपात के सिंहासन पर अधिकार जमा लिया। अन्त मे, महापद्म के अन्तिम पुत्र की हत्या करके चन्द्रगुप्त मौर्य मगध के सिंहासन पर बैठा।

चाणक्य की दृष्टि में सिंहासन के लिए कलह राजा के लिए एक गौण सकट था। उसने नैतिकता अथवा पुत्रप्रेम को कोई महत्त्व नहीं दिया। उसने एक पूर्ववर्ती (भारद्वाज) का कथन उद्धृत किया है 'राजपुत्र केंकड़ों की भाँति जनक-भक्षी होते हैं।'[1] अर्थशास्त्र में पूर्ववर्ती आचार्यों के विविध मतों पर निष्पक्षता से

[1] कर्कटकसधर्माणो हि जनकभक्षा राजपुत्राः।—अर्थशास्त्र १ १७ ५

विचार किया गया है राजपुत्र की शिक्षा के उपाय, समयपूर्व महत्त्वाकाक्षा के लिए उसकी परीक्षा उसके छिपे दुगुणो तथा उसकी उम्मीदो का गुप्त रूप से पता लगाना और आवश्यकता पडने पर उसे काबू म रखना। अगले ही प्रकरण म उपेक्षित (अपरुद्ध) युवराज के लिए सलाह है कि वह सिंहासन को जल्दी हथियाने के अपने इरादे क विरुद्ध आयोजित अपने पिता की सतकताओ को किस प्रकार विफल बना सकता है। इस सन्दम म न कोई नाम दिया गया है, न ही किसी खास ऐतिहासिक उदाहरण का उल्लेख है। परन्तु सन्दभ से ही स्पष्ट हो जाता है कि अपरुद्ध युवराज को सिफ बहिष्कृत ही नही किया जाता था, जसा कि प्राचीन काल के छोटे कबीलाई राज्यो म होता था। निरकुश राजसत्ता क उदय और नये राज्य विस्तार के कारण यही स्वाभाविक था कि अपरुद्ध व्यक्ति को, रोमन कानून-व्यवस्था की भाति पदच्युत करके नियन्त्रण म रखा जाय, या समस्त नागरिक अधिकार छीनकर उसे सम्भवत निष्कासित ही कर दिया जाये।

किसी भी राजवशीय परिवतन का मगध के निरन्तर विस्तार पर तनिक भी प्रभाव नही पडा। किसी गहयुद्ध से राज्य की नीति म, आन्तरिक अथवा बाह्य कोई रुकावट पदा नही हुई और न ही अथशास्त्र म कही ऐसी बाधा पर विचार किया गया है जो राजमहल की किसी घटना से उपस्थित होती हो। राज्य इतना सुनियोजित था कि ऐसी किसी बाधा की गुजाइश ही नही थी। अथशास्त्र के ग्यारहवें अधिकरण मे (जो प्रतिलिपियाँ करने म सम्भवत छोटा हो गया है) इस बात का विवचन है कि अन्न सकलनकत्ताओ के जिन स्वतन्त्र शक्तिशाली तथा शस्त्रधारी कबीलो का अभी निरकुश राज्यो म ह्रास नहीं हुआ है उन्हे विधिवत किस प्रकार तोडा जाये। मुख्य विधि यह थी कि विघटन के लिए इन्हे भीतर स ही खोखला बनाया जाये इन कबीलाई लागो को एक ऐसे वग-समाज के सदस्यो म बदला जाये जो व्यक्तिगत निजी सम्पत्ति पर आधारित है। इसके लिए तरीके बताये गये कि कबीलो के नेताओ को और सबसे सक्रिय लोगो को नकद घूस देकर कडी-से कडी शराब पर्याप्त मात्रा म उपलब्ध कराके अथवा उनकी व्यक्तिगत धनलिप्सा को बढावा देकर भ्रष्ट किया जाय। उनम फूट डालने का काम करेंगे भेदिये गुप्तचर ब्राह्मण, ज्योतिषी उच्च जाति की स्त्रियाँ नतक अभिनता, गायक और वेश्याए। कबीले के वरिष्ठ सदस्यो को प्रोत्साहित किया जाये कि व कबीले के भोज (एकपात्रम) म निम्न हैसियत क सदस्यो के साथ बठकर भोजन न करें अथवा उनके साथ विवाह-सम्बन्ध न स्थापित करें दूसरी ओर, निम्न हैसियत के सदस्यो को सहभोज म भाग लने और विवाह-सम्बन्ध स्थापित करने के लिए उकसाया जाये। कबीले के भीतर की स्वीकृत पद-मर्यादा को हर प्रकार के आन्तरिक उकसावे से तोडने की कोशिश होनी चाहिए। राजा के प्रतिनिधि उन तरुणो को जिन्ह कबीले की प्रथा क अनु

भार भूमि और आमदनी में कम हिस्सा मिलता था मही बँटवारे की माँग करने के लिए उकसा सकते हैं। घात लगाकर अथवा विष देकर कबीले के सदस्यों की हत्या (जिसके लिए मत व्यक्ति के कबीले के भीतर के नाते प्रतिद्वन्द्वियों का आरोपी ठहराया जायगा) से और शत्रु द्वारा मुखियाओं को घूस दिये जाने की अफवाह फैलाने से भी कलहों को बढ़ावा मिल सकता है। तब अर्थशास्त्र-सम्मत राज्य का शासक सशस्त्र सेना लेकर प्रत्यक्ष हस्तक्षेप करेगा। फिर कबीले के टुकड़े करके, कबीले के पाँच से लेकर दस परिवारों तक के जत्थों को दूर-दूर के क्षेत्रों में बसाया जाये—एक-दूसरे से इतनी दूर कि वे फिर लड़ाई के मैदान में एकत्र होकर अपनी रणकुशलता न दिखा सकें। अर्थशास्त्र में जिन कबीलों का उल्लेख है उन्हें दो प्रकारों में बाँटा गया है (१) कम्बोज और सुराष्ट्र क्षत्रियों जैसे कृषक-व्यापारी तथा शस्त्रोपजीवी कबीले, और (२) लिच्छवि, वज्जि, मल्ल मद्र कुकुर कुरु तथा पांचाल-जैसे 'राजा' की उपाधि धारण करनेवाले (आयुधजीवी) क्षत्रिय कुलीनों (जिन्हें इससे नीचे के पेशे का काम करना मंजूर नहीं था) के कबीले। लिच्छवियों अथवा वज्जियों के कबीले को अजातशत्रु पहले ही तोड़ चुका था परन्तु उनका अभी सर्वनाश नहीं हुआ था। नेपाल में मिले शिलालेखों से पता चलता है कि लिच्छवियों का नाम लगभग एक हज़ार साल तक जीवित रहा। ईसा की चौथी सदी का गुप्त राजा चन्द्रगुप्त प्रथम अपनी श्रेष्ठता घोषित करने के लिए सबसे बेहतर सबूत यही दे पाया कि उसने लिच्छवि 'राजकुमारी' कुमारदेवी से विवाह किया। ब्राह्मणों के पुराणों की एक कटुताभरी पंक्ति में शोक ज़ाहिर किया गया है कि मगध-सम्राट महापद्म नन्द ने सभी क्षत्रियों का मूलोच्छेदन किया, उसके बाद कोई भी क्षत्रिय कहने लायक नहीं बचा। ये क्षत्रिय कुरु पांचाल और पूर्वी पंजाब के नव-वैदिक कबीलों के ही हो सकते हैं, इनके बाद इनके नाम केवल आख्यानों और काव्यों में ही सुनने को मिलते हैं। बाकी अधिकतर काम सिकन्दर ने पूरा किया। चाणक्य के समय तक मद्र तथा कम्बोज कबीलों का मगधीय राज्य के साथ सीधा सम्बन्ध स्थापित नहीं हुआ था, परन्तु सीमा प्रदेश तक्षशिला का ब्राह्मण होने के कारण उसने इन कबीलों को समीप से देखा होगा। अतः अर्थशास्त्र में उन्हीं सिद्धान्तों को अद्यतन रूप में सूत्रित किया गया है जो पहले से स्थापित थे और प्रयुक्त विधियों पर आधारित थे—जैसे कि अजातशत्रु के ब्राह्मण-मन्त्री वस्सकार द्वारा लिच्छवियों के विरुद्ध प्रयुक्त उपाय। यद्यपि मगध की सेना इतनी बड़ी और अजेय थी कि लड़ाई के मैदान में शत्रु को आसानी से कुचल दे सकती थी फिर भी मगध के आरम्भिक राजा यही समझते थे कि चौकसी बरतने से जन धन की कम क्षति होगी। बाकी ऐसे घुमन्तू पशु-पालक कबीले बचे रहे जो न कहीं पर स्थायी रूप से बसे थे, न खेती करते थे और न ही इतने शस्त्र-सज्जित थे कि उनसे कोई सामरिक खतरा हो। मेगास्थ-

चित्र ११ मौर्यों के पहले के मगध के अंतिम महान् राजा महापद्म नन्द के चांदी के सिक्का पर आहत चिह्न। उसे ही स्वतन्त्र आय कबीलो के जिसम शायद कुरु कबीला भी शामिल था अंतिम विनाश का श्रेय दिया जाता है लगभग ३५० ई० पू०।

नीज न लिखा है कि ईसा पूव तीसरी सदी म भारतीय जनता के जो सात प्रमुख वग थे उनम एक इन पशुचारिया का था। अथशास्त्र के कुछ उपाय, जिनम कडी शराब तथा विप प्रयोग भी शामिल हैं, अमरीका मे स्थानीय आदिवासियो (रेडस्किन) के विरुद्ध लगभग उसी प्रकार के कारणो से अपनाये गये जिनके लिए प्राचीन मगध म उनका प्रयोग होता था।

६ ३ भूमि का प्रबन्ध

अथशास्त्र की जानकारी उन पाठका को निश्चय ही विचित्र और अयथाथ प्रतीत होती है जो भारतीय ग्राम्य परिवेश की कल्पना इसके बाद के रूप म करते है। उस समय प्रशासन की इकाई थी जनपद जिसे आजकल के जिले के बराबर समझा जा सकता है। जनपद यानी 'जन (कबीले) का स्थान अपना मूल अथ बदल चुका था। कबीलाई लोग व्यापक रूप से कृषक समुदाय मे घुल मिल चुके थे। य जनपद एक-दूसरे से जुडे हुए नही थे, बल्कि इनके बीच म विस्तृत जगल थ जिनम मुख्यत अन्न सग्राहक बबर आदिवासी (आटविक) बस हुए थे। एक ही जनपद के देहातो के बीच म जो जगल थ उनस इधन, इमारती लकडी, सूखी घास शिकार तथा खाने की चीजें मिलती थी और वे चरागाहो का भी काम देते थे परन्तु आमतौर पर इन जगलो म अब खतरनाक लोग नही बसत थ। सम्भावना चाहे आदिवासिया के छापे की हो अथवा विदेशी आक्रमण की, प्रत्येक जनपद की सीमा-सुरक्षा का समुचित प्रबन्ध था। बबर आदिवासियो की गति विधियो और इरादो का पता लगाने के लिए खास गुप्तचर, आमतौर परआश्रम वासिया के वेश म, भेजे जाते थे, यदि कोई आदिवासी कबीला अधिक शक्तिशाली हो पर अन्न उत्पादन की अवस्था म सक्रमण के लिए राजी हो तो उसे पिछले परिच्छेद म बताये गय उपाया द्वारा विघटित किया जा सकता है। ईसा पूव तीसरी सदी तक विभिन्न जनपदो की एक दूसरे स पृथक इन सीमाओ का उतना ही महत्त्व था जितना कि राज्या की बाह्य सीमाओं का। व्यापारी सार्थो को हर जनपद म प्रवेश करते समय और उसकी सीमा स बाहर निकलत समय चुगी देनी पडती थी। प्रत्येक व्यक्ति को जनपद की सीमा पार करत समय मुहर लगा हुआ राजकीय आज्ञापत्र पेश करना होता था, जो अच्छे कार्यों के लिए और

भारी शुल्क देने पर ही मिलता था। जनपद का प्रशासन सँभालनेवाले महामन्त्री और स्थानीय परिषद के अधिकारी उसी जनपद के होते थे। कभी-कभी किसी विदेशी अजनबी को भी 'राष्ट्रिय' बना दिया जाता था, जैसे कि चन्द्रगुप्त मौर्य के शासनकाल में ईरानी तुषास्फ को[1], परन्तु बाद में तेजी से भारतीय बनते गये कई शक विदेशियों ने यही पद सँभाला है जिसका कारण सम्भवतः यह था कि इस प्रदेश में ईरानियों की एक प्रभावशाली बस्ती थी।

प्रत्येक जनपद में एक-सी शासन-व्यवस्था थी। सर्वोच्च अधिकारी राजा के मन्त्री होते थे, उनके ठीक नीचे के अधिकारियों की एक परिषद (बहुमुख्या जिसका यूनानियों ने उल्लेख किया है) होती थी। उच्च पदों के लिए अधिकारियों का चुनाव बड़ी सावधानी से किया जाता था और उनकी बुद्धिमत्ता, ईमानदारी, साहस तथा स्वामिभक्ति की परीक्षा होती थी साथ ही, गुप्त रूप से प्रलोभन देकर धन, स्त्री, व्यसन तथा महत्त्वाकांक्षा-सम्बन्धी दुर्बलताओं की भी जाँच की जाती थी। प्रत्येक अधिकारी के विशिष्ट गुणों और अवगुणों का ब्यौरा रखा जाता था। प्रत्येक अधिकारी के पूरे कार्यकाल में उसकी गतिविधियों पर गुप्त रूप से नज़र रखी जाती थी। धनी, पश्चात्तापी अथवा सामान्य नागरिक के वेश में छोड़ गये गुप्तचर जन-मत का पता लगाते थे, और आवश्यकता पड़ने पर अनुकूल जनमत भी तैयार करते थे। यह वैसा ही काम था जैसा कि आजकल कुछ देशों में जनमत संग्रह और समाचारपत्रों में सम्पादकीय अभियान द्वारा किया जाता है। अधिकारी-तन्त्र का निम्न छोर प्रत्येक गाँव के अथवा शहर के प्रत्येक मुहल्ले के नियामक तक पहुँचता था। ऐसा प्रत्येक 'संरक्षक' (गोप) अपने क्षेत्र में प्रत्येक व्यक्ति के जन्म, मृत्यु तथा आने जाने का पूरा लेखा जोखा रखता था। अजनबियों तथा अतिथियों की, इक्के-दुक्के यात्रियों तथा व्यापारियों की, किसी के एकाएक धनी हो जाने की अथवा किसी व्यक्ति की सन्देहास्पद गतिविधियों की तुरंत सूचना देना और इन पर कड़ी नज़र रखना आवश्यक था। प्रत्येक व्यापारी-साथ में गुप्तचर होते थे। राजा सतर्क था, ऐसा प्रबन्ध था कि राजा के प्रतिनिधियों से कोई भी बात छिपी न रह सके। उपयोगी या महत्त्व का कोई भी समाचार हरकारों अथवा सन्देशवाहक कबूतरों द्वारा मुख्यालयों को तुरन्त भेज दिया जाता था और सम्बन्धित अधिकारियों को आदेश भी उसी प्रकार भेजे जाते थे।

जनपद की भूमि के दो स्पष्ट वर्ग थे राष्ट्र राजस्ववाली भूमि, और राज्य

---

1 रुद्रदामन् के गिरनार लेख के अनुसार, चन्द्रगुप्त मौर्य का 'राष्ट्रिय' वैश्य पुष्यगुप्त था और अशोक मौर्य का 'अधिष्ठान्' यवनराज तुषास्फ था (मौर्यस्य राज्ञः चन्द्रगुप्तस्य राष्ट्रियेण वैश्येन पुष्यगुप्तेन कारितमशोकस्य मौर्यस्य कृते यवनराजेन तुषास्फेनाधिष्ठाय ...)।
—अनुवादक

के सीधे निरीक्षण म बसायी और जोती जानेवाली सीता भूमि। राष्ट्र भूमि का विकास आरम्भिक ग्राम कबीलो की बस्तियो से हुआ। आमतौर पर उनका अपना एक छोटा मुख्यालय-नगर होता था, जिसके लिए आवश्यक उपज आस पास की कृषिभूमि से प्राप्त होती थी। ऐसे नगरा मे प्रशासन पारम्परिक प्रथा क अनुसार चलन दिया जाता था, बशर्ते कि सम्राट की सत्ता पर इसस किसी प्रकार की आँच न आय। इन राष्ट्र भूमिया के अन्तगत वे 'स्वतन्त्र नगर' भी थ जिनका यूनानिया न उल्लेख किया है उनकी दष्टि म ये नगर अरस्तू के 'स्वतत्र राज्य की तरह थे जहाँ जनता की मर्जी से कुलीन लोग शासन चलाते थे। इनमे म कुछ ने मौय आधिपत्य म, अपने सिक्के भी चलाये थे, जिन पर केन्द्रीय राजकाप का चिह्न आहत रहता था, इन पर राजसत्ता-सूचक चक्र-चिह्न के स्थान पर लघु मानवाकृतिया अथवा ढाल तथा बाण के चिह्न आहत किये जाते थे। राष्ट्र कर भी पुरानी परम्परा पर आधारित थ, पर अब राजा का विशेष मत्री इन्ह वसूल करता था। कुछ देहात एकमुश्त (सराशि) कर देते थे, और इसम हरेक का अश गाववासी आपस म तँ कर लेते थे। मुख्यत कर निर्धारण फसल का छठा हिस्सा होता था। सेना की रसद के लिए' जो कर वसूल किया जाता था, वह कबीला की पूववालिक स्थानीय सनिक-सेवा का ही दूसरा रूप था। कबीलाइ यन के अवसर पर राजा को भेंट-उपहार देने की जो पारम्परिक प्रथा थी उससे बलि कर का विकास हुआ। अय कुछ करा का विकास मुखिया को पुत्रजम और सावजनिक सभा-समारोह आदि के अवसरो पर दिये जानेवाले उपहारो से हुआ। कबीला के मुखियाओ और (स्वयसवी किन्तु प्रशिक्षित) कबीलाई सनाओ का प्राय लोप हो चुका था फिर भी नया राज्य पुराने सभी करो को नियमित रूप से वसूल करता था। राज्य उद्याना पर भी कर लेता था और पशुओ द्वारा फसल की तथा

चित्र १२ चाँदी के कबीलाई सिक्के। ये सिक्के उन लोगो ने चलाये जिन पर प्रत्यक्षत किसी राजा का शासन नहीं था यद्यपि (इस उदाहरण में) वे द्वितीय मौय सम्राट बिन्दुसार (जिसने सिल्यूकस निकेतर को हराया था) के आधारभूत आधिपत्य में थे। ये सिक्के मेगास्थनीज द्वारा उल्लिखित भारतीय 'स्वतन्त्र नगरो' के अस्तित्व को प्रमाणित करते हैं।

कथित क्षति के हरजाने के रूप म भी नाममात्र का कर वसूल किया जाता था, राज्य के खच से निर्मित जन-सुविधा सम्बन्धी साधना (बाँधो नहरा, जलाशया) पर उपकर लगाया गया था। इनम से कुछ करो के बार म शिलालेखा म जान कारी मिलती है अशोक ने लुम्मिनी गाँव को बलि कर से मुक्त किया और फसल

के भाग को छठे से घटाकर आठवाँ कर दिया ('क्योंकि बुद्ध यहाँ पदा हुए थे')। व्यक्तिगत उपहारों आदि की प्रथा सामन्ती युग मे, सामन्तो के विशेपाधिकारो के रूप में पुन प्रकट हुई अथवा पहले से ही चली आती रही।

सीता भूमिया की स्थिति एकदम भिन्न थी। कृपिजन्य भूमि म सीता भूमि का हिस्सा इतना अधिक बढ गया था कि यूनानी पयटको (जो निश्चय ही गगा नदी के रास्ते स पटना पहुचे होंगे, न कि शनै शनै उजडत जानेवाले उत्तरापथ के स्थलमाग स) ने यही समझ लिया कि समस्त भूमि पर भारतीय राजा का अधिकार है। अथशास्त्र के राजा की ओर से खूब कोशिश की जाती थी कि परती भूमि पर लोगा को वसाया जाय, फिर वह भूमि पहले साफ की हुई पर वाद म जगल बनी हुई हा अथवा पहली बार साफ की गयी अछूती भूमि हो। ऐसी भूमियो म बसाय जानेवाले लोगो को विशेप प्रलोभन देकर जनपद के वाहर से लाया जाता था अथवा राजा के अपने अधिकार-क्षेत्र से ही चाहे नगर की आबादीवाली गन्दी बस्तियों स या चाहे घनी आवादीवाले देहातो से, शूद्र परिवारो को बलपूवक हटाकर इन भूमिया में बसाया जाता था। हम यह भी जानते हैं कि नये विजित प्रदेशा स जबरदस्ती पकड लाये लोगा को पुनर्वासित किया जाता था, क्योंकि अशोक ने अपने कलिंग-अभियान के परिणामो के सन्दभ म ठीक इसी अथ म (जबरदस्ती हाँक ले जाना) अपवह क्रिया का इस्तेमाल किया है। परन्तु ये ग्राम वासी दास नही थे, कृपिदास भी नही थे, वल्कि स्वतन्त्र अधिवासी थे—इन्हे सिफ ऐसे ही काम करने की आजादी नही थी जिनसे राजकाप को क्षति पहुँचे। नये गाँव एक-दूसरे से करीब तीन मील के अन्तर पर होते थे और इनके बीच की सीमाए स्पष्ट रूप से निर्धारित रहती थी, भले ही सारी भूमि साफ हुई हा अथवा न हुई हो। प्रत्येक गाँव मे १०० लेकर ५०० तक शूद्र कृपक (कपक) परिवारा की आवादी रहती थी और इनका समूहन इस प्रकार होता था कि पडौसी गाव एक दूसर की रक्षा कर सकें। प्रत्येक १०, २०० ४०० तथा ८०० ग्राम-समूहा के लिए प्रशासकीय मुख्यालय थ जहाँ सम्भवत रक्षासेना भी रहती थी। सम्भव है कि शिशुपालगढ नगर की स्थापना ८०० गाँवा के केन्द्र (स्थानीय) के रूप म हुई हा पुरातात्त्विक जानकारी के अनुसार इस नगर की नीव ईसा पूव तीसरी सदी म पडी थी, परन्तु इस जानकारी की अथशास्त्र के साथ तुलना करके देखना अभी बाकी है।

राज्य के गाँव की भूमि (सीता भूमि) जोतनेवाले को केवल उसकी जिन्दगी भर क लिए दी जाती थी। यदि उसी न उस भूमि को पहली बार साफ किया है तो फिर वह दूसरा को न दी जाकर उसी के उत्तराधिकारिया को दी जाती थी बशर्ते कि जमीन भलीभाँति जोती जाती हो। कोई भी व्यक्ति, विशेप अनुमति के बिना, अपने जोत क्षेत्र को हस्तान्तरित नहीं कर सकता था यदि किसी खेत का

जाता न गया, तो उसे दूसरे को सौंप दिया जा सकता था। यदि साफ की गयी भूमि और आबादी नयी हो अथवा कोई विपत्ति आ पड़े तो सीता करों से छूट भी मिल सकती थी। अन्यथा, सीता कर राष्ट्र करों से कहीं अधिक भारी थे—कम से-कम फसल का पांचवां हिस्सा, और यदि सिंचाई का प्रबन्ध राज्य की ओर से किया गया हो तो तीसरे हिस्से तक सीता कर वसूल किया जाता था। इमारती लकड़ी जंगल की पैदावार, मछली, शिकार और हाथी राज्य के लिए आरक्षित थे। हाथियों के जंगलों को साफ नहीं किया जाता था, जो कोई हाथी की हत्या का दोषी पाया जाता था उसे मृत्युदण्ड दिया जाता था। हाथी सेना के लिए अनिवार्य था, केवल लड़ाई के लिए ही नहीं बल्कि भारी परिवहन पुलों के निर्माण और इसी प्रकार के दूसरे भारी कामों के लिए भी। इसके अलावा हाथी का प्रतिष्ठात्मक मूल्य भी था। अधिकारियों को वैद्यों तथा पशुचिकित्सकों को, राज्य के मन्त्रवाहकों को तथा इसी प्रकार के अन्य राज्य-कर्मचारियों को उनके सेवा-काल तक के लिए सीता भूमि की जोत दी जा सकती थी, पर इन भूखण्डों पर उनका कोई स्वामित्व नहीं था न ही वे इन्हें रेहन रख सकते थे। जिस भूमि में *लम्बे अर्से से खेती की जाती रही हो वह यदि खाली हो जाये, तो* (उस जनपद-विशेष का) राज्य भूमि मन्त्री (सीताध्यक्ष) किराये के मजदूर तथा दण्डित दासों से उसे सीधे अपनी देखरेख में जोतने की व्यवस्था करता था, दण्डित दास इस प्रकार अपनी सजा अथवा जुर्माने की भरपाई कर देते थे। बड़े पैमाने पर दास मजदूरों का कोई अस्तित्व नहीं था परन्तु दण्डित दासों का निर्धारित (दण्ड) कालावधि के लिए बेचा जा सकता था। अर्कर्पित भूमि अधबटाई पर भी दी जाती थी—आमतौर पर ऐसे लोगों को जिनके पास शारीरिक श्रम के अलावा देने को और कुछ न होता था। फसल के बाद बीज का अनाज काट लिया जाता था और राज्य के हिस्से का अनाज जोतनेवाले के परिवार की स्त्रियों को पीसना पड़ता था। जाहिर है कि ऐसी स्थितियों में राज्य के प्रतिनिधि बैलों और औजारों तक का प्रबन्ध करते थे। संयोगत, अधबटाई की यह व्यवस्था बिहार में पूरे सामन्ती युग में टिकी रही और बाद में जहाँ इसका रिवाज था, अंगरेजों ने इसे जमींदार के विशेषाधिकार के रूप में स्वीकार कर लिया। इस प्रथा के जीवित रहने से भी कुछ लोगों ने निष्कर्ष निकाला कि भारत में कोई परिवर्तन नहीं हुआ है। इस बात पर ध्यान ही नहीं दिया जाता कि मौर्यकाल और उससे पहले राज्य और कृषक के बीच में सामन्ती बिचौलिये नहीं होते थे। सीता भूमि में केवल सैनिकों तथा भूतपूर्व सैनिकों को ही रियायत दी जाती थी ये लोग यदि राज्य को पांचवां हिस्सा भी न दे पाते तो फिर इन्हें आसान शर्तों पर भूमि मिल जाती थी। इन लोगों को सामन्ती युग में भी ऐसी सहूलतें मिलती रहीं और अन्तत इन्होंने अपना एक विशिष्ट वर्ग बना लिया जिसका काम था सेना के लिए रंगरूट जुटाना।

राजा निराश्रित बच्चों, बूढ़ों, अपाहिजों, विधवाओं तथा गर्भवती स्त्रियों की देख भाल करता था। यह सरंक्षण करीब उसी प्रकार का था जैसे मालिक अपने पशुओं की देख भाल करता है, न कि पिता जिस प्रकार अपने बच्चों की देख-भाल करता है। सीता भूमि में किसी प्रकार के सभा-समूह के आयोजन की अनुमति नहीं थी—केवल सजात समूह यदि हो तो, और आवश्यक सार्वजनिक निर्माण-कार्य (बाँध, नालियाँ आदि) के लिए ही एकत्र होने की अनुमति थी। अनिवार्य सामुदायिक कार्य के लिए नियत समय पर यदि कोई अपना श्रमयोग अथवा अपने बैल नहीं देता, तो उस पर जुर्माना लगाया जाता था। राज्य के देहात में मजदूर संगठनों, व्यापारी श्रेणियों, नये धर्मोपदेशकों तथा प्रचारकों का प्रवेश की अनुमति नहीं थी, अधिक-से-अधिक कोई अकेला आश्रमवासी ही ऐसे गाँव से गुज़र सकता था। (यही कारण है कि बौद्ध तथा जैन कथाओं में सीता गाँवों के उल्लेख नहीं मिलते। बुद्ध और महावीर के काल में राष्ट्र यानी कबीलाई जन का रिवाज था, जबकि आगे की दो सदियों के काल में उनके अनुयायियों को सीता भूमि में प्रवेश करने की अनुमति नहीं थी, असोक के पहले की इन्हीं दो सदियों में राज्य द्वारा सीधे शोषण की व्यवस्था सर्वाधिक सक्रिय रही।) किसी भी सीता ग्रामवासी को जब तक वह अपने आश्रितों का समुचित प्रबन्ध न करे और अपनी समूची सम्पत्ति को वितरित न करे परिव्राजक बनने की अनुमति नहीं थी। कोई भी स्त्री परिव्राजिका नहीं बन सकती थी। कोई कृषक कर-दाता गाँव को छोड़कर कर मुक्त गाँव में बस नहीं सकता था, फिर वह कर मुक्त गाँव राष्ट्र भूमि में हो अथवा परती भूमि के वे (बहुत थोड़े) विशेष उपवन हों जो ब्राह्मणों को उनके निर्वाह तथा अध्ययन के लिए दे दिये जाते थे और जो कर से मुक्त थे। सीता गाँव में नट, नर्तक, गायक वादक, कथा-वाचक तथा ऐसे ही दूसरे मनोरंजनकर्त्ताओं के लिए प्रवेश वर्जित था। वास्तव में, गाँव में ऐसी कोई उपयुक्त इमारत ही नहीं बनायी जाती थी जो सार्वजनिक सभाओं, नाटकों अथवा खेल-तमाशों के काम आ सके। चाणक्य ने लिखा है 'ग्रामवासियों की निराश्रयता से और पुरुषों के अपने काम में जुटे रहने से ही राजकोष बेगारी के श्रम (विष्टि), धान्य, तेल आदि की वृद्धि होती है।'[1] ईसा पूर्व चौथी सदी के यूनानी पर्यवेक्षकों को यह देखकर बड़ा आश्चर्य हुआ था कि पास ही में दो सेनाओं में घनघोर युद्ध हो रहा है पर किसान उसकी तनिक भी परवाह न करके अपने खेत के काम में जुटा हुआ है। दरअसल इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं है क्योंकि युद्ध के नियमानुसार निशस्त्र शूद्र किसान व्यक्तिगत रूप से सुरक्षित था और

---

1 निराश्रयत्वाद्ग्रामाणां क्षेत्राभिरतत्वाच्च पुरुषाणां कोशविष्टिद्रव्यधान्यरसवृद्धिर्भवतीति।
—अर्थशास्त्र २ १ ३५

विजय किसी भी पक्ष की हो, उसके जीवन पर इसका कोई प्रभाव नही पडता था। इसे भी 'परिवतनहीन पूव' की एक विशेषता माना गया है। वस्तुत ग्रामीण जीवन की इस जडता को आरम्भिक राज्यतन्त्र ने ही प्रयत्नपूवक प्रोत्साहन दिया था। जिस राजतन्त्र ने इन उदासीन गाँवो को जन्म दिया था वह न केवल इनके पहले ही मिट गया, बल्कि इन्होंने ही उस राज्य को नष्ट किया और देश के ऊपर अपनी एक अमिट छाप छोडी।

भूमि साफ करने का काम केवल राज्य की ओर से ही नही होता था। भूमि साफ करने के लिए स्वेच्छा से कोई भी समूह आमतौर पर अपना एक सगठन (श्रेणी) बनाकर, जगल म पहुँच सकता था और वहाँ अपना स्थायी अथवा अस्थायी आधिपत्य स्थापित कर सकता था। यदि वे अधिकृत राष्ट्र अथवा सीता क्षेत्रो के भीतर हो, तो उन्हे तदनुरूप राजस्व देना पडता था। अन्यथा, एक कालावधि के लिए वे जनपद की निरन्तर फैलती सीमाओ के परे होते थे, और इसीलिए राजा के अधिकार क्षेत्र से भी परे होते थे। इसका अथ यह था कि इन लोगो को जगल के आदिवासियो (आटविको) को शस्त्रबल से रोकना पडता था या उनके साथ प्रत्यक्ष सुलह करनी पडती थी। दोनो ही बातें सम्भव थी, क्योकि श्रेणी आमतौर पर व्यापार तो करती ही थी वस्तुओ का उत्पादन भी करती थी। साथ ही, वे सैनिक अभियान के समय भाडे पर सैनिक टुकडियाँ भी भेजती थी। इन्होने आटविको के विकास म कितना योग दिया, इसका केवल अनुमान ही लगाया जा सकता है परन्तु अथशास्त्र की सूचना के अनुसार, जासूसी तथा सहायक सनिक सेवा के लिए आटविको का भी इस्तेमाल किया जाता था जिससे सभ्यता की ओर आगे बढने का उनका माग निश्चय ही प्रशस्त हुआ होगा।

अथशास्त्र म वे सभी उपाय बताये गये हैं जो पडौसी राज्य पर आक्रमण करने के लिए इस्तेमाल म लाये जाते थे अन्तर्राज्यीय गठबन्धन, युद्ध विष प्रयोग विद्रोह को प्रोत्साहन देना आन्तरिक तोड फोड। सन्धियाँ जो कभी जबानी होने पर भी पावन समझी जाती थी सुविधानुसार तोडी जा सकती थी, जिसके लिए किसी अन्य कारण की जरूरत भी नही होती थी। परन्तु यहाँ आक्रमण का प्रत्यक्ष उद्देश्य खिराज प्राप्त करना नही था जैसाकि इतिहास की जानकारी के अनुसार प्राचीन काल म अन्यत्र आक्रमण का आमतौर पर यही प्रयोजन रहा है। यदि पराजित राजा समझदारी दिखाता (अन्यथा उसका जीवित बचना सम्भव नही था) तो वह अपने सिंहासन के साथ-साथ अपने राजस्व तथा अधिकारियो को भी यथावत् सुरक्षित रख पाता था। विजेता एकाधिकार की माँग करता था तो केवल परती भूमि पर जहाँ उसकी ओर से जमीन की सफाई की जाती, बस्तियाँ बसायी जाती और खानें खोदी जाती। सम्भव हो तो यह अधिकार बिना किसी युद्ध के ही प्राप्त किया जाता—पडौसी राजा से साधारण समझौता करके।

ईसा पूर्व पाँचवीं-चौथी सदी का मगध एकमात्र ऐसा राज्य था जहाँ राजतन्त्र को स्पष्टत एक शास्त्र समझा जाता था। दूसरे राज्य कर वसूल करके अपनी प्रजा का शोषण करते रहते थे, परन्तु अर्थशास्त्र का राजा ऐसा न करके अन्य सीधे साधनों से राजकीय आय में वृद्धि करता था। यूनानियों ने लिखा है कि भारतीयों को यानी पंजाब के निवासियों को, धातुकर्म तथा तकनीक की बहुत थोड़ी जानकारी थी, और वे सिंचाई के लिए पनचक्की का इस्तेमाल करना भी नहीं जानते थे। तत्कालीन मगध के बारे में विदेशी टिप्पणी में (जो आज उपलब्ध नहीं है) ऐसी भर्त्सना कदापि न देखने को मिलती। अर्थशास्त्र के राज्य में खनिकर्म तथा हर प्रकार की सिंचाई-व्यवस्था आश्चर्यजनक रूप से उच्च स्तर की थी—जिसका ठीक कारण यह था कि राज्य के सीधे अधिकार क्षेत्र की सीता भूमियों का राजवित्तीय लाभ के लिए सर्वाधिक उपयोग किया गया था।

मौर्यों के बाद राजा को कर के रूप में फसल का छठा भाग देने की परम्परा अस्तित्व में आयी, परन्तु यह ज्ञात नहीं है कि यह परिवर्तन कब से हुआ। राष्ट्र और सीता भूमियों का भेद तेजी से मिटता गया। 'राष्ट्र' शब्द देश अथवा आधुनिक अर्थ में 'राष्ट्र' का पर्यायवाची बन गया। राज्य को 'राष्ट्र' प्रणाली से राजस्व मिलता रहा—सीधे किसान से अथवा भूस्वामियों के एक बिचौलिये वर्ग से। दूसरी स्थिति में पट्टेदार किसान को सीता दर से कर देना पड़ता था और कभी-कभी फसल का आधा भाग तक देना पड़ता था, इस कर में और छठे भाग वाले कर में जो अन्तर होता वह सब भूपति के खजाने में चला जाता था। इस प्रणाली का उद्गम मौर्यकाल में ही हुआ था, परन्तु बाद के राजतन्त्र में इसका आधार बिचौलियों का एक नया भूपति-वर्ग बन गया। इस नये भूपति-वर्ग में एकरूपता नहीं थी फिर भी व्यवहार में इसके अधिकारों को स्पष्ट रूप से मान्यता मिली हुई थी और इसकी जिम्मेदारी हो गयी कि यह राज्य को, जो अब उसका अपना राज्य हो गया था, सहायता दे यद्यपि बाह्य रूप से अब भी निरंकुश राजतन्त्र का ही अस्तित्व था।

६४ राज्य और पण्य उत्पादन

अर्थशास्त्र का राज्य एक अन्य अद्भुत बात में प्राचीन काल के दूसरे ज्ञात राज्यों से—भारत के अथवा बाहर के—भिन्न था, यह बड़े पैमाने पर पण्य उत्पादन करता था। जैसाकि हमने देखा है, राज्य की मुख्य आमदनी सीता भूमियों से थी जिनकी एक चौथाई अथवा इससे भी अधिक उपज राज्य के कोष्ठागार (पण्यगृह) में पहुँचती थी, 'राष्ट्र' कर यद्यपि उतने भारी नहीं थे, पर उपज के रूप में ही वसूल किये जाते थे। उपयोग में लाने के लिए अनाज को कूटकर साफ करना और सम्भवत पीसना भी आवश्यक था, तेल के बीजों को पेलकर तेल प्राप्त करना जरूरी था, कपास को धुनकर व कातकर सूत निकालना जरूरी

था, ऊन को छाटकर और साफ करके कम्वल बनाने जरूरी थे, इमारती लकडी को चीरकर और छीलकर तख्ते और कडियाँ तैयार करनी थी, इसी प्रकार और भी कई जरूरी काम थे। राज भण्डारो का अध्यक्ष राज्य के निरीक्षण म य सारे काम अधिकतर स्थानीय मजदूरा (स्त्री पुरुष दोनो) से उस समय करवा लेता था जब खेती के काम मे शिथिलता आ जाती थी इन्हे भोजन क अलावा कुछ मासिक मजदूरी भी दी जाती थी। अथशास्त्र मे पण्य सग्रह सम्बन्धी सभी प्रक्रियाओ का पूरा विवरण दिया गया है सफाई के हर दौर म किस सीमा तक नुक्सान होता है, कुशल मजदूरो से कितनी औसत उपज होती है, और अन्तत उपज का तौल या माप कितना होता है इत्यादि, लगता है कि हम राज्यतन्त्र का ग्रन्थ नही, वल्कि किसी कारखाने की उपज का विवरण पढ रहे है। हिसाव किताव की ऐसी व्यवस्था के कारण धोखा देना वहुत कठिन रहा होगा। अकुशल राजकमचारी की लापरवाही के कारण राजस्व की जितनी क्षति होती थी उतना उसे जुर्माना देना पडता था जो कुशल कमचारी नये स्रोतो से अथवा काम के नये बेहतर तरीके इस्तमाल करके अनुमान से अधिक आय दिखाता था, उसे पुरस्कृत किया जाता था। इसके अलावा बजट बनाने की दृष्टि से राज्य के पण्य गृहो का बडा महत्त्व था और प्रत्येक पण्यगह म एक वर्षा मापक उपकरण रखा जाता था, जिसके रिकाड के आधार पर भूमि का वर्गीकरण करके राजस्व का अनुमान लगाया जाता था।

अन्त मे तयार माल को बेच दिया जाता था। इस माल का अधिकाश भाग राज्य-सेवा के अन्य विभागो मे खप जाता था, जसे सेना म, पर यह हस्तान्तरण बिक्री द्वारा होता था और इसका पूरा पूरा हिसाब रखा जाता था। राज्य अपने सैनिको को अच्छा वेतन देता था, परन्तु युद्ध-अभियान के दौरान अधिक-से अधिक वेतन वापस लेने की कोशिश की जाती। इसके लिए वेतनधारी राज्य प्रतिनिधि व्यापारिया के वेश मे सनिक छावनिया म पहुँचते और दुगुने दामा पर माल वेचकर मुनाफा राजकोष म जमा कर देते थे। राज्य के प्रत्येक कमचारी को नक्द वेतन मिलता था वेतन का यह ब्यौरा वडा विस्तृत और रोचक है (देखिए अथशास्त्र ५ ३)। सवसे अधिक वेतन—प्रति वप ४८ ००० पण—राजा के पुरोहित मन्त्री, राजमहिषी राजमाता, युवराज और सेनापति को दिया जाता था। सवसे कम वेतन—प्रति वप ६० पण—भारी सख्या म सनिक छावनिया और राज्य की निर्माण-योजनाओ पर कोल्हू के वल की तरह कडी मेहनत करनेवाले मजदूरा को मिलता था इस श्रम को विष्टि कहत थे, और इसम कुछ हद तक जोर जवरदस्ती भा होती थी, पर वेतन अवश्य दिया जाता था, जवकि साम न्ती युग म इसी शब्द का अथ हो गया—जवरदस्ती की और विना वेतन की वेगार, जो राजा अथवा स्थानीय सामन्त के आदेश पर, प्रकट रूप

से सावजनिक भलाई के लिए, किसानों और कारीगरों को करों के बदले अथवा इनके अतिरिक्त देनी पडती थी। इस विष्टि श्रम के अन्तर्गत ज्यादातर ऊबड-खाबड प्रदेश में सडकें बनाने सिंचाई के लिए नहरें खोदने, किलेबन्दी के लिए खाइयाँ खोदने और बांधों के लिए मिट्टी-पत्थर ढोने का काम करना पडता था। प्रति वर्ष ६० पणों (चांदी के सिक्कों) के इस वेतन से जाहिर होता है कि कडी शारीरिक मेहनत करते हुए साल भर गुजारा चलाने के लिए इतनी निम्नतम आय जरूरी थी, और सम्भवत इसमें से आश्रितों के लिए भी कुछ बचता होगा। (यह वेतन प्रतिमाह १७ ५ ग्राम चांदी के तुल्य था, अठारहवीं सदी के आरम्भिक दिनों में ईस्ट इण्डिया कम्पनी भी निम्नतम स्तर के भारतीय मजदूरों को लगभग ठीक इतनी ही मजदूरी देती थी।) बढइयों और शिल्पियों (काष्ठ-शिल्पी) को राज्य की ओर से १२० पण वेतन मिलता था। प्रशिक्षित एवं पूर्ण शस्त्र-सज्जित पदाती को ५०० पण वेतन मिलता था, राज्य सेवा के लेखक (क्लर्क) और सख्यायक (लेखापाल) को भी इतना ही वेतन मिलता था (सेनाध्यक्षों तथा विभागाध्यक्षों को, जैसाकि स्वाभाविक था इससे कहीं अधिक वेतन मिलता था)। कुशल खनक और अभियन्ता को प्रति वर्ष १००० पण मिलते थे। विभिन्न वेश धारण करने में कुशल श्रेष्ठ गुप्तचर को भी इतना ही वेतन मिलता था, इसी प्रकार उस गुप्तचर को भी जो आमतौर पर गृहस्थ, व्यापारी अथवा साधु की जीविका में अपने को गोपनीय रखता था। ये गुप्तचर जिस किसी भी वर्ग की जीविका को अपनाते, उसी के स्तर के अनुसार उनकी निचयां होती थीं और इन्हें अतिरिक्त भत्ता भी नहीं मिलता था, इसलिए यह माना जा सकता है कि मगध के गृहपति के जीवन-स्तर तथा रहन-सहन के लिए कम-से-कम प्रति वर्ष १००० पण वेतन काफी पर्याप्त था। निम्न स्तर के गुप्तचरों—हत्यारों अक्खडों विष देनेवालों और भिखारिन-वेशधारी स्त्रियों (जिन्हें राजमहल से लेकर सामान्य गृहस्थ के घर तक स्त्रियों के कक्षों में अबाध प्रवेश मिलता था)—को ५०० पण मिलते थे इतना ही वेतन ग्राम-सेवकों को मिलता था। राजकीय दूत को, गन्तव्य स्थान की दूरी के अनुसार निर्धारित वेतन भत्ता मिलता था—अधिक दूर जाना हो तो दुगुनी राशि मिलती थी। राज्य-सेवाकाल में विकलांग हुए व्यक्तियों को और सेवाकाल में मृत सेवकों तथा अधिकारियों के असहाय आश्रितों को नियमित पेंशन दी जाती थी। दीर्घकालीन सेवा के लिए भत्ते के रूप में चावल अथवा धान्य का और उपहार के रूप में वस्त्र या इसी प्रकार की अन्य चीज का विशेष अधिलाभांश दिया जाता था। ऐसी कोई चीज वितरित नहीं की जाती थी जिससे राजस्व में स्थायी रूप से कटौती आ जाय, नकदी की कमी हो तो राजा अपने भण्डारों से कोई भी वस्तु उपहार में दे सकता था, परन्तु भूमि अथवा पूरा गाँव नहीं दे सकता था।

जनपद जाते समय साथवाह को आदिवासियों से आबाद जंगलों से गुजरना पड़ता था, इसलिए साथ की सुरक्षा के लिए वह शस्त्र भी साथ रखता था। जसे ही वह अगले जनपद की सीमा पर पहुँचता, उसे ये शस्त्र राज्य के शस्त्रागार म जमा कर देने पड़ते, कोई विशेष कारण हो तो आवश्यक शुल्क देकर वह शस्त्र अपने पास रखने की अनुज्ञा प्राप्त कर सकता था। ऐसा अनुज्ञापत्र प्राप्त किये बिना कोई भी शस्त्रधारी व्यक्ति जनपद के भीतर प्रवेश नहीं पा सकता था, यहाँ तक कि सनिक भी यदि वे अपने रक्षा-काय पर नियुक्त न हो तो नगर म शस्त्र लेकर नहीं आ सकते थे। जनपद मे प्रवेश करते समय और बाहर आते समय साथ को भी माग-कर एव सीमा शुल्क देना पड़ता था। तस्करी और माल के मूल्य के बारे मे असत्य विवरण देना न केवल खतरनाक था, बल्कि अत्यन्त कठिन भी था, क्योंकि साथ मे कम-से-कम एक ऐसा गुप्तचर-व्यापारी होता था जिसे राज्य की गुप्तचर-सेवा स अच्छा वेतन मिलता था और जिसे साथ के सारे लेन-देन की जानकारी होती थी। ऐसा भेदिया प्राय पहले ही सीमा-सुरक्षा अधिकारी को सूचना भेज देता था, इसलिए वह अधिकारी व्यापारियों द्वारा विवरण देने के पहले ही यह बताने की स्थिति म होता था कि साथ म ठीक किस प्रकार का माल मौजूद है। आयातित माल को एक नियत सावजनिक हाट मे ऐसे दामों पर बेचना होता था जिसम समुचित मुनाफा हो किन्तु इसस अधिक की गुंजाइश नहीं थी। बिना बिके माल को स्थानीय अधिकारी बिक्री के लिए प्राय अपने पास रख लेते थे और अपनी सही जानकारी के अनुसार उसके उचित दाम लगाते थे। व्यापारी—अपने आधुनिक सहधर्मी के असदश—आवश्यक वस्तुओं को इस आशा से जमा करके नहीं रख सकता था कि उन्हें वही अन्यत्र ले जाकर अधिक मुनाफे पर बेचेगा अथवा लुक छिपकर ऊँचे दामों पर बेचेगा।

पण्य निर्माता व्यापारी पर सम्भवत सबसे कड़ा प्रतिबन्ध यह था कि वह कुशल श्रमिक एक सीमा तक ही प्राप्त कर सकता था। कारीगर स्वतन्त्र थ और आमतौर पर शक्तिशाली श्रेणियों मे सगठित थे। किसी भी स्वतन्त्र शूद्र को बेचकर सेवक दास नहीं बनाया जा सकता था। यूनानियों न भारत म किसी प्रकार की दासप्रथा नहीं देखी इसी प्रकार, भारतीय भी सोचते थे कि सीमा प्रदेश मे और यूनानी प्रदेशों म केवल आय और दास जातियों का ही भेद है। दण्डदासों का उल्लेख पहले किया जा चुका है इनके अलावा घरेलू चाकरों, विदूषकों आदि जसे क्रीतदासों का भी एक पूरा वग था। परन्तु इनम से किसी को भी गन्दा अथवा अपमानजनक काम करने के लिए मजबूर नहीं किया जा सकता था, ऐसा करने पर उसे फौरन मुक्ति मिल जाती थी, बलात्कार अथवा अत्याचार के प्रयास का भी यही परिणाम होता था। स्वतन्त्र व्यक्ति के बच्चों की तरह दास के बच्चे भी स्वतन्त्र होते थे उन्हें बेचा नहीं जा सकता था। दास

पास यदि किसी प्रकार की सम्पत्ति हो तो मालिक उसे छीन नहीं सकता था, कोई भी दास, स्त्री या पुरुष, अपने श्रम की वैधानिक मूल्य में गणना करके अपनी आज़ादी खरीद सकता था। वेतन पानेवाले मजदूर एक ऐसे समुचित अनुबन्ध-कानून द्वारा सुरक्षित थे जो एक ओर मजदूरों को बाँधता था तो दूसरी ओर उनसे काम लेनेवाले ठेकेदारों को भी। और फिर, सीमाहीन जंगल भी था, जिसमें कोई भी साहसी व्यक्ति शरण ले सकता था। वहाँ अन्न-संकलन करके जीवन निर्वाह करना सदैव सम्भव था और आटविकों के साथ अच्छे सम्बन्ध स्थापित कर लेने पर वहाँ कृषि के लिए भूखण्ड भी साफ़ किया जा सकता था, राज्य की सीमा जब तक वहाँ न पहुँचे, तब तक राज्य की ओर से कोई परेशानी न होती थी न ही कोई कर देने की ज़रूरत थी। यद्यपि व्यापारी के ऐसे हित भली-भाँति सुरक्षित थे जिनका राज्य के हितों से टकराव नहीं था, फिर भी राज्य कानून का आम दृष्टिकोण यही था कि व्यापारी बुनियादी तौर पर धूर्त होता है और यदि उसे समय-समय पर भलीभाँति जाँचा न जाये, नियन्त्रण में न रखा जाय और दण्ड न दिया जाय तो वह सबके लिए घातक बन जाता है। बौद्ध दृष्टिकोण से स्पष्टतः इतने अधिक भिन्न किसी अन्य दृष्टिकोण की कल्पना नहीं की जा सकती।

हर चीज़ का मूल्य कूता जाता था यह बात अर्थदण्डों की सूची से ज़ाहिर होती है, अर्थशास्त्र के एक प्रामाणिक अनुवाद की अनुक्रमणिका में अर्थदण्डों की यह सूची साढ़े नौ कालमों में दी गयी है और इसमें भी कई ऐसे विषय छोड़ दिये गये हैं जिन्हें अन्यथा पाप या अभद्र आचरण की कोटि में शामिल किया जाता। ब्राह्मण पुरोहित भी, अन्य अनुबन्धित व्यक्तियों की भाँति, पूजा पाठ के लिए अपनी सहमति के कारण कानूनी तौर पर बँधा हुआ था। तपस्वी को जिसके पास छोटे-मोटे अपराध का जुरमाना देने के लिए भी सम्पत्ति नहीं होती थी राजा के लिए प्रार्थनाओं के रूप में अदायगी करनी पड़ती थी। वेश्यावृत्ति को न तो अपराध समझा जाता था न ही पाप, बल्कि एक पृथक मन्त्री (गणिकाध्यक्ष) के अन्तर्गत यह पेशा एक प्रकार का राजकीय उद्यम था। गणिकावृत्ति के लिए भी उसी प्रकार सर्वांगीण नियम थे जैसे कि पण्य-व्यापार अथवा दूसरी कम कुतूहलजनक सेवाओं के लिए थे। एक सीमा तक धनार्जन के बाद गणिकाएँ अपना पेशा त्यागकर सम्भ्रान्त जीवन व्यतीत कर सकती थीं, क्योंकि उस समय इस पेशे को उतना हेय नहीं समझा जाता था जितना कि यह बाद में हो गया परन्तु राज्य का ऋण चुकाना अत्यावश्यक था। वयोवृद्धा गणिका राज्य की सेवा में अधीक्षिका (मातृका) भी बन सकती थी। मदिरा के लिए भी एक पृथक मन्त्री (सुराध्यक्ष) था, जो शराब के उत्पादन से लेकर इसकी बिक्री तक सारी व्यवस्था देखता था। राज्य का एक विशेष अधीक्षक

(द्यूताध्यक्ष) सारे द्यूतागारो का सचालन करता था। इन सारे उदाहरणो से स्पष्ट होता है कि नागरिक जीवन के हर क्षेत्र म मुद्रा-अथव्यवस्था व्याप्त थी। यहाँ सिफ यही ध्यान मे रखना जरूरी है कि सबसे अधिक लाग मूक' सीता-ग्रामों म आबाद थे, जहाँ हर सम्भव प्रयत्न होता था कि उन्हे खेती के सख्त काम म सदा व्यस्त रखा जाय। गणिकाओ, सुरागारो तथा द्यूतागारा की सुविधाए क्वल नगरा एव कस्बो के लिए ही थी, आमतौर पर गाँवो के लिए नही। जब हम कहते हैं कि मगधीय राज्य एव समाज न हर चीज का मुद्रा-मूल्य निधारित किया था, तो यह कथन मुख्यत नगरीय जीवन साथ व्यापारी तथा राज्य-अधिकारिया पर लागू होता है, सीता भूमि पर जबरन बसाये गये गरीब किसाना पर नही।

६ ५ असोक और मगधीय साम्राज्य का चरमोत्कर्ष

चन्द्रगुप्त मौय के पौत्र और बिन्दुसार के पुत्र असोक (सस्कृत अशोक) ने राज सिहासन लगभग २७० ई० पू० म सँभाला। उसके अभिलेख अब तक पढे गये भारतीय अभिलेखा म सबसे प्राचीन हैं। उसके जीवन के बारे म यत्र-तत्र जो आख्यान मिलते हैं, उनके आधार पर कोई क्रमिक विवरण प्रस्तुत करना सम्भव नही है। कहा जाता है कि अपन सौतले भाइया की हत्या करके असोक सिंहासन पर बठा था, उसने कम-से-कम ३६ साल तक राज्य किया, जिनम से आरम्भ के आठ साल तक उसका शासन बडा क्रूर रहा। एक आख्यान के अनुसार, असोक ने बन्दियो को यातनाएँ देने के लिए जो विशेष नरक गृह' बनवाया था वह स्थल पटना के समीप यात्रियो को सदियो तक दिखाया जाता रहा। यह पार्थिव नरक वास्तव म मगध के कारावासा के कठोर जीवन का परिचायक था। जो असदिग्ध अपराधी उद्दण्ड और जिद्दी होते थे उन्ह कारागहा मे कठोर काम मे जोतने के साथ-साथ यातनाएँ भी दी जाती थी। सामन्ती युग के आरम्भ काल मे ऐसी यातनाएँ देना बन्द हो गया था, पर परवर्ती सामन्ती युग मे यह प्रथा पुन शुरू हो गयी। विभिन्न विवरणा के कारण दो असोका म कुछ भ्रम पैदा हो जाता है जिसका कारण यह है कि ईसा पूव पाँचवी सदी के एक मगधीय राजा के सिक्को पर भी लगभग वही चिह्न आहत हैं जो कि दो सौ साल बाद के महान् असोक के सिक्का पर देखने को मिलते हैं। दोना ही प्रकार के सिक्के असोक द्वितीय के समय म और बाद मे भी प्रचलित रहे। अत पहले के उस *शिशुनाग राजा* को कालासोक ('प्राचीन असोक') नाम देना स्वाभाविक ही था। मौय असोक ने अपन को देवानपिय पियदसि (देवताओ के प्रिय प्रियदर्शी) कहा है। 'देवानपिय' आमतौर पर राजाओं की उपाधि थी इसम राजा के दवी अधिकार का अथ निहित नही है, क्याकि 'बुद्ध' के अथ म भी इस शब्द का प्रयोग होता था। मास्की (कर्णाटक) और गुजर्रा (मध्यप्रदश) मे खोजे गये शिलालेखो से, जो असोक के दूसरे लेखों-जसे ही हैं, यह सिद्ध हो

गया है कि इन्हें असोक ने ही खुदवाया है, क्योंकि इनमें पियदसि और असोक नाम समानार्थक हैं। बौद्ध वाङ्मय (संस्कृत, पालि और चीनी) ने असोक को अमर ही नहीं, एक आख्यान-पुरुष बना दिया है, क्योंकि उसने बौद्ध धर्म स्वीकार किया था और भिक्षु-संघ को उदारतापूर्वक दान-दक्षिणा दी थी। महान् असोक के सिक्कों को अभी हाल तक पहचाना नहीं गया था, क्योंकि उन पर कोई नाम अथवा लेख नहीं है, सिर्फ दूसरे आहत सिक्का-जैसे चिह्न हैं।

चित्र १३ शिशुनाग सिक्के (चाँदी) जिनमें ऊपर के चिह्न उस राजा के हैं जो बाद में कालाशोक (लगभग ४२० ई० पू०) के नाम से प्रसिद्ध हुआ, क्योंकि यहाँ पाँचवाँ चिह्न असोक मौर्य के सिक्कों के (चौथे) चिह्न के लगभग समान ही है। पहले के सभी सिक्के परवर्ती शासनकालों में भी चलते रहे यदि विजय प्राप्त करके शासन पर अधिकार किया गया हो तो नया राजा कभी-कभी अपने चिह्न उन सिक्कों पर आहत करवाता था। नीचे की पंक्ति के चिह्न जिनमें नन्दिन् राजा का निजी चिह्न है उन मुद्राओं के हैं जिनका मौर्यों के पहले सर्वाधिक प्रचलन रहा और इसलिए ये अत्यधिक समृद्ध एवं दीर्घकालीन शासन के सूचक हैं। सम्भवतः इस चिह्न (नन्दिन्) के कारण ही नन्दराज अथवा नन्दवंश अपनी समृद्धि के लिए प्रसिद्ध हो गया।

असोक स्वयं जानकारी देता है कि राज्यारोहण के आठवें वर्ष में हुए विनाशकारी कलिंग (उड़ीसा) अभियान के बाद उसमें एकाएक परिवर्तन हो गया। इस युद्ध में एक लाख लोग मारे गये और इससे भी कई गुना लोगों की मृत्यु युद्धजनित कारणों से हुई। १५०,००० लोगों को निर्वासित किया गया इस सन्दर्भ में जिस अपवह क्रिया का प्रयोग किया गया है वह अर्थशास्त्र के उस शब्द के सदृश है जिसका अर्थ है—सीता भूमि में जबरन पुनर्वासित करना। यह मौर्यों की अन्तिम बड़ी युद्ध विजय थी। इसके बाद कलिंग के लोग—जितने भी बचे थे—असोक के विशेष संरक्षण में आ गये, मानो वे उसकी सन्तान हों। लगभग इसी समय से असोक मगध के धार्मिक उपदेशकों की ओर आकर्षित हुआ और वह बौद्धधर्म में दीक्षित हुआ। इस धर्म-परिवर्तन ने जिसकी तुलना अक्सर रोमन सम्राट कान्स्टेंटाइन द्वारा ३२५ ई० में ईसाई धर्म स्वीकार करने से की
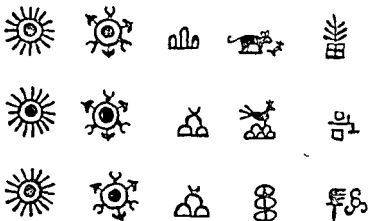
चित्र १४ पहले तीन मौर्य सम्राटों—चन्द्रगुप्त, बिन्दुसार और असोक—के सिक्के। यहाँ प्रत्येक राजा के केवल एक ही प्रकार के सिक्के दरशाये गये हैं, पर असोक ने कई दर्जन किस्म के सिक्के चलाये थे, क्योंकि उसके लम्बे और शान्तिपूर्ण शासनकाल में अनेक टकसालों में सिक्के बनते रहे। किन्तु चन्द्रगुप्त के बाद मौर्यों के चाँदी के सिक्कों में ताँबे की मात्रा एकाएक बढ़ गयी और तौल में भी न्यूनाधिकता देखने को मिलती है, जो आदिम मुद्रा-स्फीति तथा प्रचलित मुद्रा पर दबाव की परिचायक है।

जाती है, ऐसे किसी संगठित चर्च की सृष्टि नहीं की जो राज्य से सम्बन्धित हो, न ही दूसरे भारतीय धर्मों को खत्म किया, जैसाकि राजकीय ईसाई धर्म ने रोमन साम्राज्य से मूर्तिपूजक विधर्मियों को खत्म कर दिया था। इसके विपरीत, असोक तथा उसके उत्तराधिकारियों ने ब्राह्मणों और जैनों तथा आजीवकों को भी उदारतापूर्वक दान-दक्षिणा दी। महान् असोक अपने राज्य के सम्मानित वयोवृद्धों से भेंट करता था, राज्य के दौरे पर निकलता तो ब्राह्मणों तथा श्रमणों से वार्तालाप करता और हर धर्म-जाति के व्यक्तियों की धन तथा उपहारों से सहायता करता। बुनियादी तौर पर यह परिवर्तन उतना धार्मिक नहीं था जितना कि एक भारतीय राजा द्वारा अपनी प्रजा के प्रति पहली बार प्रकट किये गये दृष्टिकोण के बारे में था, "जो कुछ पराक्रम मैं करता हूँ वह इसलिए कि प्राणियों के प्रति मेरा जो ऋण है उससे उऋण हो जाऊँ।"[१] राजत्व का यह अद्भुत आदर्श नया ही नहीं, प्रेरणादायक भी था, यह उस पूर्ववर्ती मगधीय राजतन्त्र के लिए सर्वथा विस्मयकारी था जिसमें राजा ही राज्य की परम सत्ता का प्रतीक

१ य च किंचि पराक्रमामि अहं किंति भूतानं आनंणं गछेयं
—गिरनार का षष्ठ शिलालेख

होता था। अथशास्त्र का राजा किसी का कर्जदार नहीं था, राज्य के लाभ के लिए शासन करना ही उसका एकमात्र काय था और कुशलता ही इसकी एकमात्र परम कसौटी थी। ईसा पूव छठी सदी के मगधीय धर्मों ने जिस सामाजिक दशन का प्रतिपादन किया था उसे अन्त मे, असोक के समय मे राजतन्त्र म भी प्रवेश मिल गया।

इसलिए असोक पर यह आरोप लगाया गया है कि उसन अपने आदेश (लेख) केवल बौद्धधम के प्रचार प्रसार के लिए खुदवाये है। पर यह विचार न्यायसगत नहीं है क्योकि उसने सभी धम-सम्प्रदायो को प्रकट रूप से सहायता दी—उन ब्राह्मणो को भी जिनके मिथ्याभिमान को बौद्धो ने चूर किया और जैनो तथा आजीवको के उन दो प्रमुख समानान्तर सम्प्रदायो को भी जिनसे सभी बौद्ध धार्मिक तीव्रता के साथ घृणा करते थे। किन्तु यह सच है कि सम्राट असोक स्वय को बौद्ध मानता था। बताया जाता है कि उसने बुद्ध की अस्थि धातुओ पर अनगिनत स्तूप बनवाये और बुद्ध के जीवन स सम्बन्धित पवित्र स्थलो पर दूसर स्मारक खडे किये। पुरातत्त्व द्वारा काफी हद तक इसकी पुष्टि हो चुकी है। उसने अपने स्तम्भ और शिलालेख तत्कालीन मुख्य व्यापारी मार्गो के महत्त्वपूण मिलन स्थलो पर अथवा नये प्रशासन-केन्द्रो के समीप खुदवाये। बुद्ध के जीवन से सम्बन्धित अधिकाश विशिष्ट स्थल भी पुराने उत्तरापथ पर ही थे, गगा की घाटी म तेजी से आबादी बढते जान के कारण उत्तरापथ के व्यापारी-माग का महत्त्व शन-शन घटता गया। बौद्ध सघ को सम्बोधित करते हुए असोक ने मतभेदो क निवारण के लिए एक विशेष लेख (भाब्रू शिलालेख) भी खुदवाया था इसम भिक्षुओ के लिए कोई विशेषाधिकार नहीं है, उनके अध्ययन और आचरण के लिए ही कुछ उत्तम सुझाव दिये गये हैं। जान पडता है कि तेजी से वद्धि होने के कारण और उच्चाश्रय मिलने के कारण सघ म कुछ शिथिलता आने लगी थी। यह परम्परा ऐतिहासिक जान पडती है कि असोक के शासनकाल म तृतीय बौद्ध सगीति का आयोजन हुआ था और उसने सभी पडोसी देशो—श्रीलका, मध्य एशिया और सम्भवत चीन—म धमदूत भेजे थे। बताया जाता है कि अपने प्राचीनतम रूप म पालि बौद्ध ग्रन्थो का सकलन बुद्ध निर्वाण के तुरन्त बाद हुआ था, परन्तु अधिक सम्भव यही प्रतीत होता है कि अपने वतमान रूप म ये असोक के समय मे अथवा उसके कुछ आगे-पीछे अस्तित्व म आये। अपने वतमान रूप मे ये बौद्ध ग्रन्थ श्रीलका बर्मा तथा थाईदेश मे सुरक्षित रहे।

असोक की राजाज्ञाओ का प्रयोजन केवल बौद्धधम के प्रति निजी आस्था प्रकट करना ही नहीं है क्योकि ये राज्य की बुनियादी नीति म आमूल परिवतन का सूचक हैं। इसके लिए पहला प्रमुख सबूत है वे सावजनिक निर्माण-काय (स्तूपो के अलावा भी) जिनसे राज्य को कोई आय नहीं होती थी। पाटलिपुत्र

कार्यों का उच्चायुक्त'। असोक के समय म इस पद का सही अथ था—'सम दष्टि का उच्चायुक्त'। समदष्टि, सहिताबद्ध कानून व सामान्य कानून क पर एक ऐसा सिद्धान्त है जिस पर कानून और न्याय दोनो ही आधारित माने जाते है। 'धम्म' शब्द का आरम्भिक अथ भी ठीक यही था और इसलिए मिनान्दर द्वारा धम्मक' के लिए प्रयुक्त यूनानी शब्द 'दिकाइओ बिल्कुल सही था। इन नय महामात्यो का एक काम यह था कि, कानून को माननेवाले सभी समुदायो एव सम्प्रदाया की शिकायतो की जाच करें और उन्हे न्याय दिलायें। साथ ही, ये महामात्य एसे सभी समुदाया एव सम्प्रदायो के मता और सिद्धान्तो की भी जाँच पडताल करते थे। राजा जब दौर पर निकलता तो वह स्वय भी यह सब देखता था। आदिम समूह-कानून को आदिम समूह धम से पथक नही किया जा सकता। अथशास्त्र के जनपद निवासी विशेषत ग्रामवासी, निश्चय ही आदिम अवस्था म थ। कृषि से सम्बन्धित कोई भी काय—हल जोतन स लेकर अन्त म ओसाई तक—शुरु करने के पहले अनुष्ठान किये जाते थे (आज भी किय जात हैं) और बहुत-सी प्रथाएँ अन्न सकलक समाज की विरासत थी। अत समस्या थी—इन सकीण और कभी-कभी परस्पर विरोधी विश्वासो को एक अन्न-उत्पादक बहत्तर समाज म किस प्रकार समायोजित किया जाये। बौद्धधम का लक्ष्य भी यही था परन्तु उमने यनकम तथा हर प्रकार की आनुष्ठानिक बलि की निन्दा की है जब कि अथशास्त्र ने यज्ञ की उपेक्षा की है और जनपद की विपदा—चाह सर्पों की चाहे मूपका की या महामारी की—से रक्षा करने के लिए जादू टोने का प्रयोग करने की सलाह दी है।

असोक ने सभी प्राणियो के वध पर प्रतिबन्ध नही लगाया, केवल कुछ विशिष्ट पशुओ और पक्षियो का वध ही वजित कर दिया था जिसका कारण अज्ञात है, पर सम्भव है कि टोटेममूलक रहा हो। गाय बल तथा वषभ आरक्षित नही थे, पर सडक (साँड) वृषभ का वध नही होता था। सडक का जहाँ चाहे चरने के लिए खुला छोड दिया जाता (जसा कि आज भी होता है) ताकि वह अच्छी नस्ल पदा करे, यद्यपि उसे पवित्र माना जाता था। असोक के समय म अभी गोमास, दूसरे किस्म क मास की भाँति ही खुले बाजार म और चौरस्तो पर बचा जाता था। सम्राट ने अपने महल म निरामिष भोजन का एक आदश स्थापित किया और राजा की पाकशाला स मास लगभग गायब हो गया। राज्यादेश द्वारा यज्ञ-बलि पर रोक लगा दी गयी और ऐस कुछ समाजो (उत्सव मेला या गोष्ठी) पर भी जिनम अत्यधिक मदिरापान और उन्मुक्त भोग विलास के साथ-साथ अपराध तथा दूसरे निन्दनीय काय भी होते थ। परन्तु यहाँ भी सम्राट ने स्वीकार किया कि कुछ समाज अच्छे होते हैं इसलिए आवश्यक हैं। पहले बताया जा चुका है कि ऐसा एक समाज—वसन्त का होली उत्सव—आज भी मनाया

जाता है, पर इसके अश्लीलतम लक्षण कानून व जनमत के कारण पीछे पड गये हैं। वन्य पशुओ को घेरकर मारने के उद्देश्य से अथवा भूमि साफ करने के लिए जगलो को जलाना सर्वथा वर्जित कर दिया गया था। यह कोई बौद्ध सनक नही थी बल्कि बस्तियो की रक्षा के लिए और प्राकृतिक सम्पदा को सुरक्षित रखने के लिए यह निषेध परमावश्यक था। ब्राह्मण धर्म के ग्रन्थ महाभारत के एक परवर्ती क्षेपक में भी यही निषेध मरणासन्न भीष्म के शब्दों में व्यक्त हुआ है—जगलो को जलाना महापाप है। इसी महाकाव्य के प्रतापी पाण्डव वीरो ने भगवान् कृष्ण की सहायता से इन्द्रप्रस्थ (दिल्ली) का खाण्डववन जलाकर साफ किया था, इसलिए इस प्रसग मे भीष्म का यह उपदेश बडा बेमेल जान पडता है। इसका वास्तविक अर्थ यह है कि प्राचीन वैदिक आर्य जीवन-पद्धति पूर्ण रूप से नष्ट हो चुकी थी, समाज अन्न सकलन की अवस्था को पार करके अब पूर्ण रूप से अन्न-उत्पादन की अवस्था मे पहुँच चुका था, इसलिए पशुचारी जीवन की कठोर प्रथाओ की अब कोई उपयोगिता नही थी। धर्म महामात्यो को विशेष आदेश था कि वह कारागार मे पडे हुए अपराधियो की खैरियत की देखभाल करें। बहुत-से बन्दी जिन्हें पूरी सजा भुगतने के बाद भी कारावास मे रखा गया था, मुक्त कर दिये गये। जिन बन्दियो के जाति-कुटुम्बवाले निराश्रित थे, उन्हें मदद पहुँचाने का नये आयुक्तो (रज्जुको) को आदेश दिया गया। कारागार मे पडे हुए जिन बन्दियो को मृत्युदण्ड सुनाया गया हो उन्हे अपने जाति-कुटुम्ब वालो से मिलने के लिए तीन दिन की मुहलत दी जाती थी, पर प्राणदण्ड की व्यवस्था को खत्म नहीं किया गया था।

असोक की राजाज्ञाएँ राजा की निरकुशता पर पहली बार प्रतिबन्ध लगाती हैं ये पहली बार नागरिको को स्वत्वाधिकार प्रदान करती हैं। यह इसीसे प्रमाणित है कि राज्याधिकारियो को यह आदेश था कि वह इन राजाज्ञाओ को साल में कम-से-कम तीन बार विशाल जनसमूह के सामने पढें और इन्हे सावधानी से समझायें। अब सक्षेप मे विचारणीय प्रश्न है इस असाधारण परिवर्तन की क्या आवश्यकता पडी?

असोक का सुधार-कार्य इस तथ्य का एक बढिया उदाहरण है कि मात्रा परिवर्तन के साथ-साथ अन्त में गुण परिवर्तन भी होता है। गृहस्थो कृषको तथा कारीगरो की तादाद मे और जनपदो के विस्तार मे इतनी अधिक वृद्धि हो गयी थी कि भू राजस्व का नियोजन करनेवाला रज्जुक लाखो इन्सानो पर उसी प्रकार पूर्णाधिकार से शासन करने लगा था जैसे कि अगरेजो के जमाने मे जिले का कलक्टर करता था। जनपदो की सीमाओं मे अब अधिक अन्तर नही रह गया था न ही व्यापार-मार्ग अब जगलो से गुजरनेवाली चन्द सँकरी पगडण्डियाँ मात्र थे। आटविक पहल से कम रह गये थे और अब उनसे कोई बडा खतरा नहीं था,

सिर्फ उपद्रव ही मचाते थे। असोक ने उनके पास भी धम्मदूत भेजे थे। अनेक साहसी व्यक्तियो ने जगलो मे जाकर वहाँ भूखण्ड साफ किये थे और उन पर खेती शुरू कर दी थी, ऐसे भूखण्डो का समावेश न राष्ट्र भूमि मे किया जा सकता था, न ही सीता भूमि मे। मगध की शक्तिशाली सेना अब अनावश्यक होती जा रही थी और उसे पहले के स्तर पर बनाये रखना अत्यन्त खर्चीला काम था। असोक ने स्पष्ट ही कहा है कि 'धर्मानुशासन लागू होने के बाद से सेना का इस्तेमाल केवल कवायद और प्रदर्शन के लिए होता है।

देश नितान्त भिन्न सरचनावाले तीन प्रमुख भागो मे बँटा हुआ था साम्राज्य का पश्चिमी प्रदेश तथा पजाब बाहरी आक्रमण के लिए खुला था, इस लिए वहाँ एक या अधिक स्थानीय सेनाध्यक्षो के मातहत सजग सेना रखना जरूरी था। स्थानीय सेनाध्यक्ष को यह प्रलोभन हो सकता था कि वह स्वय को राजा घोषित कर दे, अथवा यूनानी, शक और दूसरे मध्य एशियाई उसे भगा भी दे सकते थे। असोक के लगभग पचास साल बाद ये दोनो प्रकार की घटनाएँ घटित हुइ। राज्य के दूसरे भाग, गागेय प्रदेश मे, तब तक सेना की जरूरत न थी जब तक पजाब मे शत्रु जमा न हुए हो। यह प्रदेश अब भी काफी सम्पन्न और समृद्ध था। लेकिन धातुओ पर राज्य का एकाधिकार धीरे धीरे खत्म हो रहा था। बिहार मे ताबे की खानें जल-स्तर तक पहुँच चुकी थी, पर पम्प नही थे। लोहे की माँग इतनी अधिक बढ गयी थी कि मगध से उसकी पूर्ति सम्भव नही थी। मगधीय आक्रमण के काफी पहले, उत्तर के निजी उद्यमियो ने, दक्खन में लोहे के नये स्रोतो की खोज करके कुछ हद तक उनका विकास किया था (जसाकि बावरी जातक से पता चलता है)। सिकदर के सौ साल अथवा इससे भी पहले भारतीय इस्पात से बननेवाले सर्वोत्तम खड्ग हखामनि दरबार तक म पहुँचते थे। धातुकर्म के इस श्रेष्ठ उत्पादन की निरन्तर बढती माँग को सर्वोत्तम कोटि के खनिजो के छोटे छोटे भण्डारो मे निकालकर ही पूरा किया जा सकता था। ऐसे खनिज भण्डार आन्ध्र व कर्णाटक के जगलो मे बिखरे हुए थे, परन्तु इन क्षेत्रो मे खनिजो की खोज करनेवालो पर अपना कठोर अनुशासन-तन्त्र स्थापित करना मगध के लिए बडा व्ययसाध्य था। राज्य का यह तीसरा भाग दक्खन, उसी प्रकार आबाद करना सम्भव नही था जैसे कि मगधीय सीता-क्षेत्र, क्योंकि यहा बढिया मिट्टीवाले भूखण्ड दूर दूर बिखरे हुए थे और यहाँ की मिट्टी मगधीय मिट्टी से एकदम भिन्न थी। मगधीय साम्राज्य के इस तीसरे भाग के भावी विकास का अर्थ था स्थानीय आबादी, स्थानीय भाषाओ तथा स्थानीय राज्यो का नूतन विकास। असोक के समय मे समस्त भारतभूमि का जो भाग उसके राज्य के अन्तर्गत नही था वहाँ किसी राजवशीय सत्ता का अस्तित्व नही था, वहाँ केवल वन्य अथवा अर्धवन्य कबीले ही थे। उसके शिलालेखो मे राज्य को

कहता है कि मौर्यों ने धनार्जन के लिए ऐसी पूजा विधियों का आविष्कार किया था। अन्त में राजकीय ऋण और राजकीय कर्ज के स्थान पर अर्थशास्त्र *व्यापारियों के विरुद्ध विशेष उपायों का सुझाव* देता है। भलीभाँति वश कन्ल हुए गुप्तचर धनी व्यापारी को शराब पिलाकर नशे में धुत करेंगे, उसे लूटेंगे, उस पर अपराध का झूठा आरोप लगायेंगे, अथवा उसे मार भी डालेंगे। तदनन्तर उस व्यापारी की मालमत्ता को जब्त करके राजकोष में जमा कर दिया जायगा। गुप्तचरों को चाहे जितनी सावधानी से चुना जाता हो, यह स्पष्ट है कि इन घातक उपायों ने मानव-चरित्र को इतना अधिक प्रभावित किया होगा कि लोग अपने को असुरक्षित समझने लगे होंगे।

असोक के सार्वजनिक निर्माण-कार्यों से काफी अधिक धन चलन में आ गया था। उसके और उसके अधिकारियों के दौरों से परिवहन का बोझ हल्का होना था, क्योंकि स्थानीय अतिरिक्त उपज अपने-अपने क्षेत्र में ही खप जाती थी। प्रजा के प्रति नये दृष्टिकोण ने और व्यापारी मार्गों पर जुटाई गयी नयी सुविधाओं ने राज्य के लिए—उस राज्य के लिए, जो उस समय तक अधिकारी-तन्त्र द्वारा अधिकारी-तन्त्र के लिए चलाया गया था—एक सुदृढ़ वर्ग-आधार की स्थापना की। असोक के बाद राज्य ने एक नये कार्य को आगे बढ़ाने का जिम्मा लिया—विभिन्न वर्गों में समन्वय स्थापित करना। अर्थशास्त्र ने इसकी कल्पना भी नहीं की थी और असलियत यही है कि समाज के वर्गों का उदय एक प्रकार से उन छिद्रों से हुआ है जो भारतीय राजतन्त्र—व्यापक पैमाने पर भूमि की सफाई भूमि अधिवास तथा अत्यधिक नियन्त्रित व्यापारवाले राजतन्त्र—में पैदा हो गये थे। समन्वय के इस कार्य के लिए विशेष अस्त्र था—नये अर्थ वाला सार्वभौमिक धम्म। नवोदित धर्म ने राजा और नागरिक के आपसी मेल मिलाप के लिए पृष्ठभूमि तैयार की। आज भले ही यह सर्वोत्तम उपाय न प्रतीत हो पर उस समय वह तुरन्त कारगर सिद्ध हुआ। बल्कि यहाँ तक कहा जा सकता है कि असोक के समय से भारत के राष्ट्रीय चरित्र पर धम्म की छाप लग गयी। धम्म शब्द का अर्थ शीघ्र ही 'समदृष्टि' से बदलकर भिन्न हो गया, यानी 'धर्म हो गया—पर यह वह धर्म नहीं था जिसे स्वयं असोक ने खुले आम स्वीकार किया था। इसके बाद भारतीय संस्कृति के विकास की सबसे प्रमुख विशेषता यह रही कि इस पर किसी-न किसी धर्म का भ्रामक बाह्य आवरण सदैव चढ़ा रहा। यह सर्वथा उपयुक्त ही है कि भारत का वर्तमान राष्ट्रीय प्रतीक असोक के सारनाथ स्तम्भ के सिंहशीर्ष के अवशेषों के आधार पर बनाया गया है।

सातवाँ अध्याय

सामन्तवाद की ओर

७१ नया पुरोहित-वग

अशोक के सुधारो के साथ ही प्राचीन कबीलाई आर्यों के पुरोहित वग—ब्राह्मण जाति—का उत्परिवतन पूण हो गया। पुराने ब्राह्मणवाद का सुदढ आधार था—पजाब के कबीलो का पशुचारी जीवन और उनके निरन्तर के यज्ञ। इस आधार को सदा के लिए नष्ट कर दिया सवप्रथम सिकन्दर के विध्वसकारी हमले न और उसके तुरत बाद की मगध की विजय ने। मगध के कृषिकम, दशन और बौद्धो, जैनो तथा आजीवको के अहिंसावादी सम्प्रदायो ने गगा की घाटी म वैदिक कमकाण्ड के वास्तविक प्रसार पर रोक लगा दी थी, बस, ईसा पूव छठी सदी के सरलस्वभाव राजाओ ने ही कुछ यत्न किये थे। अथशास्त्र के रचयिता ने ब्राह्मण होने पर भी यज्ञ पर तनिक भी बल नही दिया है। यह बताया जा चुका है कि कृष्ण-पूजा का उत्थान पजाब म वैदिक कमकाण्ड के ह्रास का सूचक था। इस प्रकार, एक महत्वपूण वग को कबीलाई बधनो और परम्परागत वैदिक कमकाण्ड के कार्यों से पहली बार मुक्ति मिली। प्राचीन भारतीय समाज म ब्राह्मण-वग ही एक ऐसा समुदाय था जिसके लिए विधिवत् शिक्षा अनिवाय थी और उसकी अपनी एक बौद्धिक परम्परा रही। वेद, व्याकरण तथा कमकाण्ड पर अधिकार प्राप्त करने के लिए यह आवश्यक समझा जाता था कि शिष्य ब्रह्मचय का पालन करते हुए किसी एकान्त आश्रम म बारह साल तक किसी ब्राह्मण गुरु की सेवा मे रहे। पवित्र ग्रथो को एक भी अक्षर की, एक भी स्वराघात की भूल के बिना कण्ठस्थ करना पडता था, फिर भी वेदो को लिपिबद्ध नही किया गया था। मार्कर के गॉल प्रदेश के ड्रूइद भी इसी प्रकार रटते थे और शिक्षा प्राप्त करते थे पर भारतीय वदाभ्यासियो की बौद्धिक उपलब्धि का स्तर अधिक ऊँचा था।

असोक तथा उसके उत्तराधिकारियो न अपने समय के अग्रगण्य ब्राह्मणो का आदर-सत्कार किया, तो इसका कारण यह था कि जाति-व्यवस्था शिक्षा व सस्कृति के क्षेत्र म, समाज म वग व्यवस्था बनाये रखने म, मूलत परस्पर विरोधी समूहो के एकीकरण एव वितयन म और सवसामायत खेतिहर समाज के विस्तार म योग देकर अपने नये महत्त्वपूर्ण मिशन को पूरा करने म जुटी हुई थी। इन सभी बातो पर विस्तारपूर्वक विचार करना जरूरी है।

सिद्धान्त रूप म वदिक बोली अपरिवतनीय बनी रही, पर जीवन्त भाषा के नाते सस्कृत म प्रान्तीय भेद स्पष्ट रूप स दृष्टिगोचर होने लग थे। *ब्राह्मण वयाकरणो की एक लम्बी परम्परा ने सस्कृत को नियमो म बाँधने का काम किया,* परन्तु महान पाणिनि न अपने सभी पूववर्तियो की स्मृति को मिटा दिया। पाणिनि की अष्टाध्यायी व्याकरण पर किसी भी भाषा म सम्भवत पहला वनानिक ग्रन्थ है। पाणिनि के उत्तराधिकारियो म सबसे प्रमुख ये पतजलि (ईसा पूव दूसरी सदी का पूर्वाद्ध), जिन्होने अष्टाध्यायी के सूत्रों पर अपना भाष्य लिखा और उसम सस्कृत भाषा के सिद्धान्तो का तकपूर्ण शैली म बडी स्पष्टता से विवेचन किया। तब से व्याकरण सस्कृत के अध्ययन का सबसे सन्तोषजनक विषय बन गया। पतजलि का सुस्पष्ट एव आकषक भाष्य सस्कृत गद्य का उत्कृष्टतम नमूना प्रस्तुत करता है। *हर शास्त्र के सभी मूलभूत सूत्रो का कण्ठस्थ* करने की प्रथा स सरल छन्दोबद्ध रचना को तो प्रोत्साहन मिला, पर गद्य का विकास रुक गया। पतजलि के बाद के दीर्घकाल म सस्कृत के ढाँचे म कोई मूलभूत परिवतन नहीं हुआ। तदपि, निरन्तर विकसित होती क्षेत्रीय जनभाषाओ का समय समय पर अशदान मिलने स सस्कृत के शब्दभण्डार एव वाक्प्रचार मे वृद्धि होती रही, इन जनभाषाओ का अपना स्वतन्त्र विकास होता रहा, पर इन पर सस्कृत का भी विशिष्ट प्रभाव था। ये मिश्रित भाषाएँ थी, क्योकि इनका उदय विभिन्न क्षेत्रीय मण्डियो म हुआ था। मगध की लोकभाषा लम्बे समय तक सारे देश का काम नही चला सकती थी क्योकि अन्न उत्पादन के कारण तेजी स बढती हुई जनसख्या म विविधता उत्पन्न हो रही थी और लोग उत्पादन के अन्य तरीको का इतना अधिक विकास कर चुके थे कि फलते फूलते व्यापार म भाग ले सकें। यह बात असम पर दृष्टि डालने से स्पष्ट हो जायगी असम की हर छोटी घाटी म एक अलग कबीलाई समूह है और हर समूह की अपनी एक विशिष्ट भाषा या प्रमुख बोली है। जब असोक ने अपने शिलालेख खुदवाये तो उस समय *भारत की सवसाधारण स्थिति कुछ इसी प्रकार की रही होगी।*

सस्कृत शीघ्र ही उच्चवग की विशेष बोली बन गयी, जिस शिक्षित लोग ही समझ पाते थे। इस भाषा म दी जानेवाली विधिवत शिक्षा पर ब्राह्मणो का ही अधिकार रहा। पहला लम्बा सस्कृत शिलालेख १५० ई० के आसपास गिरनार म

खाना गया। इसमे शकराज रुद्रदामन् बडे अभिमान से कहता है कि उसने उस (सुदर्शन) सरोवर का पुनरुद्धार किया जिसका निर्माण पहली बार चन्द्रगुप्त मौर्य ने करवाया था, साथ ही, यह अभिमान भी व्यक्त करता है कि संस्कृत भाषा पर उसका अधिकार है। इसका अर्थ यह है कि समृद्ध और शक्तिशाली विदेशी संस्कृत के जरिए अपने को भारतीय कुलीन-वर्ग मे स्थापित कर सकते थे—यद्यपि ईसा की चौथी सदी तक अभिलेखो मे आमतौर पर सरल प्राकृत का इस्तेमाल होता रहा। नासिक की बौद्ध गुफाओ के अतिसंस्कृतमय लेख विदेशी उत्पत्ति के शक दाताओ के हैं, जबकि स्वदेशी सातवाहन शासक अपने लेख अभी सरल प्राकृत मे ही खुदवाते थे। बहुमुखी प्रतिभा का धनी धारा नगरी का राजा भोज (लगभग १००० १०५५ ई०), जिसने संस्कृत मे विज्ञान ज्योतिष, स्थापत्य तथा काव्यशास्त्र पर ग्रन्थ लिखे और काव्य तथा नाटको की भी रचना की जान पड़ता है कि आदिवासी (नाग) राजकुमारी का पुत्र था, जिसका संस्कृत नाम शशिप्रभा था। कवि पद्मगुप्त परिमल द्वारा रचित नवसाहसाङ्कचरितम मे भोज के पिता सिंधुराज का राजकुमारी शशिप्रभा से प्रणय-सम्बन्ध और अन्त मे उससे विवाह का तो कम-से-कम वर्णन है ही। वैश्य, वस्तुत आर्य होते हुए भी, संस्कृत के अध्ययन से जल्दी ही विरत हो गये, जबकि भारतीय एवं विदेशी वंशो के क्षत्रिय संस्कृत साहित्य को समृद्ध करते रहे। चौथी सदी के बाद से शासन के लेख्यपत्रो मे प्राय संस्कृत का इस्तेमाल होता रहा। लिपिको की कायस्थ जाति की सहूलियत के लिए पत्रो, आदेशो, सूचनाओ न्याय-सम्बन्धी फैसलो आदि के आदर्श नमूने तैयार किये गये बाद मे रची गयी ऐसी कुछ पुस्तकें आज भी उपलब्ध हैं (लेखप्रकाश, लेखपद्धति)।

संस्कृत पर, जिसमे आशीर्लिङ् जैसे विलक्षण क्रियारूप हैं, पुरोहितो की भाषा होने की छाप सदैव लगी रही, इसमे आम व्यवहार के सामान्य भविष्यत काल तक का अभाव है। ब्राह्मण कर्मकाण्ड से ही बँधा रहा यद्यपि अब यह मात्र वैदिक कर्मकाण्ड नही था। इस क्षेत्र मे उसके एकमात्र प्रतिद्वन्द्वी थे आदिकालीन ओझा जिनका प्रभाव अपने-अपने कबीलो तक सीमित था। ब्राह्मणधर्म ने बहुत से कबीलाई पुरोहितो को भी उनकी अंधविश्वासी विद्या' सहित, आत्मसात कर लिया कभी-कभी किसी श्रेणी-जाति या कबीलाई जाति का भी पौरोहित्य ब्राह्मण स्वीकार कर लेता और उसमे अपने कर्मकाण्ड को भी मिला लेता, पर इस प्रक्रिया मे आदिम अनुष्ठानो की निकृष्ट प्रथाओ को त्याग देने अथवा निस्तेज बनाने की सदैव कोशिश की जाती। बौद्ध, जैन तथा दूसरे सम्प्रदायो के साधु सभी प्रकार के अनुष्ठानो का त्याग कर चुके थे, और वह जातकर्म अन्त्येष्टि, विवाह पुंसवन तथा उपनयन संस्कार विधियो मे पौरोहित्य नही कर सकते थे जैसे कि ब्राह्मण कर सकते थे, और किया है। केवल ब्राह्मण ही बीजारोपण के

मूखतापूण क्या न हो) निष्ठा—इन सबका भारतीय विनान पर बडा घातक प्रभाव पडा। प्राचीन भारतीय आयुर्वेद ने अनेक उपयोगी ओषधिया का सग्रह किया कई जडी बूटियो की जानकारी वनवासियो से मिली। अत्यन्त व्यावहारिक अरवो ने भी जो गेलन और अरस्तू से परिचित थे, रोग निदान स सम्बन्धित सस्कृत के एक ग्रन्थ को उपयोगी पाया और अरबी मे उसका अनुवाद किया। पर आज स्थिति यह है कि अनेक आयुर्वेदाचाय कई प्रकार की ऐंठना के लिए अनन्त नामक वनस्पति के इस्तमाल का सुझाव तो देते हैं, किन्तु इस बूटी की पहचान के बारे म वे एकमत नही हैं। विभिन्न प्रदेशो म इस सस्कृत नाम का सम्बन्ध कम से-कम चौदह किस्म की वनस्पतियो मे जोडा जाता है—साधारण तृणा स लेकर वडे वृक्षो तक, और लगता है कि इन सबके नुसखे लिखे जाते हैं। इसी प्रकार, ब्राह्मणो ने देश भर के पवित्र तीथस्थलो की और देश के बाहर बाकू व मिस्र तक के तीथस्थलो की लम्बी सूचियाँ तयार की थी। पर इनमे से अनेक स्थलो की पहचान कर पाना आज सम्भव नही है, क्योकि न तो यात्रा विवरण लिखे गये, न ही इन स्थलो की सही पहचान की सूचनाएँ मिलती हैं। प्राचीन भारत के घटना-स्थलो और लोगो के बारे म ऐतिहासिक विवरण प्राप्त करने के लिए कभी-कभी भग्नावशेषो की पहचान के लिए भी हम यूनानी भूगोलविदो अरब व्यापारियो और चीनी पयटको के विवरणो की शरण म जाना पडता है। इतनी उपयोगी स्रोत-सामग्री हम किसी भी भारतीय ग्रन्थ म नही मिलती।

तीव्र वृद्धि और दीघकालीन विघटन की जिस निराशाजनक कथा का यहाँ खाका प्रस्तुत किया गया है वह असोक के बाद की पन्द्रह सदियो की कथा है। अन्त म हालत यह हो गयी कि देहात का ब्राह्मण किसी सुदूर स्थान म जाकर वारह साल तक वेदाध्ययन करना तो दूर रहा, अक्षरज्ञान से भी वचित रहने लगा। परम्परागत जातिगत विशेषाधिकार कभी स्वेच्छा से त्यागे नही गये, कभी कभी तो ब्राह्मण कर देने की वजाय अनशन करके प्राण त्यागने को तयार हो जाता था। इक्के दुक्के जाली ताम्रपत्रो स भी यही जाहिर होता है कि उच्च-कुलीन महामना ब्राह्मण उस जमाने को बहुत पीछे छोड चुका था जब एरियन जसे आश्चयचकित विदेशी कह उठते थे कि पर वास्तव म, किसी भारतीय को झूठ बोलते नही देखा गया।' किन्तु ब्राह्मणवाद की प्रत्यक्ष पराजय, दरअसल असहाय नीरस प्राय आत्मनिभर एव स्वत पूण तथा निरस्त्र देहात की पूण विजय थी जिसे चाणक्य न राज्य की शक्ति और राजकोश के उत्पादक आधार के रूप म चुना था। जसाकि पहले कहा जा चुका है अन्धविश्वासो की असीमित वृद्धि स भी यह जाहिर था कि, समाज के नियन्त्रण म धम को प्रभावकारी बनाने के लिए शासक-वग को भी कई बन्धनो और औपचारिक प्रथाओ को स्वीकार करना पडा। सस्कृति की प्रगति के लिए आपसी मेल-जोल और विचारो के

आगान प्रदान की आवश्यकता होती है और अन्तत ये दोना ही बातें वस्तुओ के लेन देन की तीव्रता—पण्य उत्पादन—पर निभर करती हैं। आबादी के साथ भारतीय उत्पादन बढा है पर यह पण्य-उत्पादन नही था। गाँव अधिकतर अपनी उपज से ही अपना काम चला लेते थे। जिन थोडी-सी वस्तुओ का लेन दन होता था वे भी भूमिकर, खिराज और करो के रूप मे सामन्त-स्वामी अथवा आयकर अधिकारी—दोना प्राय एक ही व्यक्ति होते थे—के हाथा मे पहुँच जाती थी। ग्राम्य समाज के इसी अलगाव के कारण मध्ययुगीन भारत मे विभिन्न धर्मों तथा धार्मिक दशना का बेशुमार फलाव हुआ, पर बौद्धधम की तरह भारत के बाहर इसका प्रचार प्रसार नहीं हुआ—गौण अपवाद है तो केवल बृहत्तर मलेशिया।

७२ बौद्धधम का विकास

चीनी यात्री युवान च्वाङ सस्कृत और भारतीय बौद्धधम का विशिष्ट अध्ययन करने के उद्देश्य से ६३० ई० के तुरत बाद नालन्दा विहार के विद्यापीठ म पहुचा। वह लम्बा रास्ता तय करके रेगिस्तान व बफ से ढँके पवता का पार करता खोतान से गधार तक ऊँचे ऊँचे स्तूपा और समद्ध विहारा को देखता पजाब होकर राजगिर क समीप बौद्धधम की जन्मभूमि मे पहुँचा था। सम्मान्य विदेशी विद्वान होने के नाते नालन्दा विहार के प्रमुख आचाय शीलभद्र न उसका स्वागत किया। चीनी जीवनीकार ने युवान् च्वाङ के स्वागत के बारे मे लिखा है

उन्हें राजा बालादित्य के प्रकोष्ठ मे बुद्धभद्र क भवन की चौथी मजिल पर ठहराया गया। सात दिन तक अथिति-सत्कार करने के बाद धमपाल बोधिसत्व के भवन के उत्तर मे एक अतिथि-गह म उन्ह जगह दी गयी और उनकी दनन्दिन जरूरत की चीजो की मात्रा बन्ध दी गयी। उन्ह प्रतिदिन १२० ताम्बूल-पान २० सुपारिया २० जायफल एक औंस कपूर और एक 'शाड' महाशाल चावल मिलता था। इस चावल के दाने काली मूग की फली से भी बडे थे और पकाने पर उनम एसी सुगन्ध निकलती जसी अन्य किसी चावल म नही होती। यह चावल केवल मगध म ही पदा होता था अन्यत्र कही नहो। चूकि यह चावल केवल राजाओ और सदाचारी महापण्डित भिक्षुओ को ही दिया जाता था इसलिए इस महाशाल कहते थे। उन्ह हर महीने तीन तौ तल दिया जाता, और वह हर रोज चाहे जितन घी दूध का सेवन कर सकते थे। एक सेवक व एक ब्राह्मण उनकी परिचर्या के लिए नियुक्त था विहार के सामान्य कार्यो स उन्हें छूट मिली हुई थी, और बाहर निकलन पर सवारी के लिए उन्ह हाथी मिलता था। नालन्दा विद्यापीठ म कुल मिलाकर १०,००० आतिथय व अतिथि भिक्षु थे पर केवल दस व्यक्तियों को ही जिनम युवान् च्वाङ एक थे, मे सुविधाएँ प्राप्त थी। जहाँ भी वे गये उनका सवत्र इसी प्रकार

अतिथि-सत्कार हुआ।'

स्वय नालन्दा विहार के बारे मे जीवनीकार ने लिखा है

'एक के बाद एक छह राजाओ ने छह विहार बनवाय, फिर इटो का एक बाडा बनाया गया, इस प्रकार सभी भवनो को मिलाकर एक बडा विहार बन गया, जिसम सबके लिए एक प्रवेश द्वार था। कइ प्रकोष्ठ थे और वे आठ विभागो मे बँटे हुए थे। कीमती चबूतरे सितारो-जसे फल थ और सगयशव के मण्डपो के शिखर पवत-चोटियो जसे थे। मन्दिर इतना ऊँचा था कि कुहासे मे खो जाता था और उसके सभा-मण्डप बादलों स भी ऊपर दिखायी देते थ। उद्यानो म नीले जल की धाराएँ बहती थी, चन्दन के वृक्षो की बहार के बीच हर कमल चमकते थे और बाडे के बाहर एव आम्र कुज था। सभी प्रकोष्ठो मे भिक्षुओ के आवास-गह चार मजिल के थे। कडियाँ इन्द्रधनुष के सभी रगा से रँगी थी और उन पर पशुआ की आकृतियाँ उकेरी हुई थी। स्तम्भो को लाल व हरा रग दिया गया था। स्तम्भ व प्रवेश द्वार अनुपम अलकरण से उत्कीण थे। स्तम्भमूल ओपदार पत्थरो के थे और गहस्थूणाएँ चित्रो से सुशोभित थी। भारत म हजारो विहार हैं, पर वभव व भव्यता मे नालन्दा बेजोड है। वहाँ सदैव १०,००० भिक्षु, आतिथेय व अतिथि, निवास करते हैं। ये भिक्षु महायान और हीनयान की १८ शाखाओ के सिद्धान्तो का अध्ययन करत है साथ ही वेद व दूसरे पुराने लौकिक ग्रन्थो का भी अध्ययन करते है। वे व्याकरण चिकित्साशास्त्र और गणितशास्त्र का भी अध्ययन करते हैं। निर्वाह के लिए राजा की ओर से उन्ह १०० गाँवो का राजस्व मिला हुआ था, और प्रत्यक गाव मे २०० परिवार थे, जो उन्हे प्रतिदिन कई सौ 'तान्' चावल, घी और दूध लाकर देते थे। इस प्रकार, बिना भिक्षा माँगे ही विद्यार्थियो की चार आवश्यकताएँ (वस्त्र भोजन आवास और औषधि) पूरी हो जाती हैं। इसी अनुदान के कारण वे विद्या के क्षेत्र म आगे बढ पाये हैं।'

नालन्दा के ध्वसावशेषो से भी सिद्ध होता है कि इस विवरण मे कोई अतिशयोक्ति नही है, यद्यपि पुरातत्ववत्ता अभी एक भी विहार के क्रमिक विकास का सुनिश्चित ब्यौरा प्रस्तुत नही कर पाये है। उस युग मे भी सात मजिला के भवन होते थे और बुद्धगया का महाबोधि मन्दिर आज की १६० फुट की ऊचाई तक पहुच चुका था। भिक्षुओ की गतिविधियो के बारे म स्वय युवान्-च्वाड ने लिखा है

'विनय (लिउ), अभिधम (लुन) और सूत्र (किङ) बौद्ध पिटक ग्रन्थ है। जो इनम स एक वग की पुस्तका की पूण व्याख्या कर सके उसे कमदान से मुक्ति मिल जाती है। यदि वह दो वर्गों की व्याख्या कर सके,

तो उसे इसके अतिरिक्त ऊपर का आसन अथवा कक्ष मिलता है, जो तीन वर्गों की व्याख्या कर सके तो उसे देखभाल और आज्ञापालन के लिए कई सेवक मिलते हैं, जो चार वर्गों की व्याख्या कर सके उसे उपासक-सेवक मिलते हैं जो धमग्रन्था के पाँच वर्गों की व्याख्या कर सके उसे एक अनुरक्षक मिलता है। यदि कोई परिष्कृत भाषा, सूक्ष्म अन्वेषण गहन दृष्टि तथा अकाट्य तर्कों से सभा मे (शास्त्रार्थ म) विजय प्राप्त करता है तो उसे बहुमूल्य आभूषणा से सज्जित हाथी पर बिठाकर दल-बल के साथ (जुलूस मे) विहार के प्रवेश द्वार तक ले जाते हैं। इसके विपरीत, यदि कोई वाग्विवाद म परास्त हो जाता है, अथवा अनुपयुक्त तथा अपरिष्कृत शब्दावली का प्रयोग करता है अथवा तर्कशास्त्र के किसी नियम का उल्लघन करके तदनुरूप शब्दा का प्रयोग करता है तो वे उसके चेहरे को लाल व सफेद रंग मे विद्रूप बनाते हैं और उसके शरीर पर धूल व मिट्टी पोतते हैं, और फिर उसे किसी निजन स्थान में छोड आते हैं या किसी खड्ड में ढकेल देते हैं।'

स्पष्टत, यह बौद्धधम उस बौद्धधम से कोसा दूर था जिसका ईसा पूर्व छठी सदी म इसके सस्थापक ने मगध म प्रतिपादन किया था। ऐसे तपस्वी भिक्षु अब भाष जानेगं पर यात्रा करते, खुले म सोते, बचे खुचे अन्न की भिक्षा ग्रहण करके उदर निर्वाह करते और लोकभाषा म ग्रामवासियो या आटविको को उपदेश देते, पर उनकी सख्या व प्रतिष्ठा निरन्तर घटती जा रही थी। भिक्षु के लिए निर्धारित चीथडो से सिले हुए वस्त्रा के स्थान पर अब कीमती केसरिया रंग म रंगे बढिया सूती कपडे, उत्तम ऊन अथवा विदेशी रेशम के सुरुचिसम्पन्न वस्त्रा का इस्तेमाल होता था। लगता है कि यदि स्वय बुद्ध (जो अपनी अन्तिम पार्थिव यात्रा के दौरान नालन्दा ग्राम से गुजरे थ) उस भव्य सस्थान म, जो उनके नाम पर चलता था, पहुँचते तो उनकी खिल्ली उडायी जाती और उन्हें निकाल दिया जाता बशर्ते कि सयोगवश वह कोई अलौकिक चमत्कार दिखाकर अपने को साबित कर पाते। बुद्ध ने ऐसे चमत्कारो की हँसी उडायी थी, पर अब ये उस धम के अभिन्न अंग बन गये थे और अनेकानेक बुद्धो के अलौकिक चमत्कारो की कथाएँ भी फैल चुकी थी। अतिप्राचीन प्रजनन-अनुष्ठान कुछ परिष्कृत होकर, तन्त्रविद्या के रूप म पुन प्रचलित हुए, इन्होंने न केवल नये सम्प्रदायो को जन्म दिया बल्कि ये बौद्ध जैन व ब्राह्मण धम-कम म भी प्रविष्ट हुए। जिस प्रकार अपरिग्रह व सादगी के भिक्षु सघ के पूवकालीन नियम त्याग दिये गये थे, उसी प्रकार पद प्रतिष्ठा के बोलबाले के कारण पुरातन सिद्धान्त भी धुंधले पड गये थ। ऊपर उल्लिखित महायान बौद्धधम ने ईसा की दूसरी सदी म और उसके बाद से इस रमणीय जीवन को शारीरिक व मानसिक रूप से अंगीकार

कर लिया था। हीनयान (विभाजन के बाद महायानियो द्वारा दिया गया तिरस्कारसूचक नाम) ने वाह्य रूप म पूवकालिक सादगी को कुछ हद तक कायम रखा। उन्होंने एक निर्धारित सख्या म पालि धमग्र थो को भी सुरक्षित रखा जबकि महायानियो ने बौद्धग्र थो की सस्कृत मे मनमर्जी से रचना की पुनरचना भी की। तिब्बती व चीनी अनुवादो म जो महायानी बौद्धग्रन्थ उपलब्ध है उनस एक पूरा पुस्तकालय खडा हो सकता है, हालाकि असख्य ग्र थ अनूदित हुए बिना ही अपने सस्कृत मूल म नष्ट हो गये हैं। इन दोनो बौद्ध सम्प्रदाया का विहार-व्यवस्थाओ में नगण्य अन्तर था क्योकि हीनयानी विहारो को भी प्रचुर अनुदान मिलता था और कालान्तर म (जसाकि श्रीलका व बर्मा मे अवशिष्ट प्रथाओ के रूप मे देखने को मिलता है) प्रत्यक विहार का सचालन एक ही परिवार के अधिकार म रहने लगा, आवश्यकतानुसार विहाराध्यक्ष का पद अधिकार म रखने के लिए, उस परिवार का कोई तरुण प्रव्रज्या भी ग्रहण कर लेता था। फूट पडने के पहले भी भागे हुए दासो आटविको भागे हुए अपराधिया, सक्रामक रोगियो, कजदारो तथा आदिवासी नागा को सघ म प्रवश वर्जित था। सघ और राज्य के बीच समझौता हो गया था। परिणामत, नागरिक जीवन म जो स्थान चक्रवर्तिन का था उसी के अनुरूप धम के क्षेत्र म बुद्ध को दर्जा दिया गया।

आरम्भिक बौद्ध अनुशासन का एक प्रमुख पक्ष मानव शरीर के जुगुप्साकारी एव मलिन अगा पर बल देता है। भिक्षु के लिए यह आवश्यक था कि नियम पूवक अपने ही शरीर के घणित गुह्यागा पर बडी बारीकी से ध्यान केंद्रित करे। उसे हिदायत थी कि वह श्मशान मे काफी समय तक रहकर देखे कि गिद्ध सियार व कीडे आदमी के शव को किस प्रकार खाते हैं। पर उत्कृष्ट बौद्ध कला कृतियो को देखकर कोई भी अनुमान नहीं कर पायगा कि ऐसा भी होता था। अनगिनत मुकुटधारी बोधिसत्व, ऐश्वयशाली किन्तु अगा को प्रकट दिखानेवाले वस्त्र धारण की हुई स्त्रिया, और उनके रमणीय पुरुप सहचर गन्धार व भारहुत से लेकर अजन्ता व अमरावती तक बिखरे पडे है। इन वभवशाली भित्तिचित्रो और उच्चित्रो की एकरूप सगति को नष्ट करनवाला और भिक्षु का बुद्ध क उपदेश की याद दिलानवाला ऐसा कोई दृश्य नही जिसम किसी सडे हुए आध खाये शव को अथवा मवाद भरे घावावाले कुष्ठपीडित भिखारी को दिखाया गया हो। इस कला म उस अतिदरिद्र ग्रामवासी (पामर) के आम कष्टा का भी चित्रण नही है, जिसकी अतिरिक्त उपज तो भिक्षु हजम कर लेता था, पर जिसकी दरिद्रता की इस निष्ठुर सिद्धान्त के आधार पर उपेक्षा की जाती कि किसी पूवजन्म के कर्मों के कारण ही उसे अब कष्ट भोगन पडत हैं।

आरम्भिक पालि बौद्धग्र थो मे इन्द्र तथा ब्रह्मा को बुद्ध के उपदेशो का श्रद्धा

पूर्वक सुननेवाला के रूप में प्रस्तुत किया गया है। महायान ने अपने देवकुल में कई सार नये देवताओं का, जिनमें गणेश, शिव और विष्णु भी हैं, समावेश कर लिया, पर ये तमाम देवता बुद्ध के अधीनस्थ थे। इस समूह में कुछ विशिष्ट देवियाँ भी शामिल कर ली गयीं, उदाहरण के लिए, अनुपम सुन्दरी तारा और मातृदेवी हारीती, जो मूलत शिशुभक्षक राक्षसी थी। धर्मग्रन्थों में सर्पों व राक्षसों के भय निवारण के लिए जप जानेवाले मन्त्र-तन्त्र (धारणियों) का भी समावेश हो गया। साथ ही, नाग राक्षस अनेक विहारों का सम्मानित संरक्षक था। स्पष्ट बुद्ध इन सबसे ऊपर थे—अपने अलग व अगम्य स्वर्ग में विराजमान एक प्रकार के परमेश्वर। परन्तु पूर्वजन्म के बुद्धों की संख्या सीमा से परे पहुँचा दी गयी और इनमें एक मसीही बुद्ध मैत्रेय का भी समावेश कर दिया गया। कई लोकप्रिय कथाओं को ज्यों-की-त्यों बुद्ध के पूर्वजन्मों की कथाओं (जातकों) में बदल दिया गया, इन पूर्वजन्मों में उन्होंने बुद्धत्व के लिए अपने को क्रमश परिशुद्ध किया था। हर नये मत को और हर नये साधिक नियम को बुद्ध के बारे में नयी-नयी कथाएँ लिखकर उचित ठहराया गया। बुद्ध के पार्थिव शरीर के अवशेषों की सर्वत्र पूजा होने लगी और उनके आकार तथा उनकी मात्रा में इतनी अधिक वृद्धि हुई कि हाथी के झुण्ड से तुलना की जा सके। पर ब्राह्मण इस खेल में अधिक निपुण थे और उन्होंने अपनी निपुणता दिखायी भी। ब्राह्मणों ने जिन देवताओं के प्रतिष्ठापन के लिए पुराणों की रचना की व व्यापक रूप से पूजे जाते थे—किसानों से लेकर उन कबीलाई सरदारों तक जो राजपद प्राप्त कर चुके थे। एक सुप्रसिद्ध उदाहरण है कश्मीर के संरक्षक-नाग नीलमत का, जिसकी पूजा बौद्धधर्म के कारण अप्रचलित हो गयी थी पर ब्राह्मणों ने विशेष रूप से नीलमत पुराण की रचना करके इसे पुनर्स्थापित किया और इसके साथ-साथ अपने को भी। ईसाई धर्म अथवा इस्लाम की भाँति बौद्धधर्म कभी भी राजधर्म नहीं बना न ही इसने अपने प्रतिद्वन्द्वियों के दमन के लिए शासन-व्यवस्था का इस्तेमाल किया। आरम्भ से ही बौद्ध संघ में ब्राह्मण रहे हैं जिन्होंने जातिभेद को भले ही त्याग दिया हो, पर अपनी बौद्धिक परम्परा को कायम रखा। प्रचलित ब्राह्मण विचारधारा को (अनुष्ठान अथवा पूजा विधि को नहीं) प्राय मानकर चला जाता था जैसे कि ब्राह्मणों ने भी गोमांस खाना छोड़ दिया था और अहिंसा को अपना प्रमुख आदर्श स्वीकार कर लिया था। बौद्धों और ब्राह्मणों के दर्शनों के सारतत्त्व एक-दूसरे से मिलने लग गये थे। दोनों ही जगत की भौतिक वास्तविकता अस्वीकार करते हैं। स्पष्टत शंकर में अथवा उसके द्वारा खण्डन के लिए प्रस्तुत किये गये प्रतिद्वन्द्वियों के सिद्धान्तों में ऐसा कुछ भी नहीं है जिसे असोक अथवा उसका कोई पूर्ववर्ती बौद्धधर्म की मान्यता के रूप में पहचान पाता। आज तो यह जानने में भी कठिनाई होती है कि ठीक वाद विवाद

का विषय क्या था, क्योंकि उभय पक्षो के प्रतिपादना मे स्वरूप का भेद भले ही रहा हो, पर विषय वस्तु की दृष्टि से नगण्य अन्तर था। जहाँ तक व्यावहारिक रूप मे बौद्धधम के घटते प्रभाव का प्रश्न है, इस बात को ध्यान म रखना जरूरी है कि *असोक कलिंग के एक विनाशकारी युद्ध के बाद ही अहिंसावादी धम म* दीक्षित हो गया था। इसके विपरीत, कन्नोज का बौद्धधम परायण राजा हप शिलादित्य (६०५ ६५५ ई०) अधिकाश भारत को अपने अधीन करने के लिए कम-से-कम तीस साल तक लगातार लडाइयाँ लडता रहा। इसी प्रकार छँगीज खान (तेमूजिन) और उसके उत्तराधिकारी मगोल शासको ने अपने सनिक अभियानो से अधिकाश यूरशिया महाखण्ड मे इतना रक्तपात व विध्वस मचाया कि उनकी तुलना मे सिकन्दर का अभियान मामूली सीमावर्ती छापा प्रतीत होता है, फिर भी ये मगोल सम्राट भले बौद्ध माने गये। परन्तु किसी भी बौद्ध राजा ने धम की प्रतिष्ठा या प्रचार के लिए हत्या या जिहाद नही किया।

असोक ने जिस राज्याश्रय की शुरुआत की थी वह बारहवी सदी तक चालू रहा जब अन्त मे मुसलमानो ने उत्तर भारत के सभी बौद्ध विहारो को लूटा और नष्ट कर दिया। हिन्द-यवन शासक अगथोक्लीज ने अपने सिक्को पर बौद्ध प्रतीको को अकित कराया, जसे कि मिनान्दर ने 'धम्मक दिकाइओस' शब्दो को अकित कराया था। कुषाणो के साथ विपुल अनुदानो के एक नये युग की शुरुआत हुई और इनसे महायान को सुदृढ़ आधार प्राप्त हुआ, यह राजवश ईसा की चौथी सदी तक शासन करता रहा। किसी मुस्लिम-पूव राजा ने इन दोनो को निरस्त नही किया। मौर्यों के तुरन्त बाद के शासको ने ब्राह्मण धम को प्रश्रय दिया। प्रथम शुग शासक ने अश्वमेध यज्ञ किया। पर बौद्धधम पर इसका कोई प्रभाव नही पडा, जसा कि साँची के शुगकालीन सम्वर्धित स्मारको से प्रकट है। गुप्त शासको द्वारा ब्राह्मणो को दिये गये दानो के बारे मे जो ताम्रपत्र मिलते हैं उनमे ईसा की चौथी सदी से महाभारत के श्लोक प्रमुखता से उदधृत किये गये है, पर साथ ही बौद्ध विहारो का पुनरुद्धार किया गया और उनको दिये जाने वाले दान मे भी वद्धि हुई। बौद्धो पर पहली बार वास्तविक अत्याचार हुए ईसा की सातवी सदी के आरम्भकाल मे जब पश्चिमी बगाल के राजा नरेन्द्रगुप्त शशाक न गगा की घाटी मे दूर तक धावा बोला, अनेक बौद्ध मूर्तियो को नष्ट किया और गया के बोधिवक्ष को भी कटवा डाला। पर हप की दानशीलता से कुछ ही वर्षों के भीतर जल्दी ही सब-कुछ न केवल पहले-जसा हो गया बल्कि अधिक वैभवशाली हो गया। परन्तु बौद्धधम की अवनति और अस्थिर स्थिति उस समय ही दृष्टिगोचर होने लगी थी जब युवान्-च्वाड समृद्धिशाली नालन्दा मे अध्ययन कर रहा था। नालन्दा के विनाशकारी अन्त के बारे मे उसका दुस्वप्न ६५५ ई० के आसपास शब्दश फलित हुआ, जब हप की मत्यु के बाद वहाँ के विशाल

विहार को लूटकर नष्ट कर दिया गया। किन्तु अगली सदी में पाल शासकों ने मदद देकर इनकी आर्थिक दशा सुधार दी और अनेक नये विहारों की भी नींव डाली जिनमें एक नालन्दा के समीप का वह विशाल विहार भी था जिसके कारण पूरे प्रान्त का बाद में विहार नाम मिला। सेन शासकों ने जो निस्सन्देह आधुनिक अर्थ में हिन्दू राजा थे, दानप्रथा को जारी रखा और पालों द्वारा स्थापित विहारों की सम्पन्नों की लुटेरों से रक्षा करने के लिए उनकी किलेबन्दी भी की। इसका केवल यही परिणाम हुआ कि १२००ई० के आसपास मुट्ठी भर सिपाहियों को लेकर जब मुहम्मद बिन-बख्तियार खिलजी ने मगध व पश्चिमी बंगाल पर चढ़ाई की तो इन विहारों को लूटकर पूरी तरह नष्ट कर दिया गया। उसी समय सारनाथ के विहार और भव्य स्तूप, जो बुद्ध के प्रथम धर्म प्रवचन के स्थान पर और उनकी आनी पर्णकुटी के इर्द गिर्द खड़े किये गये थे, सदा के लिए ध्वस्त कर दिये गये, इस प्रकार, जो स्थल बुद्ध के पहले से भी निरन्तर तापसों को निवास भूमि व मिलन-स्थल रहा वह छिन्न भिन्न हो गया। हूणों के हमलों से, खूंखार पाशुपतों के हस्तक्षेपों से और धार्मिक फूट से सारनाथ सुरक्षित बचा रहा, और ११५० ई० के आसपास 'हिन्दू' राजा गोविन्दचन्द्र गाहड़वाल की 'बौद्ध' रानी ने कुछ ही समय पूर्व उसका पुनरुद्धार करके उसे और भी समृद्ध बनाया। ईसा की चौदहवीं सदी में कोरियावालों ने एक भारतीय भिक्षु को आमन्त्रित किया था पर वह भिक्षु उत्तर भारत के किसी चिरप्रतिष्ठित बौद्धस्थल से नहीं, बल्कि दक्षिण भारत से गया था जहाँ बौद्धधर्म चुपचाप विघटित हो रहा था। लोकायतों का अल्पसंख्यक अ-बौद्ध सम्प्रदाय और शाक्य देवदत्त के बौद्धसम अनुयायियों का सम्प्रदाय मगध में कम-से-कम ईसा की सातवीं सदी तक जीवित रहे। इन्हें किसी ने नष्ट नहीं किया, बल्कि ये स्वयं शान्तिपूर्वक विघटित हुए एक ऐसे देश

चित्र १५ एक ब्राह्मण को दिये गये भूमिदान से सम्बन्धित ताम्रपत्र पर उत्कीर्ण बौद्ध सम्राट हर्ष के हस्ताक्षर (बंसखेड़ा ताम्रशासन एपिग्राफिया इण्डिका खण्ड ४ पृष्ठ २१० के सामने)। वर्ष सम्भवतः ६२८ ई० था। हर्ष ने ताम्रपत्र पर स्याही में अपने हस्ताक्षर किये स्वहस्तो मम महाराजाधिराजश्रीहर्षस्य। फिर स्याही के इन अक्षरों को ताम्रपत्र में उकेरा गया।

में जहाँ अनेक परस्पर विरोधी मतों का सह-अस्तित्व तो सम्भव था पर जहाँ उनकी परम्पराओं और उनके सिद्धान्तों को लिपिबद्ध करके स्थायी रूप में सुरक्षित रखने की चिन्ता किसी को नहीं थी। हिन्दू धर्म के पुनरुद्धार का अथवा किसी राजा के बौद्ध या हिन्दू होने का सवाल ही निरर्थक है। अनेक लोगों ने,

राजा और प्रजा दोनो ने, अन्त समय तक परवर्ती ब्राह्मण कर्मकाण्ड को प्रश्रय दिया, जसे तसे शालीन बनाये गये प्रागतिहासिक देवताओ की पूजा भी की और साथ ही बौद्ध आजीवक व जैन सम्प्रदायो को उदारतापूर्वक दान भी दिया। कन्नौज का हर्ष, जिसके बारे म कोई सन्देह नही कि उसने बौद्धधर्म को प्रश्रय दिया और जिसने स्वय एक हत्यारे को निरस्त्र करके क्षमा कर दिया था ब्राह्मणो को दिये गये दानपत्रो मे, मध्ययुग के दूसरे राजाओ की भाँति अपने को 'परम माहेश्वर' घोषित करता है। इसके अलावा सूर्य उसका कुलदेवता था कुषाणों के साथ पुन ईरानी प्रभाव बढा तो सूर्य पूजा का अधिक प्रचलन हुआ और इसके साथ ही मग ब्राह्मणो का, जो सम्भवत मागी मूल के थे, एक नया सम्प्रदाय पैदा हुआ। हर्ष ने परमभट्टारक की उपाधि भी ग्रहण की थी। उसका एक सस्कृत नाटक नागानन्द, जिसके अभिनय म उसने आत्म-बलिदानी बौद्ध नायक की भूमिका अदा की थी शिव-पत्नी गौरी (श्वेतांगी पार्वती) को अत्यन्त भक्तिभाव से समर्पित है। इन सब बातो मे उसे कोई अन्तर्विरोध नजर नहीं आया न ही उन बौद्ध जैन आजीवक व अन्य सम्प्रदायो के साधुओ को जो ब्राह्मणो सहित हजारो की सख्या म गगा-यमुना के सगम-स्थल पर हर पाँचवे साल सम्राट से दान दक्षिणा ग्रहण करने के लिए एक महासम्मेलन म एकत्र होते थे। इस ग्रन्थ के प्रथम अध्याय म आधुनिक भारतीय चरित्र की जिन विसगतियो का जिक्र किया गया है वे युवान् च्वाङ के भारत आने के पूर्व ही उभरकर सामने आ चुकी थी।

फिर भी, लगता है कि गाँव की विजय की अपेक्षा इसम धन के भ्रष्टाचारी प्रभाव का अधिक हाथ रहा है। दरअसल असोक के काफी पहले से इस परिवर्तन की शुरुआत हो चुकी थी। बुद्ध निर्वाण के कोई सौ साल बाद, मगधराज काला सोक के शासनकाल मे वेसाली के भिक्षु अपने छोटे स्थानीय सघ के लिए न केवल दान स्वीकार करने लगे थे बल्कि धन भी माँगने लगे थे। इसस तत्कालीन दूसरे बौद्ध भिक्षु इनकी बुराई करने लगे। अन्त म वेसाली म भिक्षु यश की अध्यक्षता म उस समय के सर्वाधिक सम्मानित भिक्षुओ का एक सम्मेलन आयोजित किया गया जिसम इस नयी प्रथा को निन्दनीय ठहराकर इस पर रोक लगा दी गयी। भिक्षु भोजन तथा व्यक्तिगत उपयोग की आवश्यक वस्तुओ के अलावा अन्य कोई चीज ग्रहण नही कर सकते थे। इस नियम को इसके बाद विनय का अग बना दिया गया। इस स्पष्ट अनुशासन के बाद भी यदि हम सभी सम्प्रदायो के विहारो को दान दक्षिणा से समृद्ध हुआ दखते हैं तो इस परिवर्तन का निश्चय ही कोई शक्तिशाली कारण रहा होगा। इस बुनियादी कारण को खोजना सहज सम्भव है।

विहारो ने बुद्ध द्वारा समर्थित बताये जानेवाले चक्रवर्तिन राजा के एक कर्तव्य

का पालन किया, पर असोक ने इसकी परवाह न करके सडकें, विश्रामगृह अनाथाय और मनुष्या एव पशुआ के लिए चिकित्सालय बनवाये। विहारो मे जो सम्पत्ति सचित होती थी वह अक्सर पूँजी के रूप म उन आरम्भिक व्यापारिया तथा सार्थवाहा के बडे काम आती थी जो भारत के भीतरी क्षेत्रों मे पहुँचते थे। बाकी-जग अग्रगामी बाह्मण, जो अधिक-से अधिक कुछ मवेशी और चन्द शिष्या को लेकर जगल म पहुँच जाते थे, यह काम करने म असमथ थे। यह काम वे अग्रहार अधिवासी ब्राह्मण भी नही कर सकते थे जिन्हें राजा ऐसी अछूती भूमि पर बसाते जहाँ पहले हल की खेती न हुई हो पर जो क्षेत्र कृपि भूमि मे बदलने के लिए उपयुक्त हो। एक कारण यही है कि इन दो नितान्त भिन्न धर्मों का सह अस्तित्व, बिना किसी प्रकट सघप के, सातवी सदी तक उत्तर भारत मे और नौवी सदी तक दक्षिण म बना रहा। मेरी दृष्टि म यही मुख्य कारण है कि कई सदियो तक बौद्धधम का विकास होता रहा—उस समय से जब प्राचीन पशुचारी जीवन के यज्ञ, जिनके खिलाफ बौद्धो न जबरदस्त आवाज उठायी थी कृषिजन्य अन्न-उत्पादन के व्यापक फैलाव के कारण विलुप्त हो गये थे। मुख्यत इसी विशिष्ट अथवृत्ति के कारण बौद्धधम पडोसी देशा म भी फला इन देशो को अपने यहाँ चातुवण्य व्यवस्था स्थापित करने के लिए ब्राह्मणो को आमन्त्रित करने की कोई आवश्यकता महसूस नही हुई। ये देश वदिक यज्ञ से तनिक भी परिचित नही थे, और ये बौद्धधम के उन जटिल सूक्ष्म व प्राय दुर्बोध सिद्धान्तों का जिन्हे भारतीय, चीनी, तिब्बती तथा अन्य अनेक विश्रुत भिक्षुओ की लम्बी परम्परा ने परिश्रमपूवक कई भाषाओ म अनूदित किया, महज सिद्धान्त प्रेम के कारण नही ही अपनाते।

जानकारी मिलती है कि प्रारम्भ मे जो बौद्धधम प्रचारक चीन गये उनका स्थलमाग के व्यापारिया स सम्बन्ध था। बौद्ध विहारा की अथवृत्ति क बारे म जो सवसामान्य जानकारी मिलती है वह अशत चीनी उल्लेखा पर आधारित है और पश्चिमी दक्खन मे फले हुए गुफा विहारो के भग्नावशेषो के स्पष्ट किन्तु अब तक उपेक्षित पुरातात्त्विक प्रमाणो से इसकी पुष्टि होती है। चीन व भारत के ऐसे विहार उसी एक महासाधिक सम्प्रदाय (प्राक-महायानी विधान) के थे अथवा उन बौद्ध सम्प्रदायो के थे जो सिद्धान्त व आचरण मे इसके काफी निकट थे। चीनी उल्लेखो से सिद्ध होता है कि उनके महासाधिक विहारो ने चीन के भीतरी क्षेत्रो के शान्तिपूण विकास मे बडा योग दिया बौद्धधम ऐसे क्षेत्रो म शान्ति व अहिंसा का सन्देश लेकर पहुँचा। इन विवरणो से पुष्टि होती है कि विहारो के अपने उद्यान तथा खेत थे दासो व मजदूरों से खेती करायी जाती थी किसानो और व्यापारिया को उपज बेची जाती और कज दिया जाता और अकाल के समय उदारतापूवक दान भी दिया जाता था। बहुत-से अनुबन्ध और

कुछ विहारो के लेखे-जोखे आज भी उपलब्ध हैं। इस बात का स्पष्ट उल्लेख है कि इन मामलो मे जिस प्रथा का पालन किया गया वह भारत की महासाधिक प्रथा के अनुरूप थी। वास्तव म, जो चीनी यात्री गहन अध्ययन के लिए भारत आये वे उन्होंने विहारो के प्रशासन पर उतना ही ध्यान दिया जितना कि बौद्ध तीर्थों और पवित्र धर्मग्रन्थों पर। ई चिड, जो युवान-च्वाड् के सौ साल बाद भारत म आया विहारो के दैनन्दिन जीवन और स्वच्छता से सम्बन्धित छोटी छोटी बातो का भी उल्लेख करता है और रेशम के वस्त्र पहनने के औचित्य के बारे म भारतीय भिक्षुओं द्वारा प्रस्तुत किये गये थाथे किन्तु आकर्षक तर्कों का अपने विवरण म समर्थन करता है। चीन मे भी भिक्षा मांगकर जीविका चलानेवाले पुरानी परम्परा के भिक्षु थे परन्तु ऐसे भारतीय भिक्षुओं की तरह वे भी विलुप्त हो गये।

पश्चिमी भारत मे कार्ले का विहार महासाधिका का था, पर उसम दूसर सभी बौद्ध सम्प्रदाया के भिक्षुआ को भी प्रवेश मिलता था। इस विहार म प्रयुक्त धातु और लकडी की सभी चीजें सिवाय चत्य के गर्भगृह म स्थापित किसी समय रँगी हुई कडियो के, नष्ट हो गयी हैं। स्तम्भो और दीवारो का रग भी उड गया है। सम्भवत वेसाली के सुधार म अर्थ प्रेमी भिक्षुओं को दक्षिण की ओर चले जाने को विवश किया जहाँ उन पर राज्य के नियन्त्रण अथवा मगध की प्रथा की पाबन्दी नही थी। पर रेडियो-कार्बन की विधि से पता चलता है कि कार्ले की नींव असोक के पहले ही पड चुकी थी। यहाँ की प्रतिमाएँ सुन्दर तो हैं ही, विलासमय भी हैं, इनम घोडो व हाथियो पर सवार सुन्दर वस्त्र धारण किये हुए समृद्ध स्त्री-पुरुषो के आकर्षक जोडे हैं। भिक्षुओ के विहार मे ऐसी प्रतिमाए होने की उम्मीद शायद ही कोई रखे पर धनी व्यापारियो के लिए यही सब रुचिकर रहा होगा। शिल्पकारो को दूर दूर से खास तौर से आमन्त्रित किया गया होगा और प्रचुर धन देकर उनसे ये प्रतिमाएँ बनवायी गयी होगी। इसके अलावा, पूरे चत्य विहार के निर्माण म कुछ सदियो का समय लगा होगा, फिर भी, समूचे विन्यास मे एकरूपता है। इसका अर्थ है—योजना, अर्थव्यय और प्रबन्ध की निरन्तरता। बहुत-सी प्रतिमाओ, गुफाओ और स्तम्भो पर इनके दाताओ के जो नाम उत्कीर्ण हैं उनसे प्रकट होता है कि दूर-दूर के व्यापारियो और श्रेष्ठियो का इस स्थल से सम्बन्ध रहा है। फिर भी, ऐसे अन्य अनेक दाता थ जिन्होंने इस विहार को चलाने म और इसे पूरा करने मे योग दिया, इनके अलावा ऐसे बहुत-से छोटे मोटे अज्ञातनाम दाता थे जिनके दानो का कही कोई उल्लेख नही है। दाताओ म कुछ अधिकारी थे, तो कुछ चिकित्सक आदि। उस क्षेत्र के व्यापारी सघ (वनिय गाम) का नाम भी दाता के रूप म एक स्तम्भ पर अंकित है, पूरे मध्ययुग म इस सस्था का प्राधान्य रहा, पर मुस्लिम विजय के साथ एक नय प्रकार के व्यापारी का उदभव हुआ तो इसका महत्त्व घट गया।

ईसा की दूसरी सदी म जब आरम्भिक दाताओ के शक राजवश को सात ने समाप्त किया तो राजा और उसके राज्यपालो ने पूरे गाँव दान दिये ज पुष्टि की। पर कुछ दाताओ के नाम चौंकानेवाले हैं। कुछ विहारो मे ब ठठरा कुम्हारा आदि की श्रेणियो के नाम न केवल उदार दाताओ के रूप म अकित हैं बल्कि वे विहार को उन्हें प्राप्त उस धनराशि का ब्याज भी देते हैं जो एक राजकुमार ने न्यास निधि के रूप मे इस आशय से जमा की थी कि उसके ब्याज से विहार को सतत अनुदान मिलता रहे। इनके अलावा व्यक्तिगत दाता भी हैं लिपिक वद्य, लुहार, बढई, मछुआ का मुखिया, एक हलवाहे की पत्नी, एक गृहस्थ किसान की मा इत्यादि। यह आशा नहीं की जा सकती कि सामान्य भारतीय ग्रामीण जीवन के ऐसे शिल्पकार या कारीगर या मजदूर इतना पैसा कमायें कि कुछ महत्त्व का दान दे सकें। इसलिए वह समाज बडे पैमाने पर पण्य उत्पादन करनेवालो का रहा होगा, बाद मे दक्खन मे ही नहीं देश के दूसरे भागा में भी उतने बडे पैमाने पर पण्य-उत्पादन नही हुआ। जाहिर है कि गुफा विहारा के उस प्रदेश म अर्थशास्त्र की पद्धति की सीता भूमिया का और राजकीय उद्यमा का विकास सम्भव नहीं था, क्योंकि उनमे से अनेक विहार आज भी अविकसित जगलों म हैं जबकि उत्तर भारत के विहारा के भवना के स्थान पर अब खेती होती है। परन्तु दक्खन के सभी गुफा विहार ऐसे व्यापारी मार्गों पर स्थित हैं जो पश्चिमी नदीमुखा के बन्दरगाहो (कल्याण, ठाणा, चौल कुडा महाड) से ऊँचे दक्खनी कगार के दर्रों (घाटो) से होकर मदान तक पहुँचत हैं। नये अन्तिम पड़ाव-स्थल जुन्नर के इद गिद भी इसी प्रकार कम-से-कम १३५ बौद्ध गुफाएँ हैं, यहाँ जल्दी ही सातवाहना की दूसरी राजधानी स्थापित हुई थी।

यहाँ राजाओ के धम-परिवतन का कोई सवाल ही नही था क्योकि आरम्भिक गुफा विहारा की स्थापना के समय दक्खन मे कोई राजा थे ही नही। जुन्नर के ३० किलोमीटर पश्चिम मे नाणेघाट के महत्त्वपूण दर्रे के पास जो आधिकारिक (विहारिक नहीं) गुफाएँ हैं उनमे सातवाहन राजाओ द्वारा यज्ञ-दक्षिणा के रूप म ब्राह्मणो को दिये गये अनेकानेक दानो का विस्तृत विवरण अकित है हजारा की सख्या म मवेशी हाथी रथ, घोडे सिक्के, इत्यादि। इस यज्ञ के अलावा लेखों मे सातवाहनो द्वारा कृष्ण और उसके बलशाली हलधर भाई बलराम-सकर्षण की पूजा का विशेष रूप मे उल्लेख किया गया है। अन्य शब्दो में, बावरी की परम्परा टिकी रही और उत्तर म विकसित ब्राह्मण धम ज्यो-का-त्यो दक्षिण म पहुच गया। बावजूद इसके, सातवाहन सभी गुफा विहारो को अनुदान देते रहे। भाजा की गुफा के प्रतिमा शिल्पा को देखकर जिनम द्वारपाल रक्षका की प्रतिमाएं विख्यात हैं यही लगता है कि इनका निर्माण मुख्यत राजकीय सहायता से हुआ है। परन्तु यहाँ के चत्य का मुहरा ढह चुका है और इसके साथ